व्याकरणचन्द्रोदय

चतुर्थ खण्ड

(स्त्रीप्रत्यय, सुबन्त, अव्यय)

श्री चारुदेव शास्त्री

मोतीलाल बनारसीदास

व्याकरणचन्द्रोदय

चतुर्थ खण्ड

(स्त्रीप्रत्यय, सुबन्त, अव्यय)

श्री चारुदेव शास्त्री
एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०

श्रीगान्धिचरित, अनुवादकला, प्रस्तावतरङ्गिणी, उपसर्गार्थचन्द्रिका,
वाक्यमुक्तावली, शब्दापशब्दविवेक आदि ग्रन्थों के निर्माता,
वाक्यपदीय (प्र० का०) के परिष्कर्ता तथा व्याकरण
महाभाष्य (नवाह्निक) के अनुवादक व विवरणकार

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

किंचिद्वक्तव्य

व्याकरणचन्द्रोदय का यह चतुर्थ खण्ड उपस्थित किया जा रहा है। इसमें स्त्रीप्रत्यय, सुबन्त तथा अव्ययों का सर्वाङ्गसम्पूर्ण व्याख्यान किया गया है।

विषयानुक्रमण में सिद्धान्तकौमुदी से कुछ भेद किया गया है। सिद्धान्त-कौमुदी में सुबन्त, अव्यय, स्त्रीप्रत्यय—ऐसा क्रम है। इसके विपरीत यहाँ स्त्री-प्रत्यय, सुबन्त, अव्यय—इस क्रम का आश्रयण किया गया है। यह क्रम हमें सूपपन्न प्रतीत होता है। सुप् प्रत्ययों का विधान आचार्य ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) इस अधिकार सूत्र से आरम्भ करते हैं। सुप्प्रत्यय ङ्यन्त, आबन्त, तथा प्रातिपदिक से परे आते हैं। पहले स्त्रीत्वविवक्षा होने पर ङी (ङीप्, ङीष्, ङीन्) तथा आप् (टाप्, डाप्, चाप्) आजाते हैं पीछे सुप्प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। वैसे भी पञ्चकः प्रातिपदिकार्थः इस पक्ष में प्रातिपदिक से जाति, द्रव्य, लिङ्ग, संख्या, कारक—इनका क्रम से बोध होता है। लिङ्गबोध अन्त-रङ्ग है, कारक बोध बहिरङ्ग, वाक्यस्थ क्रिया-सम्बन्ध से ज्ञापित होने से। सुप् प्रत्यय प्रातिपदिकार्थमात्र को भी कहते हैं और कर्मादि कारकों को भी। अतः सुपों का व्याख्यान स्त्रीप्रत्ययों के व्याख्यान के पश्चात् ही क्रम-प्राप्त है और ऐसा ही हमने किया है।

स्त्रीप्रत्ययों के निरूपण में भी यहाँ कुछ भेद किया गया है। कौमुदीकार ने स्त्रीप्रत्ययान्तों की निष्पत्ति (प्रयोगार्ह रूप की व्युत्पत्ति) दिखाने की इच्छा से स्त्रीविधायक सूत्रों को और स्त्री-प्रत्यय-सम्बन्धि-कार्य-विधायक सूत्रों को एकसाथ अविविक्त रूप से पढ़ा है। इसके विपरीत यहाँ स्त्रीप्रत्यय प्रकरण को दो भागों में विभक्त कर दिया है—(१) स्त्रीप्रत्ययविधि, (२) स्त्रीप्रत्यय-सम्बन्धि-कार्य-विधि। पहले भाग के सूत्र अष्टाध्यायी के चतुर्थाध्याय प्रथमपाद में पढ़े हैं और दूसरे भाग के सप्तमाध्याय तृतीय पाद में। पृथक्-पृथक् निरूपण से जो विषय-वैशद्य होता है, वह संकीर्ण पाठ से नहीं। सप्तमाध्याय के ये सूत्र स्त्रीप्रत्यय की उत्पत्ति के पश्चात् कुछ अतिरिक्त असार्वत्रिक कार्य विधान करते हैं। निःसन्देह उन को जुदा दिखाने से विषय अभिव्यक्ततर हो जाता है।

प्रक्रिया-प्राधान्य के होने पर भी एतत्प्रकरणस्थ सूत्रों, भाष्यस्थ श्लोक-वार्त्तिकों तथा प्रसङ्गागत परिभाषाओं की विशद हृदयङ्गम वर्णना की गई है। स्थान-स्थान पर गण-पठित शब्दों का अर्थ निर्दिष्ट किया है और यथासंभव उन्हें वाक्यों में ग्रथित भी किया है। स्त्रीप्रत्ययों में स्थली, स्थला, कवरी, कबरा, कुशी, कुशा, नागी, नागा आदि के अर्थों को सोदाहरण स्पष्ट किया है। अनेक शङ्काओं का यत्र तत्र समाधान किया है। पचमान, वक्ष्यमाण, पठिता में टिल्लक्षण ङीप् क्यों नहीं होता इसे शास्त्रयुक्ति द्वारा बताया है। पञ्च पुरुषाः, दश स्त्रियः, यहाँ न-लोप होने पर टाप् क्यों नहीं होता—इसका समाधान किया है।

स्मृतियों में पढ़े हुए विप्रा, नृपा आदि स्त्रीलिङ्ग शब्दो में जातिलक्षण ङीष् क्यों नहीं हुआ, इसका समाधान भी किया है।

क्तादल्पाख्यायाम् (४।३।५१) की व्याख्या में 'अभ्रविलिप्ती द्यौः। इस उदाहरण में 'वि' अल्पत्व का द्योतक है इसे सप्रमाण दिखाया है। दीक्षित ने उदाहरण में जो 'वि' का परित्याग किया है, वह अनुचित है इसे स्पष्ट किया है।

इस खण्ड का सुबन्त प्रकरण प्राधान्येन प्रक्रिया-ग्रन्थ है और हमने प्रक्रिया को उचित स्थान दिया है। परिनिष्ठित प्रयोगार्ह रूपावलि देने से पूर्व प्रत्येक शब्द की सविस्तर प्रक्रिया दी है। शब्द-रूप सिद्धि में तत्तत्सूत्र की प्रवृत्ति दिखाते हुए तत्तत्कार्य को यथाक्रम दिखाया है। सूत्रों का बाध्य-बाधक भाव, कार्यों का अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग-भाव विशद रूप से प्रकट किया है। परिभाषाओं की सिद्ध्युपयोगिनी प्रवृत्ति को भी यथास्थान दर्शाया है। और इनके वाच्यार्थ को स्पष्ट किया है। प्रक्रिया के मूलाधार सूत्रों की विद्वत्तोषणी व्याख्या की है। उदाहरण के तौर पर एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६।१।६९) की व्याख्या को देखिये।

रूपरचनापरिशीलन के लिये विपुल शब्दराशि संगृहीत की है। यह सङ्ग्रह इतना रुचिर है कि पढ़ते ही बनता है। ह्रस्व इकारान्त पुं० (पृ० ७०) तथा ह्रस्व इकारान्त स्त्री० (पृ० ७६) को ही पढ़िये और कहिये कैसा लगता है।

इस खण्डका तृतीय भाग अव्ययार्थनिरूपणात्मक है। अव्ययों का यह निरूपण ८१ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। अव्ययार्थ के यहाँ शतशः उदाहरण

दिये हैं। ये उदाहरण वैदिक लौकिक उभयविध साहित्य से लिये गए हैं। कहीं-कहीं स्वनिर्मित भी दिये हैं। इनमें अनेक ऐसे उदाहरण हैं जो उत्तम काव्य हैं, कवियों की प्रतिभा का विलास हैं, जो रचना सौन्दर्य तथा अर्थ-गाम्भीर्य के कारण अत्यन्त हृदयङ्गम हैं। इस सङ्ग्रह को साहित्य रत्नमञ्जूषा कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। इतना महान् संग्रह क्यों किया गया? इसलिये कि व्याकरण के अध्येता विद्यार्थी को शिष्टजुष्ट अनवद्य हृद्य वाक्यावलि का बोध और यथेष्ट प्रयोग-कौशल प्राप्त हो। हमारी यह दृढ़ धारणा है कि इस सङ्ग्रह के परिशीलन से विद्यार्थी को इष्ट वाक्यावलि के निर्माण में पूर्ण क्षमता हो जायगी, और यही इस प्रकरण का उद्देश्य है। हमारी इस समग्र कृति (खण्डचतुष्टय) का वाग्व्यवहार सिखाना प्रधान लक्ष्य है। प्रक्रिया इस साध्य में साधनमात्र है। व्यवहार उपकार्य है और प्रक्रिया उपकारक। उप-कार्योपकारकयोर्गुणप्रधानभावः प्रसिद्धः। शब्दज्ञानपूर्वके प्रयोगे धर्मः—यह हमारा निश्चित मत है।

आशा है ईश-कृपा से इस वर्ष (१९७२) की समाप्ति से पूर्व पञ्चम खंड प्रकाशित हो जायगा और इसके साथ व्याकरणचन्द्रोदय लगभग २००० पृष्ठों में परिसमाप्त हो जायगा।

यदि तनुरपि तोषो मत्कृतौ नूतनार्था-
ल्लसति हृदि बुधानां वाचि निष्ठां गतानाम्।
यदि च भवति बोधः सम्मतः शब्दशास्त्रे
सुमतियुतबहूनां स्यात्तदा धन्यता मे॥

सुरभि, ३/५४, रूपनगर,
दिल्ली—७.
२४।२।१९७२.

निवेदक
विद्वद्विधेय चारुदेवशास्त्री।

ओं नमः परमात्मने ।

नमो भगवते पाणिनये । नमः शिष्टेभ्यः ।

प्रकृत्यादिविभागेन शब्दानामनुशिष्यते ।
साधुत्वं येन तच्छास्त्रं वेद्यं व्याकरणाभिधम् ॥१॥

व्याक्रियन्ते पदानीह क्रियन्ते नूतनानि न ।
अन्वाख्यानस्मृतिस्तस्मादुक्ता व्याकरणं बुधैः ॥२॥

ऐतदात्म्यमिदं शास्त्रं प्रस्मृत्येदं निरर्गलाः ।
तं तमर्थं विवक्षन्तः शब्दान्नूत्नान्प्रकुर्वते ॥३॥

अर्थेऽर्थे प्रत्ययं शिष्ट्वा शिष्टैर्व्युत्पादितानुत ।
अर्थान्तरेऽननुज्ञाते शब्दान्वाऽमी प्रयुञ्जते ॥४॥

आसतां तावदन्ये येर्वाचीनाः साहसप्रियाः ।
भट्ट्याद्यैः सूरिभिश्चापि सम्प्रदायो न रक्षितः ॥५॥

तद्रक्षया प्रणुन्नोहं विनेयप्रणयेन च ।
व्याक्रियां लौकिकानां हि शब्दानां वक्तुमुद्यतः ॥६॥

सूत्राणां वार्तिकानां च सम्प्रदायनुरोधिनी ।
सोपपत्तिरसन्देहा व्याक्रिया प्रकृते स्थिता ॥७॥

पदानां प्रक्रिया लघ्वी बुद्धिवैशद्यकारिणी ।
शैक्षाणामुपकाराय प्रभूताय भविष्यति ॥८॥

इहस्थं वाक्यसन्दोहं दर्शं दर्शं बुभुत्सवः ।
प्रयोगनैपुणीं कां चिल्लप्स्यन्तेऽन्यत्र दुर्लभाम् ॥९॥

अज्ञानमन्यथाज्ञानं ज्ञानं सांशयिकं तथा ।
हरिष्यतीयं कृतिः कृत्स्नं तमश्चन्द्रोदयो यथा ॥१०॥

विषयानुक्रमणी

अथ

व्याकरणचन्द्रोदये

स्त्रीप्रत्यय-प्रकरणम् ।

स्त्रीप्रत्ययप्रकरण प्रारम्भ करने से पूर्व हमें यह विचार करना है कि स्त्रीत्व क्या पदार्थ है । लोक में **स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः**, स्तनकेशादि के बहुत्व अथवा उद्‌भूतता आदि को स्त्री का लिङ्ग (चिह्न) माना जाता है और रोमादि की अधिकता को पुमान् (पुरुष) का । पर इस व्यवस्था का शास्त्र में कुछ उपयोग नहीं, कुछ इष्टसिद्धि नहीं, प्रत्युत कार्यासिद्धि तथा अनिष्टार्थप्रसक्ति ही होती है । खट्वा माला आदि अचेतन पदार्थों में ऐसा स्त्रीत्व कुछ भी नहीं, अतः इनसे स्त्रीप्रत्यय की उत्पत्ति न हो सकेगी। लौकिक लिङ्ग का आश्रयण करने पर 'दारान्' यहाँ पुंस्त्व-निमित्तक शस् के 'स्' को 'न्' न हो सकेगा । त्रिलिङ्गी तट शब्द में स्त्रीत्व (व नपुंसकत्व) का निश्चय न होने से शास्त्रीय कार्य (अतोम्, जातिलक्षण ङीष्) भी न हो सकेगा । अतः लौकिक लिङ्ग का यहाँ शास्त्र में आश्रयण नहीं किया जा सकता । तो वैयाकरणों को कोई अपना सिद्धान्त स्थिर करना चाहिए जो शास्त्र-कार्योपयोगी हो । वार्तिककार आचार्य कात्यायन का कहना है— **संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्ततः**, अर्थात् हमें संस्त्यान और प्रसव लिङ्ग हैं ऐसा सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिए । लिङ्ग के इस लक्षण में **'स्थिति'** यह पद और जोड़ दिया जाता है । संस्त्यान आदि का क्या अर्थ है ? संस्त्यान भावसाधन संघातार्थक है । इससे तिरोभाव (अपचय) विवक्षित है और प्रसव से प्रवृत्ति (आविर्भाव=उपचय) । संस्त्यान स्त्रीत्व है और प्रसव पुमान् । आविर्भाव और तिरोभाव की अन्तराल अवस्था को स्थिति (= साम्यावस्था) कहते हैं और वही नपुंसकत्व है । भाव यह है कि सभी पदार्थ प्रवृत्तिमान् हैं, कोई भी क्षणभर के लिए भी अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं

है। नित्यपरिणामी साङ्ख्योक्त गुण—सत्त्व, रजस्, तमस् का अथवा इनके सूक्ष्म परिणाम-रूप शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध तन्मात्रों का जो आविर्भाव है वह पुंस्त्व है, जो तिरोभाव है वह स्त्रीत्व है और जो परिणाम-विशेष का परिग्रह न करते हुए परिणाम-मात्र है, वह स्थिति (साम्यावस्था) है और वही नपुंसकत्व है।

ऐसी व्यवस्था करने पर भी शास्त्रकार्य का सरलता से निर्वाह नहीं हो पाता। आविर्भाव आदि प्रत्यक्ष नहीं हैं, वे कैसे जाने जाएँ और उनके जाने बिना लिङ्ग का बोध कैसे हो ? विवश होकर विवक्षा का आश्रयण करना पड़ता है। आविर्भाव की विवक्षा में पुँल्लिङ्गता, तिरोभाव की विवक्षा में स्त्रीलिङ्गता मान ली जाती है। यह ठीक है कि विवक्षा **प्रायोक्त्री** नहीं मानी जाती है, **प्रायौगिकी** ही अभिमत है। सारांश यह है कि लोग (शिष्ट लोग) जिस पदार्थ में जिस आविर्भावादि लिङ्ग को देखकर (वस्तुगत्या वह वहाँ हो चाहे न हो, भले ही वह मरुमरीचिका में जल के आभास की तरह मिथ्या हो) पुँल्लिङ्ग आदि में शब्द प्रयोग करते हैं उसी को प्रमाण मान कर दूसरे लोग प्रवृत्त होते हैं। उसी के आधार पर लिङ्गानुशासन-कार भी लिङ्ग का अन्वाख्यान करते हैं।

इस धारणा के अनुसार लिङ्ग अर्थनिष्ठ ठहरता है, शब्दनिष्ठ नहीं। यह शब्द पुँल्लिङ्ग है ऐसा व्यवहार तो वाच्य-वाचक के अभेदोपचार से होता है।

पर एक ही अर्थ के वाचक नाना शब्दों के नाना लिङ्ग देखे जाते हैं—पुष्यः, तारका, नक्षत्रम्। इतना ही नहीं। शब्द के अवयव-भेद से भी लिङ्ग-भेद देखा जाता है—कुटी, कुटीरः। शमी, शमीरः। लिंग के अर्थ-गत होने पर शब्द-भेद के कारण लिंग-भेद क्यों हो। अर्थैक्य होने पर लिंगैक्य ही उपपन्न प्रतीत होता है। शब्द-भेद अकिञ्चित्कर होना चाहिए। इसका क्या समाधान होगा यह विचारणीय है। आपाततः लिंग की अर्थनिष्ठता का यह प्रवल विघटक हेतु प्रतीत होता है।

स्त्रीप्रत्यय प्रातिपदिक से आते हैं। **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (४।१।१) यह अधिकार पञ्चमाध्याय की परिसमाप्ति तक चलता है। स्त्रीप्रत्ययों के विधान में **स्त्रियाम्** (४।१।३) यह अधिकार चलता है। इसमें ङी और आप् का सम्बन्ध नहीं। अधिकार द्वारा विधान होने से। प्रत्येक स्त्रीप्रत्यय-विधायक

सूत्र में 'स्त्रियाम्' यह उपस्थित होगा। 'स्त्रियाम्' यह भावप्रधान निर्देश है। स्त्रियाम्=स्त्रीत्वे। प्रातिपदिक के साथ अन्वित होकर अर्थ होगा—**स्त्रियां यत्प्रातिपदिकं वर्तते तस्मात्**, अर्थात् प्रातिपदिक-वाच्य जो स्त्रीत्व उसके द्योत्य होने पर। भाव यह है कि स्त्रीत्व प्रत्ययार्थ नहीं, प्रत्यय से अभिधेय नहीं, प्रत्यय उसका द्योतक है, वाचक नहीं। बिना स्त्रीप्रत्यय के भी वाक्, मातृ, दुहितृ, स्वसृ, गो प्रभृति शब्दों से स्त्रीत्व का निर्बाध बोध होने से प्रत्यय की द्योतकता ही सिद्ध होती है। किं च। प्रत्यय की वाचकता होने पर **प्रकृति-प्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः** इस न्याय से कुमारी आदि शब्दों में प्रत्ययार्थ की प्रधानता होने पर शाब्द बोध में स्त्रीत्व अर्थ की प्रधानता भासेगी, पर ऐसा होता नहीं, स्त्रीत्वविशिष्ट-तादात्म्यावच्छिन्न कुमार अर्थ की ही सर्वत्र अस्खलित प्रतीति होती है। इतना ही नहीं। सूत्रकार को भी प्रत्यय की द्योतकता ही अभिमत है। **'कृदिकारादक्तिनः'**—यह ङीष्-विधायक गणसूत्र पढ़ा है। कृत्प्रत्यय-सम्बन्धी जो इकार तदन्त से ङीष् प्रत्यय विकल्प से होता है, पर वह क्तिन् का इकार न होना चाहिए ऐसा अर्थ है। यदि स्त्रीत्व प्रत्ययाभिधेय हो तो वह क्तिन् प्रत्यय से अभिहित हो चुका, तो ङीष् की प्राप्ति ही नहीं रहती। अभिहितार्थ का पुनर् अभिधान व्यर्थ होता है, अतः यह क्तिन्-पर्युदास व्यर्थ हो जाता है। स्त्रीत्व के प्रातिपदिक-वाच्य होने पर (प्रत्यय के द्योतक होने पर) 'अक्तिनः' यह पर्युदास सार्थक रहता है। टाप् आदि स्त्रीप्रत्यय द्योतक हैं यही निष्कर्ष है। **टाप् आदि प्रत्ययों के होने पर अवश्य स्त्रीत्व का बोध होता है, यह नियम है। टाप् आदि होने पर ही स्त्रीत्व का बोध हो, ऐसा नहीं।** यही द्योतकता का रहस्य है।

१—अज आदि (गणपठित) प्रातिपदिकों से तथा अदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व के द्योत्य होने पर टाप् प्रत्यय आता है[1]। सूत्र में अत् अधिकृत प्रातिपदिक का विशेषण है। विशेषण से तदन्तविधि होती है। 'अ' तपर किया है एकमात्रिक ह्रस्व 'अ' का ग्रहण हो इस लिये। टाप् में ट् और प् इत् हैं। टित्वविशिष्ट आप् विधान किया है, डाप्, चाप् का नहीं। अज—टाप्=**अजा**। दीर्घ एकादेश। खट्व—टाप्=**खट्वा**। धनिक—**धनिका**। कृत्रिम—**कृत्रिमा**। गत—**गता**। स्वभावज—**स्वभावजा**। ऋणिक—**ऋणिका** (ऋणी स्त्री)। मतिरागामिका ज्ञेया बुद्धिस्तत्कालदर्शिनी। यहाँ आगामी (कालः)

---

१. **अजाद्यतष्टाप्** (४।१।४)।

अस्या अस्तीति आगामिका। व्रीह्यादित्व होने से ठन्। ततः अदन्त होने से टाप्। यहाँ शङ्का होती है कि अज आदि भी तो अदन्त पढ़े हैं, इनका अदन्त-ग्रहण से ग्रहण हो जाता, पृथक् ग्रहण किसलिये किया? विध्यन्तर से प्राप्त ङीप् ङीष् के बाधन के लिये ऐसा किया है जो आगे स्पष्ट हो जायगा। अजादि-वाच्य स्त्रीत्व के द्योतन में टाप् विधान किया है, अतः 'पञ्चाजी' यहाँ टाप् नहीं हुआ। यहां स्त्रीत्व समासार्थ जो समाहार है, उसका वाच्य है, अज प्रातिपदिक का नहीं।

२—अश्व, एडक, चटक, मूषिक—ये गण-पठित हैं। इनसे जातिलक्षण ङीष् (जो आगे विधान किया जायगा) को बाध कर टाप् होता है—अश्वा, एडका (मेषी, भेड़ का बच्चा), चटका (चिड़िया), मूषिका (चूही)। मुष् से औणादिक किकन् प्रत्यय करके प्रकृति (धातु) को दीर्घ करके मूषिक शब्द व्युत्पन्न होता है अथवा माधव के अनुसार भ्वादि मूष् से क्वुन् (वु=अक) से मूषक शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है। दोनों अवस्थाओं में प्रकृत सूत्र से टाप् होगा। दूसरी अवस्था में प्रत्ययस्थ क् से पूर्व 'अ' को वक्ष्यमाण (८८) से 'इ' आदेश होगा। बाल, वत्स, होड, मन्द, विलात—ये भी गणपठित हैं। इन सब का वत्स (बच्चा) अर्थ है। इनसे वक्ष्यमाण (२६) से ङीप् प्राप्त होता है उसे बाधकर टाप् होगा—बाला। वत्सा। होडा। मन्दा। विलाता।

३—सम्, भस्त्रा, अजिन, शण, पिण्ड—इन पूर्वपदों के होते हुए उत्तर-पद 'फल' से टाप् प्रत्यय आता है[1]—सम्फला। भस्त्रफला। अजिनफला। शणफला। पिण्डफला। ये सब ओषधियों के नाम हैं। (वक्ष्यमाण पाक-कर्ण-पर्ण—सूत्र से जाति-लक्षण ङीष् प्राप्त था)। भस्त्रेव फलानि यस्याः सा भस्त्र-फला। ङ्यन्त तथा आबन्त पूर्वपद को बहुलतया ह्रस्व हो जाता है जब समुदाय संज्ञा हो।

४—सत, क्विन्प्रत्ययान्त अञ्च्, प्रान्त, शत, एक—इन के पूर्वपद होने पर 'पुष्प' से टाप् प्रत्यय आता है[2]—सत्पुष्पा। प्राक्पुष्पा। प्रत्यक्पुष्पा। काण्डपुष्पा। प्रान्तपुष्पा। शतपुष्पा (सौंफ)। एकपुष्पा। ये भी सब ओषधियों के नाम हैं। यहाँ भी वक्ष्यमाण पाक-कर्ण-पर्ण-सूत्र से ङीप् प्राप्त था।

५—शूद्र शब्द से टाप् आता है जब यह जातिवाचक हो और जब

---

१. संभस्त्राजिन-शण-पिण्डेभ्यः फलात् (वा०)।
२. सदच्-काण्ड-प्रान्त-शतैकेभ्यः पुष्पात् (वा०)।

इससे पूर्व महत् शब्द न हो[1]—**शूद्रा** (शूद्र जाति की स्त्री)। महत् शब्द पूर्व-पद होने पर तो जातिलक्षण ङीष् यथाप्राप्त होगा—**महाशूद्री** (आभीरी, अहीर जाति की स्त्री)। पुंयोग में भी ङीष् निर्बाध होगा—**महाशूद्रस्य स्त्री = महाशूद्री**।

क्रुञ्च्, उष्णिह्, देवविश्—ये गण में हलन्त पढ़े हैं इनसे टाप् की प्राप्ति नहीं थी। अब टाप् होकर **क्रुञ्चा, उष्णिहा, देवविशा** ऐसे रूप होंगे। आचार्य भागुरि के मत में हलन्त शब्दों से भी जो पहले ही स्त्रीलिङ्ग हैं, आप् (आ) प्रत्यय स्वार्थ में हो जाता है—**दिश्—दिशा। निश्—निशा। वाच्—वाचा। श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम्** (अथर्व० ६।२१।२)। यहाँ वीरुध् (प्रतानिनी, लता) से आप् हुआ है। भाष्य में क्रुञ्च् आदि को अदन्त भी स्वीकार किया है। क्रुञ्चानालभेत। उष्णिहककुभौ इत्यादि उदाहरण पढ़े हैं।

ज्येष्ठ, कनिष्ठ, मध्यम से पुंयोग में भी टाप् होगा अजादिगण में पाठ होने से—**ज्येष्ठस्य स्त्री ज्येष्ठा। कनिष्ठस्य स्त्री कनिष्ठा। मध्यमस्य स्त्री मध्यमा।**

कोकिल शब्द से जाति वाच्य होने पर भी टाप्—**कोकिला**।

६—नञ् पूर्वक 'मूल' से जातिवाच्य होने पर टाप्[2]—**अमूला** (ओषधि-विशेष)। अन्यत्र जातिलक्षण ङीष्—**शतमूली**।

सूत्र में अत् पढ़ा है, अतः आकारान्त प्रातिपदिक से टाप् नहीं होगा—विश्वपाः। गोपाः। ये विच्प्रत्ययान्त हैं। यदि यहाँ टाप् हो जाय तो 'सु' (प्रथमा एकवचन) का लोप हो जाय।

यहाँ पढ़े हुए 'अत्' की अनुवृत्ति सभी स्त्री प्रत्यय-विधायक सूत्रों में जायेगी। जहाँ प्रकृत्यन्तर-विशेष का ग्रहण करके प्रत्यय विधान किया है वहीं रुकेगी।

७—ऋदन्त (ह्रस्व ऋकारान्त) तथा नकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व में ङीप् (ई) प्रत्यय होता है[3]—कर्तृ—ङीप् (ई) = **कर्त्री** (ऋ को यण् = र्)। दण्डिन्—ङीप् (ई) = **दण्डिनी**। ङीप् पित् होने से अनुदात्त है। तदन्त विधि से 'सुपथिन्' से नान्तलक्षण ङीप् होगा—शोभनाः पन्थानोऽस्यां नगर्यां **सुपथी**

---

१. शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः (वा०)।

२. मूलान्नञः (वा०)।

३. ऋन्नेभ्यो ङीप् (४।१।५)।

नगरी। न पूजनात् (५।४।६९) से समासान्त निषेध। ङीप् आने पर भत्व के कारण टि-लोप। इसी प्रकार **अनृभुक्षी सेना**=अनिन्द्रा सेना, यहाँ भी। **ऋभुक्षिन्**=इन्द्र।

८—उगिदन्त, जिस शब्द का उक्=उ ऋ, लृ इत् हो तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व में ङीप् प्रत्यय होता है।[1] सूत्र में उगित् अधिकृत प्रातिपदिक का विशेषण है, और विशेषण से तदन्त-विधि होती है, अतः उगिदन्त प्रातिपदिक से, ऐसी वृत्ति हुई। उगित् से यहाँ प्रत्यय-मात्र का ग्रहण ही नहीं। 'भवतु' यह उगिदन्त प्रातिपदिक है। यहाँ भी ङीप् होता है—भवती। शत्रन्त भवत्, पचत्, दीव्यत्, तुदत् के उगिदन्त होने से ङीप् होता है—**भवन्ती**। **पचन्ती**। **दीव्यन्ती**। **तुदती**। **तुदन्ती**। इनमें उगित् शब्द प्रत्ययरूप है। अवर्णान्त अंग से परे नुम् (न्) आगम विकल्प से होता है शतृ प्रत्यय का अवयव परे रहते शी (सुप्-विभक्ति, औ, औट्) तथा नदी (स्त्रीप्रत्यय ङीप्, ङीष्, ङीन्) परे होने पर। शप् अथवा श्यन् के आने से तो यह आगम नित्य होता है। अतः तुद् श् (अ) अत् (शतृ)—यहाँ विकरण 'श' तथा प्रत्यय शतृ (अत्) को पर-रूप एकादेश होकर तुद त् इस अवस्था में ङीप् हो जाने पर विकल्प से नुम् होता है। **उखास्रत्**, **पर्णध्वत्**—यहाँ स्रंसु, ध्वंसु के उगित् होने पर भी ङीप् नहीं होता। क्विबन्त होने से प्रातिपदिक होने पर भी 'क्विबन्ता धातुत्वं न जहति' इस न्याय के अनुसार स्रत्, ध्वत् का धातुत्व अवस्थित रहता है। और यह नियम है कि धातु को यदि उगिन्निमित्तक कार्य हो तो अञ्च् को ही हो, धात्वन्तर को नहीं। अञ्च् से ङीप् होगा—**प्राची**। **प्रतीची**।

९—वन्नन्त(=वन्-प्रत्ययान्त)प्रातिपदिक से तथा वन्नन्तान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व में ङीप् प्रत्यय होता है और साथ ही 'र्' अन्तादेश होता है[2]। (७) से नकारान्त होने से ङीप् सिद्ध ही है, ङीप्संनियोग से रकार अन्तादेश विधान किया जा रहा है। वन् से यहाँ ङ्वनिप्, क्वनिप्, वनिप्—इन सबका का ग्रहण है। शङ्का—सूत्र में वन् प्रत्यय का ग्रहण है, तो वन्नन्त और वन्नन्तान्त से विधि कैसे हुई ? उत्तर—**प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्** ऐसी परिभाषा है। अर्थात् जहाँ प्रत्यय ग्रहण करके कोई विधान

---

१. उगितश्च (४।१।६)।
२. वनो र च (४।१।७)।

किया जाता है वहाँ ऐसे शब्दस्वरूप का ग्रहण जानना चाहिये जिसका आदि तो वह शब्द है जिससे परे वह प्रत्यय शास्त्र से विहित हुआ है और जिसका अन्त वह प्रत्यय स्वयं होता है। अर्थात प्रकृत्यादि-प्रत्ययान्त का ग्रहण होता है। अतः वन् से वन्नन्त का ग्रहण सिद्ध होता है। अधिकृत प्रातिपदिक का विशेषण होने से तदन्त- विधि से वन्नन्तान्त का भी ग्रहण होता है। धीवन् (प्र०एक०धीवा)—धीवरी। पीवन् (प्र०एक०पीवा)—पीवरी (मोटी)। शर्वन् (प्र० एक० शर्वा)—शर्वरी (रात, व्युत्पत्त्यर्थ—हिंसक, रात्रिञ्चर सत्त्वों द्वारा रात्रि को शर्वरी कहा गया)। वन्नन्तान्त से भी—अतिधीवरी (अतिधीवन्—ङीप्)। सुत्वरी (पुं० सुत्वा, सुञ्—ङ्वनिप्, जिसने सोम सम्पादन किया है)। अतिसुत्वन्—अतिसुत्वरी। पारदृश्वरी बुद्धिः। पारं दृष्टवती। यहाँ 'पार' कर्म के उपपद होने पर दृश् से क्वनिप् का विधान होने से वन्नन्त से ही ङीप् और र् हुए हैं। उत्तानशीवरी शिशुः, बच्ची जो ऊपर मुंह किये हुए सोती है। उत्तानशीवन्—उत्तान उपपद होने पर शीङ् से क्वनिप्। धीवन् शब्द को भाष्यकार ध्यै से क्वनिप् प्रत्यय करके सम्प्रसारण विधि से व्युत्पन्न मानते हैं। अन्य वैयाकरण धा से क्वनिप् प्रत्यय द्वारा इसकी व्युत्पत्ति समझते हैं। प्यैङ् वृद्धौ भ्वा० से औणादिक क्वनिप् और सम्प्रसारण करके 'पीवन्' शब्द सिद्ध होता है। शॄ क्र्या० से वनिप् प्रत्यय परे गुण होकर शर्वन् शब्द निष्पन्न होता है।

अवावरीं धीतिमिरस्य पीवरीं संसारसिन्धोः परमार्थदृश्वरीम्। सुधीवरीं सत्पुरुषार्थसम्पदां नमामि भक्त्या परया सरस्वतीम्॥ (लौ०गृ० सू० के आदि में देवपाल टीकाकार का मंगल श्लोक)।

१०—हशन्त (हश् (प्रत्याहारान्त) धातु से विहित जो वन् प्रत्यय, उसके विषय में ङीप् और र् नहीं होते, ऐसा वार्तिक पढ़ा है[1]—अवावा ब्राह्मणी। राजयुध्वा क्षत्रिया। ओणृ अपनयने से वन् (वनिप्)करके ओण् के अनुनासिक को आत्व करके अवादेश किये जाने पर अवावन् शब्द सिद्ध होता है। यहां हशन्त ओण् (ण् हश् प्रत्याहारान्तर्गत है) से वन् विहित हुआ है। अतः ङीप् के अभाव में तत्संनियोग-शिष्ट र् अन्तादेश भी नहीं हुआ। राजयुध्वा में राजन् कर्म उपपद होने पर युध् धातु से क्वनिप् होता है। युध् हशन्त है,

---

१. वनो न हश इति वक्तव्यम् (वा०)।

अतः ङीप् और र् नहीं हुए। राजानं योधितवती राजयुध्वा क्षत्रिया। यह निषेध प्रायिक है ऐसा न्यासकारादि मानते हैं, अतः 'अवावरी' प्रयोग भी साधु है।

११—उपधालोपी अन्नन्त बहुव्रीहि के विषय में ङीप् और रकार अन्तादेश विकल्प से होते हैं[1]—बहवो धीवानोऽस्यां नगर्याम् इति बहुधीवरी। पक्षे बहुधीवा (पाक्षिक डाप्)।

१२—पात्-शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व में ङीप् विकल्प से होता है।[2] 'पात्' यह समासान्त (प्रकृत में अन्त्य 'अ' का लोप) किये जाने पर 'पाद' शब्द का रूप है। सुपात्। द्विपात्। चतुष्पात्। पक्ष में ङीप् होने पर पूर्व की 'भ'-संज्ञा होने से पादः पत् (६।४।१३०) से पाद् के स्थान में 'पद्' आदेश होने पर द्विपदी, चतुष्पदी ऐसे रूप होते हैं।

१३—पादन्त प्रातिपदिक से टाप् नहीं होता जब ऋक् वाच्य हो[3]—द्विपदा ऋक्। त्रिपदा ऋक्। द्वौ पादौ चरणावस्याः, त्रयः पादाश्चरणा अस्या इति।

१४—षट्-संज्ञक तथा स्वसृ आदि शब्दों से स्त्रीत्व-विवक्षा में जो भी स्त्रीप्रत्यय प्राप्त होता है उसका शास्त्रकार निषेध करते हैं।[4] षकारान्त, नकारान्त संख्यावाचक शब्दों की षट् संज्ञा की है। स्वसृ, दुहितृ, ननान्दृ, यातृ, मातृ, तिसृ, चतसृ—ये स्वसृ आदि ७ शब्द परिगणित किये हैं। स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा। याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः॥ ननान्दृ=ननद। यातृ=देवरानी, जेठानी। पञ्चन्—पञ्च पुरुषाः। षट् स्त्रियः। दश पुरुषाः। दश स्त्रियः। पञ्चन् आदि में नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) से नलोप होने पर पञ्च, दश से (१) से टाप् क्यों नहीं होता? उत्तर—नलोपः सुप्स्वर-संज्ञा-तुग्विधिषु कृति (८।२।२।) से संज्ञाविधि के प्रति न-लोप असिद्ध होता है, जिससे नान्तता बनी रहने से षट्-संज्ञा अवस्थित रहती है

---

१. अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम् (४।१।२८)।

२. पादोऽन्यतरस्याम् (४।१।८)।

३. टाबृचि (४।१।९)।

४. न षट्स्वस्रादिभ्यः (४।१।१०)।

और प्रकृत निषेध का प्रसंग बना रहता है। प्रकारान्तर से यह समाधान है कि प्रतिषेध शास्त्र की आवृत्ति कर ली जाती है। पहले अनन्तर-विहित ङीप् का निषेध कर दिया जाता है और फिर दुबारा पाठ से टाप् का निषेध हो जाता है। टाप्-प्रतिषेध की सिद्धि के लिये आचार्यदेशीय का ऐसा मत है कि सुब्-विधि के प्रति न-लोप असिद्ध होता है। टाप्-विधि के सुब्-विधि न होने से न-लोप कैसे असिद्ध होगा—यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, कारण कि सुप् से यहाँ 'सु' से सप्तमी ब० 'सुप्' के पकार तक के प्रत्याहार का ग्रहण नहीं, किन्तु यङश्चाप् (४।१।७४) सूत्र के चाप् के प् तक का, जिसे टाप् भी सुप्-अन्तर्गत हो जाता है और टाप्-विधि सुब्विधि बन जाती है। यह सिद्धान्त पक्ष नहीं। सदोष होने से ग्राह्य नहीं। बहूनि चर्माण्यस्या बहुचर्मिका—यहाँ टाब्विधि के सुब्विधि हो जाने से न-लोप के असिद्ध होने से अकार के अभाव में इष्ट इत्त्व नहीं हो सकेगा। इस सारे कथन का संक्षेप से उपन्यास निम्नस्थ भाष्यकारिका में किया गया है—

षट्-संज्ञानामन्ते लुप्ते टाबुत्पत्तिः कस्मान्न स्यात्।
प्रत्याहाराच्चापा सिद्धं दोषस्त्वित्त्वे तस्मान्नोभौ॥

स्वसृ आदि से (७) से ङीप् प्राप्त था, उसका निषेध कर दिया है—स्वसा। दुहिता। ननान्दा। याता। माता। तिस्रः। चतस्रः।

१५—मन्नन्त प्रातिपदिक से ङीप् नहीं होता।[1] (७) से प्राप्त था। न पुंसि दाम ऐसा अमर का वचन है। अतः दामन् नपुं० तथा स्त्री० होता है। स्त्रीत्व-विवक्षा में मन्नन्त होने से ङीप् का निषेध होकर दामा। दामानौ। दामानः ऐसे रूप होंगे। वक्ष्यमाण (१७) से पाक्षिक डाप् होकर दामा। दामे। दामाः ऐसे रूप होंगे। सीमन् केवल स्त्री० है। ङीप् का निषेध होकर सीमा। सीमानौ। सीमानः आदि रूप होंगे। पाक्षिक डाप् होकर सीमा। सीमे। सीमाः आदि। अतिशयितो महिमाऽस्या इत्यतिमहिमा। अतिमहिमानौ स्त्रियौ। अतिमहिमानः स्त्रियः। सूत्र में 'मन्' का ग्रहण है। 'अर्थवतो ग्रहणे नानर्थकस्य'—ऐसी परिभाषा है। सूत्र में अर्थवान् मन् का ग्रहण है, सो अनर्थक मन् का ग्रहण नहीं होना चाहिये। सीमन्—यह अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है। इसका 'मन्' यह अवयव अनर्थक है प्रत्यय न होने से। अतिमहिमन् में भी महत् से भाव में इमनिच् प्रत्यय है जो सार्थक है, पर सार्थक इमनिच् का मन् एकदेश

१. मनः (४।१।११)।

(अवयव) तो अनर्थक है, तो यहां तदन्तविधि से मन्नन्त से ङीप् निषेध कैसे हुआ? उत्तर—'अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति' ऐसी परिभाषा है। इससे अनर्थक 'मन्' से तदन्त-विधि होती है जैसे अन्, इन्, अस् से होती है।

१६—अन्नन्त बहुव्रीहि से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप् नहीं होता।[1] (७) से ङीप् प्राप्त था। यहाँ अनुपधा-लोपी बहुव्रीहि से निषेध अभिप्रेत है, उपधा-लोपी से वैकल्पिक ङीप् का विधान आगे करेंगे—बहवो यज्वानोऽस्यां नगर्यामिति **बहुयज्वा** नगरी। **बहुयज्वानौ**। **बहुयज्वानः**। शोभनानि पर्वाण्यस्याः **सुपर्वा**। **सुपर्वाणौ**। शोभनं चर्म यस्याः सा **सुचर्मा**। ते **सुचर्माणौ**।

१७—मन्नन्त प्रातिपदिक से तथा अन्नन्त बहुव्रीहि से डाप् विकल्प से होता है।[2] **पामा**(पामन् से डाप्)। टिलोप। **पामे**। **पामाः**। सीमन् से डाप्—**सीमा**। **सीमे**। **सीमाः**। नहीं भी होता—**पामा**। **पामानौ**। **पामानः**। **सीमा**। **सीमानौ**। **सीमानः**।

—अन्नन्त बहुव्रीहि से डाप्—**बहुराजा**। **बहुराजे**। **बहुराजाः**। बहवो राजानोऽस्यामिति **बहुराजा भूः**। **बहुतक्षा**। **बहुतक्षे**। **बहुतक्षाः**। बहवस्तक्षाणोऽस्यां पुरि, **बहुतक्षा पूः**। **बहुतक्षे पुरौ**। नहीं भी होता—**बहुराजा**। **बहुराजानौ**। **बहुतक्षाणौ**। बहवो यज्वानोऽस्यां नगर्याम् इति **बहुयज्वा नगरी**। **बहुयज्वे**। **नगर्यौ**। पक्ष में निषेध होकर **बहुयज्वा**। **बहुयज्वानौ** इत्यादि।

सूत्र में अन्यतरस्यां ग्रहण इस लिये किया है कि डाप् तथा ङीप्-प्रतिषेध के अभाव में ङीप् हो जाय। पर यह ङीप् सभी अन्नन्त बहुव्रीहि समासों से नहीं आयेगा—

१८—अन्नन्त उपधा-लोपी बहुव्रीहि से विकल्प से ङीप् होता है[3]—यह शास्त्र नियमार्थ रहेगा, अर्थात् डाप् और प्रतिषेध से व्यतिरिक्त पक्ष में ङीप् उपधा-लोपी बहुव्रीहि से ही होगा, अनुपधा-लोपी से नहीं—अतः **बहुराज्ञी नगरी**। **बहुतक्ष्णी नगरी**। **सुपर्वा**—यहाँ ङीप् नहीं हो सकता, यह उपधा-लोपी नहीं। वनो र च (६) से ङीप् प्राप्त होता है वह भी अन्नन्त बहुव्रीहि के उपधालोपी न होने से व्यावृत्त हो जाता है और उसकी व्यावृत्ति के

---

१. अनो बहुव्रीहेः (४।१।१२)।

२. डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् (४।१।१३)।

३. अन उपधा-लोपिनो ऽन्यतरस्याम् (४।१।२८)।

साथ ही तत्संनियोग-शिष्ट रेफ आदेश भी व्यावृत्त हो जाता है।

१९—अनुपसर्जनात् (४।१।१४)। अधिकार सूत्र है। अगले सूत्रों में उपसर्जन का प्रतिषेध रहेगा। यहाँ से आगे जो स्त्री-प्रत्यय-विधान किया जायगा, वह अनुपसर्जन (उपसर्जन=अप्रधान, अनुपसर्जन=प्रधान) से होगा। उपसर्जन से नहीं। ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति, ऐसी परिभाषा है। जहाँ प्रातिपदिक-विशेष का ग्रहण=उपादान करके प्रत्यय विधान किया जाता है, वहाँ उसी प्रातिपदिक से प्रत्यय होता है, तदन्त से नहीं। अतः वक्ष्यमाण अणादि प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से ही स्त्रीप्रत्यय होना चाहिये, अणादि प्रत्ययान्तान्त से नहीं। अनुपसर्जनात्—इस अधिकार सूत्र से ही ज्ञापित होता है स्त्रीप्रत्यय-प्रकरण में तदन्त-विधि होती है। अन्यथा इस प्रतिषेध का प्रसंग ही नहीं बनता। हाँ तदन्त विधि अनुपसर्जन=प्रधान से ही अनुज्ञात है, उपसर्जन से नहीं।

२०—टित् अदन्त प्रातिपदिक से तथा ढादिप्रत्ययान्त अदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व-विवक्षा में ङीप् (ई) प्रत्यय होता है।[1] पित् होने से ङीप् अनुदात्त है। अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४)। सूत्र में ढ, अण्, अञ्, द्वयसच्, ठक्, ठञ्, कञ्, क्वरप्—प्रत्यय कण्ठरवेण पठित हैं। जैसे हम इस प्रकरण के आरम्भ में कह आये हैं सभी स्त्रीप्रत्ययविधायक सूत्रों में 'अतः' (अदन्त) की अनुवृत्ति रहेगी, यह वहीं रुकेगी जहाँ इकाराद्यन्त प्रकृत्यन्तर का ग्रहण किया गया है। अतः इस सूत्र में 'अदन्त प्रातिपदिक से' ऐसा वृत्ति में कहा है।

प्रातिपदिक का टित्त्व कहीं प्रत्यय के कारण होता है, कहीं प्रातिपदिक के साक्षात् टित् पढ़े जाने से, कहीं प्रकृति (अंग) के टित् होने से। सर्वत्र अवयव-धर्म से समुदाय व्यपदिष्ट होता है—उपचारात्। कुरुचर (ट-प्रत्यय)। नदट्। चोरट् (पचादिगण में पठित टित्प्रातिपदिक)। स्तनन्धय (प्रत्यय की प्रकृति धेट् टित् है)।

कुरुषु चरतीति कुरुचरः। ट-प्रत्यय। यहाँ ट-प्रत्ययान्त 'चर' शब्द उपसर्जन नहीं, उपपद तत्पुरुष समास होने से उत्तरपदार्थ की प्रधानता के कारण

---

१. टिड्ढाणञ्-द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रच्-तयप्-ठक्-ठञ्-कञ्-क्वरपः (४।१।१५)।

यह प्रधान है। प्रधान से तदन्त विधि होती है। अतः 'कुरुचर' से ङीप् परे रहते भ-संज्ञक 'कुरुचर' के अन्त्य 'अ' का यस्येति च (६।४।१४८) से लोप होकर **'कुरुचरी'** रूप सिद्ध होता है। पर बहवः कुरुचरा अस्यां जनपदसीमायाम् इति **बहुकुरुचरा जनपदसीमा**। यहाँ सर्वोपसर्जनो बहुव्रीहिः, बहुव्रीहि के सभी घटक अवयव उपसर्जन होते हैं, अन्यपदार्थ ही प्रधान होता है, अतः 'कुरुचर' के टित् होने पर भी उपसर्जन होने के कारण तदन्तविधि न होने से ङीप् नहीं हुआ। सामान्यविहित टाप् हुआ है।

प्रातिपदिक टित् से—**नदट्—नदी। चोरट्—चोरी। स आत्मना चोरः। तस्य प्रियाऽपि चोरी**। प्रकृति टित् से—स्तनन्धयः (स्तनं धयति)।—**स्तनन्धयी**। गां धयतीति **गोधा**—यहाँ धेट् के टित् होने पर भी ङीप् नहीं होता। **कुरुचर—कुरुचरी** (ट-प्रत्यय)। **अधिश्रयणी** (अंगीठी) (ल्युट्)। **राजधानी। मषीधानी** (दवात)।

अब यहाँ यह शंका होती है कि **पचमाना, यजमाना, वक्ष्यमाणा** आदि में प्रातिपदिक के टित् होने से ङीप् क्यों नहीं होता। यहां शानच् प्रत्यय लट् तथा लृट् के स्थान में होने से टित् है। उत्तर—ठीक है, पर लट् व लृट् द्व्यनुबन्धक हैं, लट् में 'अ' भी इत् है और ट् भी। लृट् में ऋ भी और ट् भी। **एकानुबन्धकग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य**—ऐसी परिभाषा है। ङीप् के विधान में एक अनुबन्ध ट् का ही ग्रहण किया है अतः द्व्यनुबन्धक नहीं लिया जायगा, सो द्व्यनुबन्धक से ङीप् नहीं होगा।

दूसरा समाधान यह है—लकाराश्रित अनुवन्धकार्य लादेशों को नहीं होता। यह बात यासुट् के ङित् किये जाने से ज्ञापित होती है। यदि लिङ् के आदेश तिप् में स्थानिवद्भाव से ङित्त्व आजाए तो यासुट् को ङित् करना व्यर्थ हो जाय। पर यह ज्ञापक इस प्रकार विघटित हो जाता है—भाष्यकार का कहना है—**पिच्च ङिन्न (ङिच्च पिन्न)**, अर्थात् औपदेशिक पित्त्व (जैसे तिप् का) आतिदेशिक (अतिदेश=स्थानिवद्भाव से लभ्य) ङित्त्व का बाधक होता है। ऐसा होने पर यासुट् का ङित्करण सार्थक रहता है, व्यर्थ नहीं होता। व्यर्थता हुए बिना ज्ञापकता बनती नहीं। अतः समाधानान्तर कहते हैं—

प्रायः अनुबन्ध-कार्यों में 'अनल्विधौ' यह निषेध नहीं लगता। ऐसा 'न ल्यपि (६।४।६९) सूत्र से ज्ञापित होता है। यहाँ क्त्वा का कित्त्व (अल्धर्म) ल्यप् में स्थानिवद्भाव से आजाता है ऐसा मानने पर ही ल्यप् परे घु-मा-स्था

आदि को 'ईत्व' प्राप्त होता है, जिस का निषेध किया है। **प्राप्तौ सत्यां निषेधः।** कित्त्वाभाव में 'ईत्व' प्राप्त ही न था, तो उसका निषेध क्यों करते? पर श्ना के स्थान में (हलः श्नः शानज्झौ ३।१।८३) शानच् जो शित् आदेश किया है उससे ज्ञापित होता है कि क्वचित् अनुबन्ध कार्यों में भी अनल्विधौ—यह प्रतिषेध लगता है, अन्यथा शानच् में शित् किये बिना ही शित्त्व आजाता। अल्विधि होने से स्थानिवद्भाव न होने से शित्करण सार्थक रहता है। यह सामान्यापेक्ष ज्ञापक है। सो प्रकृत में जो स्थानी का अल्धर्म टित्त्व है वह आदेश शानच् में नहीं आता, जिससे ङीप् की प्राप्ति ही नहीं होती।

पठिता विद्या—यहाँ पठित (पठ् इट् क्त) प्रातिपदिक टित् है। इट् आगम जो उसका अवयव है, उसके टित् होने से। तो यहाँ ङीप् क्यों नहीं होता? उत्तर—आगम का टित्त्व ङीप् का निमित्त नहीं होता इसमें **सायचिरं-प्राह्णे प्रगेऽव्ययेभ्यष्टच्युट्युलौ तुट् च,** इस सूत्र में तुट् आगम को टित् किया है और टच्यु, टच्युल् प्रत्यय भी टित् पढ़े हैं। यदि आगम-टित्त्व ङीप् का निमित्त होता, तो प्रत्ययों को टित् क्यों करते। 'सायन्तनी' आदि में तुट् के टित्त्व से ही ङीप् आजाता, पर नहीं आता, इसीलिए प्रत्ययों को टित् पढ़ा है।

ढ—सुपर्ण्या अपत्यं स्त्री सौपर्णेयी। विनताया अपत्यं स्त्री **वैनतेयी।** यहाँ स्त्रीत्व में वर्तमान सौपर्णेय, तथा वैनतेय शब्दों से स्त्रीत्व द्योत्य होने पर ङीप् होता है। ढ को **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (७।१।२) से ढ के स्थान में एय आदेश होता है। यहाँ 'ढ' से ढक् का ग्रहण होता है। यद्यपि **निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य**—यह परिभाषा है। कारण कि स्त्रीत्व में निरनुबन्धक 'ढ' है ही नहीं। सभायां साधुः **सभेयः,** ऐसा ढ-प्रत्ययान्त वेद में प्रयोग है। यहाँ निरनुबन्धक ढ मिलता है, पर **सभेयी कोई प्रयोग नहीं।**

अण्—कुम्भं करोतीति कुम्भकारः। यहाँ कार शब्द अणन्त प्रधान है। प्रधान से तदन्त विधि होती है अतः कुम्भकार से भी स्त्रीत्व-विवक्षा में ङीप् होगा—**कुम्भकारी। नगरकारी। मालाकारी।** अण् कृत् भी होता है और तद्धित भी। उपगोरपत्यम् औपगवः। अण्। **औपगवी स्त्री।**—ण-प्रत्ययान्त से भी कहीं अण्-प्रत्ययान्त जैसा कार्य होता है। जैसे अणन्त से ङीप् होता

है वैसे ही ण-प्रत्ययान्त से भी—चुरा शीलमस्येति **चौरः**। यहाँ **छत्रादिभ्यो णः** (४।४।६२) से 'ण' प्रत्यय होता है। स्त्रीत्वविवक्षा में यहाँ ङीप् होकर **चौरी** (चोरी करने के स्वभाव वाली स्त्री)। तपः शीलमस्या इति **तापसी**। ण—प्रत्यय होकर ङीप्। नहीं भी होता—प्रज्ञाऽस्त्यस्याः=**प्राज्ञा**। यहाँ **प्रज्ञा-श्रद्धाऽर्चाभ्यो णः** (५।२।१०१) से मत्वर्थीय 'ण' विधान किया है। यहाँ अण्-कार्य नहीं होता। ङीप् नहीं होता, टाप् होता है।

दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायाम्—**दाण्डा**। यहाँ तदस्य प्रहरणम्(४।२।५७) से 'ण' प्रत्यय होता है। यहाँ भी टाप् होता है, ङीप् नहीं।

अञ्—'उत्स' आदि शब्दों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में (४।१।८६) से अञ् विधान किया है। उत्सस्यापत्यादि औत्सः। स्त्रीत्व में **औत्सी**। अञ् में ञ् आदिवृद्धि के लिए है।

द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्—तीनों 'तदस्य प्रमाणम्' इस अर्थ में तद्धित प्रत्यय विधान किए हैं। 'च्' स्वर के लिए है। इससे प्रत्ययान्त अन्तोदात्त होता है। प्रत्यय का ग्रहण हो प्रातिपदिक का न हो इसलिए भी अनुबन्ध (च्) का उच्चारण किया है। अन्यथा किमस्य द्वयसम्, किमस्य मात्रम्। यहाँ भी ङीप् होने लगेगा। **जानुदघ्नं जानुद्वयसं पयो विप्र। जानुदघ्न्य आपः। जानुद्वयस्य आपः। दण्डमात्री क्षेत्रभक्तिः**, दण्ड-प्रमाणक खेत का भाग।

तयप्—प्रत्यय-ग्रहणार्थं पकार अनुबन्ध पढ़ा है, अनुदात्तत्व के लिए भी। 'तय' धातु से पचाद्यच् करके 'तय' प्रातिपदिक का भी सम्भव है। पञ्च अवयवा आसां वृत्तीनां **पञ्चतय्यो वृत्तयः**। कृत्तद्धित-समासैकशेषसनाद्यन्त-धातुरूपाः। दश अवयवा (मण्डलरूपाः) अस्य दशतय ऋग्वेदः। **दशतयी ऋक्संहिता**।

ठक्—अक्षैर्दीव्यति आक्षिकः पुरुषः। **आक्षिकी स्त्री**। 'ठ' को 'इक' आदेश होता है। आदिवृद्धि के लिए क् अनुबन्ध लगाया है।

ठञ्—लवणं पण्यमस्येति लावणिकः पुरुषः। **लावणिकी स्त्री**। आदिवृद्धि के लिए प्रत्यय ञित् पढ़ा है।

कञ्—तादृशः—**तादृशी**। यादृशः—**यादृशी**।

क्वरप्—एतुं गन्तुं शीलमस्य इत्वरः। स्त्रियाम्—**इत्वरी**। इत्वरी कुलटा

को भी कहते हैं। नंष्टुंशीला नश्वरा अर्थाः। नश्वर्यः श्रियः। क्वरप् ताच्छीलिक प्रत्यय है। क्, प् इत् हैं। कित्त्व गुण-निषेध के लिए है।

२१—नञ्, स्नञ्, ईकक्, ख्युन्—प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से तथा तरुण, तलुन प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व में ङीप् आता है ऐसा वार्तिककार का कहना है।[1] पहले तीन तद्धित प्रत्यय हैं और चौथा कृत् प्रत्यय है।

नञ्—स्त्रैण—स्त्रैणी।[2]

स्नञ्—पौंस्न—पौंस्नी।

ईकक्—शाक्तीक—शाक्तीकी। याष्टीक—**याष्टीकी**। शक्तिः प्रहरणमस्याः **शाक्तीकी**, भाले से लड़ाई करने वाली स्त्री। यष्टिः प्रहरणमस्या **याष्टीकी**, लाठी से लड़ाई करने वाली स्त्री। ईकक् में क् (इत्) आदिवृद्धि के लिये है।

ख्युन्—अनाढ्य आढ्यः क्रियतेऽनेनेति आढ्यङ्करणो मन्त्रः। **आढ्यंकरणी मन्त्रोपनिषत्**। **प्रियङ्करणी** शब्दप्रयुक्तिः। **पलितंकरणी** जरा। **तरुणी**। **तलुनी**। यह ङीप् वयोवाचक तरुण, तलुन से नहीं, उससे वक्ष्यमाण गौरादि पाठ से ङीष् होगा। **तरुणी, तलुनी सुरा**, प्रत्यग्रेत्यर्थः।

२२—अपत्यार्थ में जो यञ् प्रत्यय, तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व में ङीप् आता है[3]—गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः (यञ्)। स्त्री में गार्ग्य—ङीप्= **गार्गी**। हल् से पर उपधा-भूत तद्धित यकार का लोप। **हलस्तद्धितस्य** (६।४।१५०)। इसी प्रकार वात्स्य—वात्सी। पर द्वीपे भवा **द्वैप्या**। यहाँ यञ् अपत्यार्थ में नहीं, अतः ङीप् नहीं हुआ। देवस्यापत्यं दैव्या। अपत्यार्थ होने पर भी यह यञ् (देवाद्यञञौ) प्राग्दीव्यतीय है, अपत्याधिकार में नहीं पढ़ा। **आपत्यग्रहणं कर्तव्यम्**—इस वार्तिक में 'आपत्य' से अपत्याधिकार-विहित—यह अर्थ समझना चाहिए।

२३—अपत्यार्थ में जो यञ् तदन्त से स्त्रीत्व में ष्फ प्रत्यय विकल्प से होता है, और वह तद्धित-संज्ञक होता है[4]। षित्करण-सामर्थ्य से 'ष्फ' से

---

१. नञ्-स्नञ्-ईकक्-ख्युंस्तरुण-तलुनानामुपसंख्यानम्। (वा०)।

२. स्त्रैण व पौंस्न के नाना अर्थों के लिए व्याकरणचन्द्रोदय, खण्ड २ का पृ० २६१ देखें।

३. यञश्च (४।१।१६)।

४. प्राचां ष्फ तद्धितः (४।१।१७)।

स्त्रीत्व के व्यक्त होने पर भी वक्ष्यमाण षिद्गौरादिभ्यश्च (४।१।४१) से ङीष् भी होता है। प्रत्ययद्वय से स्त्रीत्व की व्यक्ति होती है, अन्यथा षित्करण व्यर्थ हो जायगा। 'फ' के स्थान में (७।१।२) से 'आयन' आदेश होता है—गार्ग्य—गार्ग्यायणी। आकारादि प्रत्यय होने से आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति (६।४।१५१) से उपधाभूत य् का लोप रुक गया। पक्ष में गार्गी। यह प्राग्देशवर्ती आचार्यों के मत से ष्फ-विधान है। उत्तरसूत्र में जो 'सर्वत्र' पद पढ़ा है, उसका अपकर्ष करके (पीछे खींचकर) इस सूत्र के साथ जोड़ दिया जाता है, जिससे प्राग्देशवर्ती आचार्यों के मत से जो आवटच (यञन्त) शब्द से चाप् विधान किया है, वह नहीं होता, प्रत्युत 'ष्फ' ही होता है—आवटचायनी।

२४—लोहित आदि कत शब्द तक जो प्रातिपदिक गर्गादिगण (४।१।१०५) में पढ़े हैं अपत्यार्थ में यञन्त होने पर उनसे सब आचार्यों के मत से 'ष्फ' स्त्री प्रत्यय होता है और ष्फ के षित् होने से दूसरा प्रत्यय ङीष् भी होता है।[1] लोहितस्य गोत्रापत्यं लौहित्यः पुरुषः। लौहित्यायनी स्त्री। बभ्रोर्गोत्रापत्यं बाभ्रव्यः पुरुषः। बाभ्रव्यायणी स्त्री। यहाँ वान्तो यि प्रत्यये (६।१।७९) से यादि प्रत्यय परे होने पर तद्धित प्रत्यय की प्रकृति 'बभ्रु' को ओर्गुणः (६।४।१४६) से भ-संज्ञक अंग के 'उ' को जो गुण 'ओ' होता है, उसे वान्तादेश (अव् आदेश) हो जाता है।

लोहितादि अवान्तर गण में कपि शब्द से परे जो कत शब्द स्वतन्त्र पढ़ा है उसका सूत्र में ग्रहण इष्ट है, जो 'कुरुकत' में अवयव-रूप में पढ़ा है, उसका नहीं। कतस्यापत्यं स्त्री कात्यायनी।

एक और बात ध्यान में रखने योग्य है। पाणिनीय गणपाठ अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं रहा। इसमें पाठक्रम का विपर्यय तो वार्तिककार कात्यायन के समय से भी पहले हो चुका था। सम्प्रति उपलब्ध गणपाठ में जैसा संनिवेश है तदनुसार कपि, कत, कुरुकत, अनडुह्, कण्व, शकल—एवमानुपूर्वीक पाठ मिलता है। इसे इष्टसिद्धि के लिए बदलकर इस प्रकार पढ़ना चाहिए—कुरुकत, अनडुह् इन दो शब्दों को अपने स्थान से हटाकर 'शकल' शब्द को कत और कण्व के मध्य में पढ़ना चाहिए—कत। शकल। कण्व। सूत्र में जो कतन्त शब्द है वह बहुव्रीहि और तत्पुरुष का एकशेष है।

---

१. सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः (४।१।१८)।

कतोऽन्तो येषां तानि कतन्तानि। शकन्ध्वादि होने से पर-रूप एकादेश हुआ है, सवर्ण-दीर्घ प्राप्त था। कतस्यान्तः कतन्तः। कतन्तानि च कतन्तश्चेति कतन्तानि, तेभ्यः। बहुव्रीहि और तत्पुरुष की सहविवक्षा में स्वर-भिन्नानां यस्योत्तरः स्वरविधिः स शिष्यते, (तत्पुरुष का स्वर-विधान ६।२।२। से प्रारम्भ होता है और बहुव्रीहि का ६।२।१०६। से) इस वचन के अनुसार बहुव्रीहि एकशेष रहता है। इसी से 'कतन्तेभ्यः' में बहुवचन उपपन्न होता है। कण्वादिभ्यो गोत्रे (४।२।१११) से यञन्त कण्व आदि प्रातिपदिकों से शैषिक अण् विधान किया है। उस सूत्र में भी 'कण्वादि' में बहुव्रीहि और तत्पुरुष की सहविवक्षा में बहुव्रीहि एकशेष रहता है—कण्व आदिर्येषां तानि कण्वादीनि। कण्वस्यादिः कण्वादिः। कण्वादीनि च कण्वादिश्चेति कण्वादीनि। तेभ्यः। अब प्रकृत में 'कतन्त' को बहुव्रीहि मानकर लोहितादि कतपर्यन्त प्रातिपदिकों का ग्रहण होता है और तत्पुरुष मानकर 'शकल' शब्द का ग्रहण होता है, जिससे 'शकल' से 'ष्फ' सिद्ध होता है। कण्वादि में तत्पुरुष मान कर कण्वस्यादिः कण्वादिः, शकल शब्द कण्वादि होता है, जिससे इससे अण् भी होता है। शकलस्य गोत्रापत्यं शाकल्यः। शाकल्यस्येमे छात्राः शाकलाः। इस सारे कथन को श्लोकवार्तिककार इस प्रकार संगृहीत करते हैं—

कण्वात्तु शकलः पूर्वः कतादुत्तर इष्यते।
पूर्वोत्तरौ तदन्तादी ष्फाणौ तत्र प्रयोजनम्॥

२५—कौरव्य, माण्डूक शब्दों से स्त्रीत्व में ष्फ प्रत्यय होता है और षित्त्व के कारण दूसरा प्रत्यय ङीष् भी होता है।[1] कौरव्य ण्यप्रत्ययान्त है और माण्डूक अण् प्रत्ययान्त है। कुरोरपत्यं पुमान् कौरव्यः। कौरव्यायणी स्त्री। मण्डूकस्यापत्यं पुमान् माण्डूकः। माण्डूकायनी स्त्री। यह क्रम से टाप् और ङीप् का अपवाद है। वार्तिककार आसुरि (इञन्त) से ष्फ प्रत्यय चाहते हैं—आसुरेरपत्यं स्त्री आसुरायणी।

२६—जिस प्रातिपदिक के श्रवणमात्र से (प्रकरणादि से नहीं) प्रथम वय की प्रतीति होती है उससे स्त्रीत्व-विवक्षा में ङीप् प्रत्यय होता है।[2] काल-कृत शरीरावस्था को वय कहते हैं। वय प्राणिधर्म है। वय प्रायः

---

१. कौरव्यमाण्डूकाभ्यां च (४।१।१९)।

२. वयसि प्रथमे (४।१।२०)। वयस्यचरम इति वक्तव्यम् (वा०)।

तीन मानी जाती हैं—बाल्य, यौवन, जरा (वृद्धत्व)। कुमारी। किशोरी। कुमारी शब्द प्रथमवयोवाची है, पुंयोगाभावनिमित्तक नहीं। इसी में ही इसकी रूढि है। यदि ऐसा है तो 'वृद्धकुमारी' ऐसा प्रयोग कैसे होता है? कुमारी के साथ साधर्म्य से। वृद्ध होती हुई भी वह मौग्ध्यादि कारणों से कुमारी (प्रथमवयस्का) के सदृश है।

यौवन द्वितीय वय है, अतः वधूटी, चिरण्टी—यहाँ ङीप् प्राप्त न था, सो वार्तिककार इसकी प्राप्ति के लिए **'वयस्यचरमे'** ऐसा वार्तिक पढ़ते हैं, जिस से सूत्र के 'प्रथमे' के स्थान पर अचरमे (=अनन्त्ये) पढ़ने से वधूट, चिरण्ट से भी ङीप् हो जाता है।

कन्या शब्द में टाप् कैसे हुआ? यह भी प्रथमवयोवाचक है। सूत्रकार **कन्यायाः कनीन च** (४।१।११६) ऐसा सूत्र पढ़ते हैं। यही इसकी साधुता में ज्ञापक है।

उत्तानशया (बच्ची जो ऊपर मुँह किये सोती है), **लोहितपादिका** (बच्ची जिसके चरण स्वभाव से लाल हैं) में ङीप् क्यों नहीं हुआ? ये **वयःश्रुतियाँ** नहीं हैं, इनके श्रवणमात्र से वय की प्रतीति नहीं होती।

'अतः' यह अधिकृत है, इसलिए 'शिशुः' यहाँ ङीप् की प्राप्ति नहीं।

२७—द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से स्त्रीत्व में ङीप् होता है[1]—**त्रिलोकी। अष्टाध्यायी। पञ्चपूली। दशपूली।**

त्रिफला—यह भी तो द्विगु है, यहाँ ङीप् क्यों नहीं हुआ? अजादिगण में पढ़े होने से टाप् होता है।

२८—अपरिमाणान्त द्विगु से तथा परिमाणवाची बिस्त, आचित, कम्बल्य शब्द हैं अन्त में जिसके, उस द्विगु से ङीप् नहीं होता जब तद्धित प्रत्यय का लुक् हुआ हो[2]—पञ्चभिरश्वैः क्रीता **पञ्चाश्वा हस्तिनी**। यहाँ तद्धितार्थ में द्विगु समास है। आर्हीय प्रत्यय ठक् का लुक् हुआ है। संख्या परिमाण नहीं, परिच्छेदिका अवश्य है। काल भी परिमाण नहीं। **सर्वतो मानं परिमाणम्।** लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई (अथवा मोटाई) को 'परिमाण' कहते हैं। अतः **द्विवर्षा, त्रिवर्षा शिशुः।** यहाँ वर्ष कालवाची है। द्वे वर्षे भूता, त्रीणि वर्षाणि भूता। यहाँ **चित्तवति नित्यम्** (५।१।८९) से ठञ् का लुक् हुआ है। द्वाभ्यां

---

१. द्विगोः (४।१।२१)।

२. अपरिमाणबिस्ताऽऽचित-कम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि (४।१।२२)।

शताभ्यां क्रीताऽश्वा द्विशता। यहाँ संख्या के परिमाण न होने से तद्धित का लुक् होने पर भी ङीप् नहीं हुआ। अदन्त से सामान्यविधि से टाप् हुआ है। विस्तादि-परिमाणान्त द्विगु से भी ङीप् नहीं होता—द्विबिस्ता। त्रिबिस्ता। द्वयाचिता। त्र्याचिता। द्विकम्बल्या। त्रिकम्बल्या। पर द्वयाढकी—यहाँ परिमाणान्त द्विगु से (२७) से ङीप् निर्बाध होता है। 'आढक' परिगणित परिमाणवाची शब्दों के अन्तर्गत नहीं।

२९—प्रमाण-विशेष-वाचि-काण्ड-शब्दान्त द्विगु से ङीप् नहीं होता जब तद्धितप्रत्यय का लुक् हुआ हो और जब क्षेत्र वाच्य हो[1]—द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः क्षेत्रभक्तेः (=क्षेत्रभागस्य) सा द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः। त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्तिः। यहाँ प्रमाण अर्थ में विहित मात्रच् प्रत्यय का **प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्** (प्रमाण-वाची तद्धित का द्विगु से परे नित्य लोप हो जाता है) इस वार्त्तिक के अनुसार लोप हो जाता है। यदि क्षेत्र वाच्य नहीं होगा तो ङीप् का निषेध नहीं होगा—द्विकाण्डी रज्जुः। त्रिकाण्डी रज्जुः।

३०— प्रमाणवाची जो पुरुषशब्द तदन्त द्विगु से तद्धितलुक् होने पर विकल्प से ङीप् नहीं होता[2]—द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः परिखाया इति द्विपुरुषा, द्विपुरुषी परिखा। त्रिपुरुषा। त्रिपुरुषी। परिमाणान्त न होने से नित्य निषेध प्राप्त था। समाहार अर्थ में तद्धित प्रत्यय का लुक् न होने से ङीप् निर्बाध होगा—द्विपुरुषी। त्रिपुरुषी।

३१—ऊधस् शब्दान्त बहुव्रीहि से स्त्रीत्व में ङीष् प्रत्यय होता है[3]। ऊधसोऽनङ् (५।४।१३१) से अनङ् समासान्त होने पर अन्नन्त बहुव्रीहि बन जाता है। (१७) से पाक्षिक डाप् और ङीप् प्रतिषेध की प्राप्ति होने पर यह ङीष् विधान किया है। उपधा-लोपी अन्नन्त बहुव्रीहि से जो पाक्षिक ङीप् विधान किया है उसका भी यह बाधक है—घटोध्नी। कुण्डोध्नी गौः। घट इव ऊधो यस्याः। कुण्डमिव ऊधो यस्याः। अनङ् स्त्रीलिङ्ग में ही होता है—महोधाः पर्जन्यः। कुण्डोधो धैनुकम् (=धेनुसमूह)।

---

१. काण्डान्तात्क्षेत्रे (४।१।२३)।
२. पुरुषात्प्रमाणेऽन्यतरस्याम् (४।१।२४)।
३. बहुव्रीहेरूधसो ङीष् (४।१।२५)।

३२—संख्या अथवा अव्यय है आदि में जिसके, ऊधस् शब्द है अन्त में जिस के ऐसे बहुव्रीहि से ङीप् होता है, ङीष् नहीं।[१] ङीप् पित् होने से अनुदात्त है—द्वे ऊधसी अस्या द्व्यू ध्नी। अतिशयितमूधो यस्याः सा ऽत्यूध्नी गौः।

३३—संख्यादि दामन् शब्दान्त तथा हायनशब्दान्त जो बहुव्रीहि, उस से स्त्रीत्व में ङीप् होता है।[२] दामन्नन्त से डाप्, ङीप्-प्रतिषेध, ङीप्-विकल्प (उपधा-लोपी होने से) की प्राप्ति होने पर नित्य ङीप् के लिये यह वचन पढ़ा है। **द्विदाम्नी। त्रिदाम्नी।** द्वे दामनी अस्याः। त्रीणि दामान्यस्याः। इस सूत्र में अव्यय की अनुवृत्ति नहीं आती, अतः **उद्दामा वडवा** (उद्गतं दाम यस्याः)—यहाँ ङीप् नहीं हुआ। **द्विहायनी बाला।** द्वे हायने प्रमाणमस्या वयस इति द्विहायनी। **त्रिहायणी। चतुर्हायणी।** त्रि, चतुर् से परे 'हायन' शब्द के 'न्' को 'ण्' हो जाता है, ऐसा वार्तिक है। वयोवाचक 'हायन' से ही, ङीप् और णत्व इष्ट हैं। अतः **चतुर्हायना शाला**—यहाँ न ङीप् हुआ और न णत्व। हायन=वर्ष।

३४—अन्तर्वत् और पतिवत् को स्त्रीत्व में नुक् (न्) आगम होता है, जो कित् होने से इनका अन्तावयव बन जाता है। अर्थात् प्रकृति नकारान्त बन जाती है और नकारान्त होने से (७) से ङीप् सिद्ध ही है।[३] सूत्र में प्रकृति का निपातन किया है। अन्तर्वत्' में मतुप् की प्राप्ति नहीं थी, अन्तर् शब्द प्राति-पदिक है, अधिकरण-शक्ति-प्रधान अव्यय होने से प्रथमान्त नहीं। हाँ मतुप् का 'वत्व' सिद्ध है। अन्तरस्त्यस्यां गर्भ **इत्यन्तर्वत्नी,** गर्भवती। पतिवत् में मतुप् सिद्ध है, पर वत्व निपातित किया है। पतिरस्या अस्तीति **पतिवत्नी।** पति =भर्ता, वोढा। **पतिवत्नी=जीवत्पतिः,** जिसका पति जीता है। अन्तरस्यां शालायां घटः, यहाँ मतुप् होगा ही नहीं। **पतिमती पृथिवी।** यहाँ न वत्व होता है और न नुक् आगम।

इस सारे कथन को श्लोकवार्तिक में इस प्रकार रखा है—

अन्तर्वत्पतिवतोस्तु मतुब्वत्वे निपातनात्।
गर्भिण्यां जीवपत्यां च वा छन्दसि तु नुग्विधिः॥

वेद में नुक् विकल्प से होता है—सान्तर्वत्नी देवानुपैत्। सान्तर्वती देवा-नुपैत्। पतिवत्नी तरुणवत्सा। पतिवती तरुणवत्सा।

---

१. संख्याव्ययादे ङीप् (४।१।२६)।
२. दामहायनान्ताच्च (४।१।२७)।
३. अन्तर्वत्-पतिवतोर्नुक् (४।१।३२)।

३५—पति शब्द के 'इ' के स्थान में 'न्' आदेश होता है स्त्रीत्व में। ङीप् तो नकारान्त होने से सिद्ध है। यह आदेश तब होता है जब यज्ञ के साथ सम्बन्ध गम्यमान हो।[1] पति पत्नी दोनों की सत्ता होने पर दोनों का यज्ञ में एकसाथ अधिकार है। पत्नी पति के साथ यज्ञ को सम्पादन करती है और उसके साथ यज्ञ-फल की भोक्त्री भी है। **यजमानस्य पत्नी। वसिष्ठपत्नी अक्षमाला। याज्ञवल्क्यपत्नी मैत्रेयी।** यज्ञसंयोग न होने पर—**ग्रामस्य पतिरियं ब्राह्मणी।** पतिः=स्वामिनी। जो कहीं **'वृषलस्य पत्नी'** ऐसा प्रयोग आता है वह उपमानात् समझना चाहिये। पत्नीव पत्नी।

३६—पूर्वावयवसहित-पतिशब्दान्त प्रातिपदिक से विभाषा (विकल्प से) ङीप् होता है जब 'पत्यन्त' उपसर्जन न हो[2]—गृहस्य पतिः= **गृहपतिः। गृहपत्नी।** सभायाः पतिः=**सभापतिः। सभापत्नी।** बहुव्रीहि में भी—वृद्धः पतिरस्याः=**वृद्धपतिः। वृद्धपत्नी।** वीरः पतिरस्याः **वीरपत्नी।** (यहाँ वक्ष्यमाण सूत्र से नित्य नुक् व ङीप् होते हैं)। यहाँ पति शब्द उपसर्जन है, पत्यन्त समुदाय उपसर्जन नहीं। बहवो वृषलपतयो यस्याः सा बहुवृषलपतिः—यहाँ नुक् व ङीप् नहीं हुआ, कारण कि इस कर्मधारयोत्तरपद बहुव्रीहि में 'वृषलपति' यह पत्यन्त समुदाय उपसर्जन है। सर्वोपसर्जनो बहुव्रीहिः। **यह सूत्र अप्राप्तविभाषा है।** यज्ञसंयोग न होने से विकल्प की प्राप्ति नहीं थी।

३७—सपत्नी आदि शब्दों में नित्य नुक् व ङीप् होते हैं।[3] पूर्व सूत्र से विकल्प प्राप्त था। 'समानादिषु' ऐसा न्यास नहीं किया, कारण कि आचार्य 'समान' को सभाव निपातन करना चाहते हैं। सूत्र में जो नित्य ग्रहण किया है, वह न भी करते तो आरम्भ-सामर्थ्य से ही (विभाषा-विधायक पूर्वसूत्र के अनन्तर विधान होने से) इस की नित्यता जानी जा सकती थी, अतः नित्यग्रहण स्पष्टता के लिये ही है। समानः पतिरस्याः **सपत्नी।** एकः पतिरस्या **एकपत्नी। पुत्रपत्नी। भ्रातृपत्नी।** वीरः पतिरस्या इति **वीरपत्नी।**

३८—पूतक्रतु शब्द से स्त्रीत्व में (पुंयोग के कारण से स्त्रीत्व में वर्तमान पुंवाची प्रातिपदिक पूतक्रतु से) ङीप् प्रत्यय होता है और साथ ही 'क्रतु' को ऐकार अन्तादेश हो जाता है[4]—पूतक्रतोः स्त्री **पूतक्रतायी,** इन्द्राणी।

---

१. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे (४।१।३३)।
२. विभाषा सपूर्वस्य (४।१।३४)।
३. नित्यं सपत्न्यादिषु (४।१।३५)।
४. पूतक्रतोरै च (४।१।३६)।

अगले दो सूत्रों में पुंयोग में प्रत्यय विधान इष्ट है ।

३९—वृषाकपि, अग्नि, कुसित, कुसिद—इनसे पुंयोग में ङीप् प्रत्यय होता है और ऐकार अन्तादेश के उदात्त होने से वृषाकपै अन्तोदात्त हो जाता है।[1] अग्नि आदि तो पहले से अन्तोदात्त हैं, उनका ऐकार अन्तादेश तो स्थानिवद्भाव से ही उदात्त हो जाता । वृषाकपेः स्त्री=**वृषाकपायी**=श्री अथवा गौरी । **हरविष्णू वृषाकपी । वृषाकपायी श्रीगौर्योः** (अमर) । **अग्नेः स्त्री=अग्नायी=**स्वाहा । कुसितस्य स्त्री=**कुसितायी** । कुसिदस्य स्त्री=**कुसिदायी** । कुसित, कुसिद दोनों का वार्धुषिक (ऋण-प्रयोक्ता, सूद पर धन देकर निर्वाह करने वाला) अर्थ है । भट्टोजिदीक्षित कुसिद (ह्रस्वमध्य) पढ़ता है और वृत्तिकार कुसीद (दीर्घमध्य) । कोषकार उभय-रूप स्वीकार करते हैं ।

४०—मनु शब्द से ङीप् होता है पुंयोग में । साथ ही औकार अन्तादेश भी विकल्प से होता है ।[2] पक्ष में अनुवृत्त ऐकार अन्तादेश होता है—मनोः स्त्री=**मनावी । मनायी ।** सूत्र में वा-ग्रहण होने से प्रत्यय नहीं भी होता—मनोः स्त्री **मनुः** ।

४१—वर्णवाची अनुदात्तान्त तकारोपध प्रातिपदिक से स्त्रीत्वविवक्षा में विकल्प से ङीप् प्रत्यय आता है और साथ ही त् को न् आदेश हो जाता है[3]—एता । एनी । 'एत' रंग विरंगे का नाम है । **चित्रं किर्मीर-कल्माष-शबलैताश्च कर्बुरे** (अमर)। **श्येता । श्येनी** (सफेद) । हरिता । हरिणी (पीला) । ये सारे शब्द आद्युदात्त हैं । फिट् सूत्र 'वर्णानां त-ण-ति-नि-तान्तानाम्' इन्हें आद्युदात्तत्व विधान करता है । **एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे**(अथर्व० ६।८३।२)। 'श्वेत' शब्द घृतादि होने से अन्तोदात्त है, अतः 'श्वेता' यहां ङीप् तथा नकारादेश नहीं हुआ ।

'अतः' की अनुवृत्ति सब सूत्रों में आ रही है, इसलिए **शिति ब्राह्मणी** (काली ब्राह्मणी)—यहाँ ङीप् नहीं हुआ और न हीं 'त्' को न् आदेश होता है ।

४२—'पिशंग' से भी ङीप् होता है, ऐसा वार्तिक है[4]—**पिशङ्गी** ।

---

१. वृषाकप्यग्नि-कुसित-कुसिदानामुदात्तः (४।१।३७) ।
२. मनोरौ च (४।१।३८) ।
३. वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः (४।१।३९) ।
४. पिशङ्गाच्चोपसंख्यानम् (वा०) ।

४३—असित तथा पलित से तकारोपध होने से ङीप् तथा नकारादेश प्राप्त था, वार्तिककार इसका निषेध करते हैं[1]—असिताऽसुरी । पलिता केशसंहतिः ।

४४—छन्दस् (वेद) में असित व पलित के त् को क्नम् (क्न) आदेश तथा ङीप् होता है ऐसा कई आचार्य मानते हैं ।[2] भाषा (लोक) में भी यह विधि इष्ट है ऐसा भी मत है—असिक्नी । पलिक्नी । प्रयोग भी है—गतो गणस्तूर्णमसिक्निकानाम् ।

अवदात शब्द वर्णवाची नहीं, शुद्ध-वाचक है । अतः (४१) से ङीप् तथा नकारादेश की प्राप्ति नहीं ।

४५—तोपध से भिन्न वर्णवाची अनुदात्तान्त प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय आता है ।[3] यहाँ 'वा' की अनुवृत्ति निवृत्त हो गई है । अतः यह नित्य विधि हैं । स्वर में भेद होगा । ङीषन्त अन्तोदात्त होगा—सारङ्गी । कल्माषी । शबली । पर कृष्णा । कपिला । यहाँ ङीष् नहीं होता । कृष्ण व कपिल अन्तोदात्त हैं ।

४६—षित् प्रातिपदिकों से तथा गौर आदि प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व में ङीष् प्रत्यय होता है ।[4]

षित्—नर्तक—नर्तकी । खनक—खनकी । रजक—रजकी । नर्तकादि शिल्पिनि ष्वुन्(३।१।१४५) से ष्वुन्प्रत्ययान्त हैं । यद्यपि 'षित्त्व' प्रत्यय (प्रातिपदिक का अवयव) का धर्म है, तो भी अवयव-भूत प्रत्यय के लिए इस षित्त्व का कुछ भी प्रयोजन नहीं । जहाँ ऐसा होता है वहाँ षित्त्वादि लिंग समुदाय का विशेषक बन जाता है, अर्थात् प्रकृत में नर्तक आदि प्रातिपदिक षित् हो जाते हैं—अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवति ।

गौर वर्णवाची है, पर अन्तोदात्त है, अतः इस से ङीष् की प्राप्ति न थी। अतः विशेष विधान कर दिया । गौर—गौरी ।

वक्ष्यमाण (६९) में जातिवाचक अयोपध (जिस की उपधा यकार नहीं

---

१. असित-पलितयो र्न (वा०) ।
२. छन्दसि क्नमेके (वा०) ।
३. अन्यतो ङीष् (४।१।४०) ।
४. षिद्गौरादिभ्यश्च (४।१।४१) ।

है) प्रातिपदिक से ङीष् कहेंगे, अतः योपध से प्राप्ति न होने पर मत्स्य, मनुष्य, हय, गवय, मुकय—इनका यहाँ गौरादिगण में पाठ किया है—**मत्सी** (मच्छी)। **मनुषी**। **हयी** (घोड़ी)। **गवयी** (नीलगाय)। **मुकयी**। मुकय मनुष्य का पर्याय है। 'मत्स्य' की उपधा य् का (६।४।१४९) से लोप हो जाता है ईकार अथवा तद्धित परे होने पर। 'मनुष्य' का 'य' (यत्) अपत्यार्थक तद्धित प्रत्यय है। इसका 'हलस्तद्धितस्य' (६।४।१५०) से लोप हो जाता है। सूत्रार्थ है—ईकार परे होने पर हल् से उत्तर उपधा-भूत तद्धित य् का लोप हो जाता है।

'अनडुह्' अकारान्त नहीं है, हकारान्त है, अतः इससे जातिलक्षण ङीष् अथवा पुंयोग-लक्षण ङीष् की प्राप्ति नहीं थी, इस लिए इसे गौरादिगण में पढ़ा है—**अनडुही**। **अनड्वाही**। '**आमनडुहः स्त्रियां वा**', इस वार्तिक से स्त्रीत्व में आम् आगम विकल्प से होता है। श्वन् गौरादि है। श्वन्—ङीष्, **शुनी**। ङीष् परे रहते पूर्व की भ-संज्ञा होने से **श्व-युव-मघोनामतद्धिते** (६।४।१३३) से सम्प्रसारण होकर पर-पूर्व-त्व हो जाने पर इष्टरूप निष्पन्न होता है। नकारान्त होने से (७) से ङीप् प्राप्त था। वृहत् और महत् शब्द भी गणपठित हैं। ये उगित् हैं, इन से उगित्त्वनिमित्तक ङीप् सिद्ध था, वह भी होता है और ङीष् भी। 'सौधर्म' शब्द पढ़ा है। सुधर्मणोऽपत्यं सौधर्मः। ऋष्यण्। अपत्यार्थक अण्-प्रत्ययान्त सौधर्म के अण् के स्थान में ष्यङ् आदेश (४।१।७८) से प्राप्त होने पर ङीष् की प्राप्ति के लिये इसे यहाँ गण में पढ़ा है—**सौधर्मी**। कट—**कटी** (श्रोणी)। **पिप्पली**। **हरीतकी**। **करीरी**।

'मातामह', 'पितामह' भी पढ़े हैं। इन से 'मातरि पिच्च' इस वचन से पित् होने से ही ङीष् सिद्ध था, तो फिर इन्हें गण में क्यों पढ़ा है? ज्ञापनार्थ ऐसा किया है। इससे यह ज्ञापित होता है कि षित्त्वलक्षण ङीष् कदाचित् नहीं भी होता—**दंष्ट्रा**। यहाँ ष्ट्रन् प्रत्यय के षित् होने पर भी ङीष् नहीं हुआ, सामान्यविहित टाप् हुआ है।

विलेपी=उष्णिका। वि-लिप्—पचाद्यच्। विलिम्पतीति विलेपी। गौरादिगण के आकृतिगण होने से ङीष्। शिखा चूडा **केशपाशी** (अमर)। अल्पः केशपाशः केशपाशी। ङीष्। भेकी **वर्षाभ्वी** (अमर)। अदन्त न होने से वर्षाभू से जातिलक्षण ङीष् की प्राप्ति नहीं। गौरादि के आकृतिगण होने से इसे कुछ लोग साधु मानते हैं।

४७—जानपद, कुण्ड, गोण, स्थल, भाज, नाग, काल, नील, कुश, कामुक, कबर—इन ग्यारह प्रातिपदिकों से क्रम से वृत्ति (जीविका), अमत्र (भाजन, पात्र), आवपन (गूण, बोरा), अकृत्रिम (प्राकृतिक), श्राण (पक्व), स्थौल्य (स्थूलता), वर्ण, आच्छादन-भिन्न अर्थ, इन ग्यारह अर्थों में ङीष् प्रत्यय होता है[1]—**जानपदी वृत्तिः** (जनपदे लभ्या, जनपदे भवा जीविका)। यदि कोई और वस्तु जनपद-लभ्य है तो जानपद (उत्साद्यन्त) से ङीप् होगा—**जानपदी मुग्धता। जानपदी समृद्धिः।** ग्रामसमूहो जनपदः। देहात। तास्थ्योपाधि से देहाती लोगों को भी 'जनपद' कहते हैं—भवेज्जनपदो जानपदोपि जनदेशयोः (मेदिनी)। **चरन्तु देशान्संवीताः स्फीताञ्जनपदाकुलान्** (भा० विराट० २६।६)। कुण्डी=कमण्डलु। कुण्डा=दाह-क्रिया। अमत्र=कमण्डलु-रूप अर्थ में नित्य स्त्रीलिंग होने से वक्ष्यमाण (६६) से ङीष् की प्राप्ति नहीं थी। घटपर्याय कुण्ड नपुंसकलिंग होने से प्रत्युदाहरण नहीं—**पिठरः स्थाल्युखा कुण्डम्।** गोण—गोणी (गूण, बोरा)। पर 'गोणा' इस नाम की स्त्री। स्थल—स्थली (स्वभाव से सुन्दर स्थल)। **सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्। अदृश्यत...**(रघु० १३।२३)॥ पर स्थला= पुरुषद्वारा बनाई गई (ऊँची की हुई) भूमि। **स्थलयोदकं परिगृह्णन्ति** (तै० सं० १।६।१०।५), ऊँची की हुई भूमि से पानी को रोकते हैं। भाज—**भाजी** (पके हुए चावल)। भाज विश्राणने चुरादिः। उससे निपातन से **एरच्** से अच् हुआ है। टाप् प्राप्त था। जो श्राण (पक्व) नहीं, उसे टाबन्त से 'भाजा' ऐसा कहेंगे। नाग—**नागी**, हाथी की तरह स्थूल (मोटी) स्त्री। गजवाची नाग शब्द जो स्थूलता-रूप-प्रवृत्ति-निमित्त को लेकर गजी से व्यतिरिक्त स्त्री को कहता है वह यहाँ उदाहरण है। नागाऽन्या। सर्पवाची नागशब्द जो दैर्घ्य-रूप प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर सर्पी से व्यतिरिक्त स्त्री को कहता है, वह प्रत्युदाहरण है। जातिवचन से तो ङीष् अनिवार्यरूप से होगा—**नागी**= हस्तिनी सर्पी वा। काल शब्द जब द्रव्य को कहता हो, जब उसका प्रवृत्ति-निमित्त वर्ण (रंग) हो, तब उससे ङीष् होता है—**काली शाटिका। काली निशा** (अन्धेरी रात)। पर 'काला', जिसका ऐसा नाम है। 'नील' से ङीष् तभी

---

१. जानपद-कुण्ड-गोण-स्थल-भाज-नाग-काल-नील-कुश-कामुक-कबराद् वृत्त्यमत्रावपनाऽकृत्रिमा-श्राणा-स्थौल्य-वर्णा-नाच्छादनाऽयोविकार-मैथुनेच्छा-केशवेशेषु (४।१।४२)।

होता है जब वह आच्छादन के गुण को न कहे, केवल ओषधि और प्राणी के ही नीलत्व को कहे[1]—**नीली ओषधिः । नीली वडवा।** पर नील्या रक्ता नीला शाटी। नील्या रक्तं नीलं वस्त्रम् । **नील्या अन् वक्तव्यः** (वा०) से 'तेन रक्तं रागात्' इस अर्थ में अन् तद्धित होता है। संज्ञा में ङीष् विकल्प से होता है—नीली नीला वा काचित् । कुश शब्द से ङीष् होता है जब अयोविकार अर्थात् 'फाल' अर्थ हो—कुशी। जो तत्सदृश आकृति वाला काष्ठादिमय पदार्थ है उससे टाप् होगा—कुशा। **कुशी फाले कुशो दर्भे कुशा वल्गा कुशं जल इति हैमः।** उकञ्प्रत्ययान्त'कामुक' शब्द से मैथुनेच्छावती अर्थ में ङीष्. अन्यत्र टाप्—**कामुकी। कामुका। इच्छावती कामुका स्यात् वृषस्यन्ती तु कामुकी** (अमर)। **इयं पुरन्ध्री तत्तदर्थकामुका स्यादिति किं चित्रम्। इयं जरत्यपि कामुकीति महच्चित्रम्।** कवर—कबरी (=केशसंनिवेशविशेषः=जूड़ा); टावन्त कबरा का अर्थ मिश्रित रंग, चित्र विचित्र है—**व्याकीर्णमाल्यकबरां कबरीं तरुण्याः** (माघ० ५।१९)।

४८—वर्णवाची शोण शब्द से प्राग्देशवर्ती आचार्यों के मत से ङीष् होता है।[2] **शोणः कोकनदच्छविः** (अमर)। रक्ताम्भोज के वर्णवाला। शोण शब्द से जो वर्णानां तणतिनितान्तानाम् (फिट् सूत्र) से आद्युदात्त है, उससे (४५) से ङीष् सिद्ध ही था, नियमार्थ विधान किया है, प्राग्देशवर्ती आचार्यों के मत से ही ङीष् होता है, अन्य आचार्यों के मत से टाप् ही होगा—शोणा।

४९—ह्रस्व उकारान्त गुणवाची प्रातिपदिक से स्त्रीत्व में विकल्प से ङीष् होता है।[3] सूत्र में 'गुणवचन' शब्द का अर्थ है— **गुणमुक्त्वा यो गुणवति द्रव्ये वर्तते स गुणवचनः। पटुरियं बाला। पट्वीयं बाला। मृदुरियं तरुशाखा। मृद्वीयं तरुशाखा। साधुरियं शिक्षणपद्धतिः। साध्वीयं शिक्षणपद्धतिः। गुरू राज्यधुरा। गुर्वी राज्यधुरा।** पर शुचिरियं ब्राह्मणी—यहाँ ङीष् नहीं हुआ, कारण कि शुचि गुणवचन तो है पर उकारान्त नहीं। आखुः (चूही)। आखु उकारान्त अवश्य है, पर गुणवचन नहीं, अतः ङीष् नहीं हुआ।

---

१. नीलादोषधौ (वा०)। प्राणिनि च (वा०)।
२. शोणात् प्राचाम् (४।१।४३)।
३. वोतो गुणवचनात् (४।१।४४)।

५०—खरु तथा संयोगोपध प्रातिपदिक से ङीष् का वार्तिककार प्रतिषेध करते हैं[1]—इयं खरुः (पतिंवरा कन्या)। इयं जातमात्रा पाण्डुरासीत्।

गुणवचन किसे कहते हैं? संज्ञाशब्द, जातिशब्द तथा क्रियाशब्दों को छोड़कर अन्य शब्द गुणवचन होते हैं।

श्लोकवार्तिककार तो गुण का इस प्रकार लक्षण करते हैं—

> सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते।
> आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः॥

सत्त्व नाम द्रव्य का है। जो पदार्थ द्रव्य में ही ठहरता है, उसे गुण कहते हैं। इतना कहने से सत्ता की व्यावृत्ति हो जाती है, सत्ता गुण नहीं ठहरती, कारण कि सत्ता केवल द्रव्य में न रहकर द्रव्य, गुण, कर्म—तीनों में रहती है। अच्छा तो द्रव्यत्व तो द्रव्य में ही ठहरता है वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी, द्रव्यत्व गुण होने लगेगा। तिस पर कहा है गुण पदार्थ द्रव्य से पृथक् भी हो जाता है, जैसे फलादि में पीतता आने पर नीलता चली जाती है, पर द्रव्यत्व तो द्रव्य से त्रिकाल में भी नहीं हटता। अतः द्रव्यत्व गुण नहीं। पर 'गोत्व' जो गोव्यक्तियों में नित्य पाया जाता है, पर अश्वादि व्यक्तियों से व्यावृत्त रहता है, वह गुण होने लगेगा। तिस पर कहा कि गुण नाम का पदार्थ नाना जातियों में दीखता है। जैसे मेघ में देखी गई नीलता तृणादि में भी देखी जाती है। गोत्व तो द्रव्यत्व की नाना अवान्तर जातियों (अश्वत्वादि) में नहीं दीखता। श्लोक के पूर्वार्ध से किसी प्रकार की जाति भी गुण नहीं हो सकती। अच्छा उक्तलक्षण के अनुसार कर्म गुण होने लगेगा। कर्म भी द्रव्य में स्थित होता है, उससे अलग भी होता है और नाना जातियों में देखा जाता है। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। गुण पदार्थ आधेय (उत्पाद्य) और अक्रिया-ज (अनुत्पाद्य) भी होता है। घटादि का रूपादि पाकक्रियाजन्य है और आकाशादि का महत्त्वादि अनुत्पाद्य है। पर कर्म तो नित्य उत्पाद्य ही होता है। अच्छा इतना कहने पर द्रव्य में अतिव्याप्ति आयेगी, द्रव्य गुण होने लगेगा। द्रव्य भी जो घटादि अवयवी है, वह भी अपने अवयवों कपालों में जो द्रव्यरूप हैं, अवस्थित होता है। असमवायिकारण संयोग के नाश होते ही उन अवयवों से हट जाता है और भिन्न-भिन्न हस्त-पादादि जातियों में पाया जाता है।

---

१. खरु-संयोगोपधान्न (वा०)।

इस पर कहते हैं कि गुण असत्त्व-प्रकृति (अद्रव्य-स्वभाव) होता है, अर्थात् द्रव्य-रूप नहीं होता। इस प्रकार अतिव्याप्तिपरिहार द्वारा यह गुण का निर्दोष लक्षण ठहरता है। बहुविशेषणोपादान के कारण इसमें गौरव अवश्य है। अतः इसे एकदेशी की उक्ति मानते हैं। आकडारादेका संज्ञा(१।४।१)सूत्र में भाष्यकार ने गुण का जो आरात् लक्षण किया है वही उपादेय है—पूर्व संज्ञाओं को पर अनवकाश संज्ञायें बाधती हैं यह दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि **समास, कृत्, तद्धित, अव्यय, सर्वनाम, जाति, संख्या—संज्ञायें गुणवचनसंज्ञा को बाधती हैं, अर्थात् समस्त, कृदन्त आदि शब्दों से व्यतिरिक्त शब्द गुणवचन होता है।** ऐसा भाष्यकार का अभिप्राय है। इसी प्रसङ्ग में षट् आदि संज्ञा शब्द भी गुणवचन नहीं हैं—यह भी कहा है।

५१—बहु आदि शब्दों से स्त्रीत्व में विकल्प से ङीष् होताहै[1]—**बहुः। बह्वी। एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति नैकस्यै बहवः सहपतयः** (ऐ० ब्रा० ३।२३)। **अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः** (तै० आ० १०।१०।१)। बहु शब्द गुणवचन है और उकारान्त है, इससे पूर्वसूत्र से वैकल्पिक ङीष् सिद्ध था। अनन्तर 'नित्यं छन्दसि' सूत्र में अनुवृत्ति के लिये इसे यहाँ पढ़ा है।

क्तिन्नन्त से ङीष् का निषेध कहेंगे, पर पद्धति (पद् हति) क्तिन्नन्त होने पर भी बह्वादि गणपठित है, अतः इससे विकल्प से ङीष् होगा—**पद्धतिः। पद्धती। संस्कृतशिक्षाया जनसमष्टेरर्थे ऋज्वी काचित्पद्धतिनिर्मेयेति मतं नः।** अञ्चति (वायु, अग्नि), अङ्कति (आहिताग्नि स्त्री), अंहति (चिन्ता, दुःख, कष्ट), वहति (नदी)—इन से भी विकल्प से ङीष् होता है—**धन्येय-मङ्कति र्नाम। इयमपराप्यङ्कती समानभागधेया। अंहतिः। अंहती। सुकृतिनो ममाप्यंहतय इमाः। अकरुणाः खल्वीश्वराः। वहतिरियं वेगेन वहति। वहतीयं मन्थरं वहति।** अञ्चति आदि ये शब्द उणादयो ऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि, इस मत के अनुसार अव्युत्पन्न हैं। मतान्तर के अनुसार ये उणादि-प्रत्ययान्त होने से व्युत्पन्न हैं। **शकटिः** (स्त्री०)। **शकटी** (ङीष्)। **शक्तिः। शक्ती** (बर्छी)। **अहिः। अही** (सर्पी)। **कपिः। कपी** (बन्दरी)। **मुनिः। मुनी** (वानप्रस्था स्त्री)। **यष्टिः। यष्टी** (छड़ी)। **इतः प्राण्यङ्गात्** (ग० सू०) इकारान्त प्राण्यङ्गवाची शब्द से—**धमनिः। धमनी** (नाड़ी)। **'कृदिकारादक्तिनः'**—यह गणसूत्र पढ़ा है। अर्थ है—कृत् प्रत्यय-सम्बन्धी 'इ'

---

१. बह्वादिभ्यश्च (४।१।४५)।

जो क्तिन् का न हो, तदन्त से विकल्प से ङीष् होता है—राजिः । राजी (पङ्क्ति) । दर्विः । दर्वी (खजाका, लकड़ी की कड़छी) । ओषधिः । ओषधी । ओषध्यः फलपाकान्ताः (अमर) । 'राजि' आदि में व्युत्पत्तिपक्ष को मान कर इकार कृत्-सम्बन्धी है और क्तिन् का नहीं, अतः इनसे वैकल्पिक ङीष् हो गया । ओषधि शब्द तो किप्रत्ययान्त अष्टाध्यायी द्वारा व्युत्पादित है । यदि क्तिन् का 'इ' होगा तो ङीष् नहीं होगा—कृतिः । हृतिः । भित्तिः ।

सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके—यह भी गणसूत्र है । अर्थ है—चाहे कृत् का इकार हो चाहे अकृत् का, जो क्तिन् का अर्थ है वह उसका न हो, तब भी तदन्त से विकल्प से ङीष् होता है—**अजननिरेव ते वृषल भूयात् । अकरणिरेव तेऽस्तु जाल्म** । अनि कृत्प्रत्यय । **चण्डा । चण्डी । चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः**(अमर) । **चन्द्रभागान्नद्याम्**—यह भी गणसूत्र है । **चन्द्रभागा नदी । चन्द्रभागी नदी । पुराणी** (ट्यु, तुट् आगम—ङीप्) । यहाँ गणपठित होने से पक्ष में ङीष् । **पुराणी** । केवल स्वर-भेद होता है । यहाँ 'अहन्' शब्द पढ़ा है । केवल से ङीप् दुर्लभ है । पाठ-सामर्थ्य से 'अनुपसर्जनात्' यह अधिकार यहाँ रुक जाता है, अतः दीर्घाण्यहानि यस्याः सा दीर्घाह्नी शरद् ।

५२—पुंयोग के निमित्त जो प्रातिपदिक स्त्रीत्व को कहे उससे ङीष् प्रत्यय होता है । (वृत्ति) । जो पुमाख्या (पुरुष-नाम) पुंयोग (पुरुष के साथ सम्बन्ध) के हेतु स्त्रीत्व को कहे उससे ङीष् प्रत्यय होता है (दीक्षित) ।[1] गणकस्य स्त्री गणकी (ज्योतिषी की धर्मपत्नी) । महामात्रस्य स्त्री **महामात्री** (महामन्त्री की स्त्री) । मनु० ९।२५९ में महामात्र का अर्थ '**हस्तिशिक्षोपजीवी**' है । **मन्त्रे कर्मणि भूषायां वित्ते माने परिच्छदे ।**

मात्रा च महती येषां महामात्रास्तु ते स्मृताः ॥

गुरोः स्त्री **गुर्वी** । टि-लोप ।

वर्णज्येष्ठः पितृव्यश्च पुंस्येते गुरवः स्मृताः ।

माता मातामही गुर्वी पितुर्मातुश्च सोदराः ॥ (वीरमित्रोदय पृ० ४७१ पर उद्धृत देवल का वचन) ।

गणक आदि पुंशब्द हैं, पुरुष को कहते हैं, शब्द प्रवृत्ति-निमित्त का पुरुष में ही संभव होने से । पुरुष-योग के हेतु ये स्त्री को कहते हैं । पुंयोग नहीं होगा, तो ङीष् नहीं होगा—**देवदत्ता नाम काचित् । यज्ञदत्ता नाम काचित् ।**

---

१. **पुंयोगादाख्यायाम्** (४।१।४८) ।

यहाँ देवदत्त, यज्ञदत्त शब्द पुंवाचक होते हुए संज्ञा के कारण स्त्रीत्व को कहते हैं, पुंयोग के कारण नहीं, अतः ङीष् नहीं हुआ। **परिसृष्टा। प्रसूता। प्रजाता।** गर्भधारण पुंयोग से होता है, यह ठीक है, पर परिसृष्ट, प्रसूत, प्रजात 'पुमाख्या' नहीं हैं, अतः ङीष् नहीं हुआ।

गोपालक आदि शब्दों से पुंयोग में प्राप्त ङीष् का वार्तिककार निषेध करते हैं[1]—गोपालकस्य स्त्री **गोपालिका।** यहाँ प्रत्ययस्थ 'क्' से पूर्व 'अ' को इकार आदेश भी हुआ है।

सूर्य से पुंयोग में ङीष् न हो, किन्तु चाप् (आ) प्रत्यय हो जब स्त्री मनुषी न हो, देवता हो[2]—एसा वार्तिक पढ़ा है—सूर्यस्य स्त्री देवता **सूर्या।** अन्यत्र सूर्यस्य स्त्री मनुषी **सूरी** (कुन्ती)।

५३—इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल, आचार्य—इनमें से जिनसे पुंयोग में ही ङीष् प्रत्यय होता है उन्हें केवल आनुक् (आन्) आगम विधान किया जा रहा है। औरों से प्रत्यय तथा आगम दोनों का विधान है।[3] भव, शर्व, रुद्र, मृड—ये सब शिव के वाचक हैं। इन्द्रस्य स्त्री **इन्द्राणी। वरुणानी। भवानी। शर्वाणी। रुद्राणी। मृडानी।** आनुक् कित् है, अतः इन्द्रादि शब्दों का अन्तावयव बनता है।

हिम, अरण्य जब ये महत्त्व-योग से स्त्रीत्व में वर्तमान हों तब इनसे ङीष् प्रत्यय तथा आनुक् आगम होता है[4]—महद् हिमं **हिमानी।** महद् अरण्यम् **अरण्यानी।**

यव से ङीष् तथा आनुक् तभी होते हैं जब स्त्रीत्व-विशिष्ट शब्द दुष्ट यव को कहे[5]—दुष्टो यवो **यवानी।** यवानी वह 'यव' है जो जाति से यव (जौ) नहीं, केवल आकृति से यव है। यही यव की दुष्टता है।

'यवन' से लिपि वाच्य होने पर स्त्रीत्व में ङीष् व आनुक्[6]—यवनानां लिपिः=**यवनानी** (यूनानियों की लिपि)।

---

१. गोपालकादीनां प्रतिषेधो वक्तव्य. (वा०)।

२. सूर्याद् देवतायां चाब्वक्तव्यः (मा०)।

३. इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमारण्य-यव-यवन-मातुलाचार्य्याणा-मानुक् (४।१।४९)।

४. हिमारण्ययोर्महत्त्वे (वा०)।

५. यवाद् दोषे (वा०)।

६. यवनाल्लिप्याम् (वा०)।

उपाध्याय तथा मातुल से पुंयोग में ङीष् तो नित्य होता है, पर आनुक् आगम विकल्प से[1]—उपाध्यायस्य स्त्री उपाध्यायी। उपाध्यायानी।

जो स्वयम् अध्यापिका है तद्वाची उपाध्याय शब्द से ङीष् विकल्प से होता है[2]—उपाध्यायी। उपाध्याया (टाप्)। मातुलस्य स्त्री मातुली। मातुलानी।

आचार्य से आए हुए आनुक् आगम के 'न्' को ण् नहीं होता[3]। पुंयोग से अन्यत्र टाप् होगा—आचार्यस्य स्त्री आचार्यानी। या तु स्वयं व्याख्यात्री सा आचार्या।

अर्य (स्वामी, वैश्य) तथा क्षत्रिय शब्दों से स्वार्थ में (केवल जाति वाच्य होने पर) स्त्रीत्वविवक्षा में ङीष् व आनुक् विकल्प से होते हैं, पक्ष में टाप् रहेगा[4]। योपध होने से वक्ष्यमाण (६९) से ङीष् की प्राप्ति नहीं है—अर्याणी। अर्या (स्वामिनी, वैश्या)। क्षत्रियाणी। क्षत्रिया (क्षत्र जाति की स्त्री)। पुंयोग में ङीष् निर्बाध होगा—अर्यस्य स्त्री अर्यी। क्षत्रियस्य स्त्री क्षत्रियी।

५४—क्रीतान्त अदन्त प्रातिपदिक, जिसका पूर्वपद करणवाची है, से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप् प्रत्यय होता है।[5] वस्त्रक्रीती। धनक्रीती। वस्त्रैः क्रीता। धनेन क्रीता। वस्त्र-भिस् क्रीत इस अवस्था में ही, असुबन्त के साथ तृतीयासमास होने पर अदन्त प्रातिपदिक मिल जाता है। उससे ङीष् हुआ है। पर असुबन्त के साथ समास कैसे हो गया? (सुप्) सह सुपा, ऐसा अधिकार होने से सुबन्त का सुबन्त के साथ समास होता है। ठीक है, पर 'गति-कारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः' ऐसी परिभाषा है। अच्छा तो

सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी—यहाँ टाप् कैसे हुआ? उत्तर—कर्तृकरणे कृता बहुलम्, तृतीया-समास-विधायक इस सूत्र में बहुलग्रहण के कारण कहीं उक्त परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं भी होती। इस अवस्था में अन्तरङ्ग होने से सुप् आने से पहले ही स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् हो जाता है, पीछे सुप् होकर सुबन्त 'क्रीता' पद के साथ समास होता है।

---

१. उपाध्यायमातुलाभ्यां वा (वा०)।
२. या तु स्वयमेवाध्यापिका तत्र वा ङीष् वाच्यः (वा०)।
३. आचार्यादणत्वं च (वा०)।
४. अर्य-क्षत्रियाभ्यां वा (वा०)।
५. क्रीतात् करण-पूर्वात् (४।१।५०)।

५५—करण-पूर्वक क्तान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीष् होता है यदि समुदाय से अल्पत्व द्योतित हो[1]। कृत्प्रत्यय का उच्चारण कर जहाँ कोई विधि की जाती है वह गति-कारक पूर्वक कृत् प्रत्यय को भी होती है—**कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्** (प०)। सूत्र में 'क्तात्' ऐसा कहा है, अतः इस वचन के अनुसार करण-कारक पूर्वक क्तान्त प्रातिपदिक से भी ङीष् होगा। 'क्त' प्रातिपदिक का विशेषण होने से क्तान्त प्रातिपदिक से विधि होती है। **अभ्रविलिप्ती द्यौः**=अभ्रैरीषल्लिप्ता द्यौः। अल्पैरभ्रैर्लिप्तेत्यर्थः। यद्यपि 'अल्पत्व' अभ्र (मेघ) की उपाधि है, तो भी अभ्राल्पत्व होने पर लेपन का अल्पत्व भी अवश्य होता है, अतः 'अल्पत्व' को समुदाय की उपाधि कहा जाता है। उदाहरण में 'वि' शब्द अल्पत्व का द्योतक उपसर्ग है। 'वि' का यह अर्थ **गात्रानुलेपनी वर्तिर्वर्णकं स्याद् विलेपनम्** (अमर)—यहाँ विलेपन शब्द में तथा **यवागूरुष्णिका श्राणा विलेपी तरला च सा** (अमर) यहाँ 'विलेपी' में स्पष्ट है। इतना ही नहीं। **अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुः** (ऋ० १।१०९।२)। इस ऋक् के व्याख्यान में यास्काचार्य 'विजामातुरसुसमाप्ताज्जामातुः' ऐसा कहते हैं। उनके मत में यहाँ 'वि' असुसमाप्ति(=अपरिपूर्णता)को कहता है। उनका यह कहना है कि (इसी कारण) से दाक्षिणात्य लोग क्रीतापति को विजामाता कहते हैं। दीक्षित ने उदाहरण में इसे (वि को) छोड़ दिया है। यह अच्छा नहीं किया। प्रत्युदाहरण **अनुलिप्ता ब्राह्मणी**—में 'अनु' व्याप्ति का द्योतक वृत्तिकार की तरह दीक्षित ने भी लगाया है।

५६—क्तान्त अन्तोदात्त बहुव्रीहि से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीष् होता है।[2] इस सूत्र में स्वाङ्ग-पूर्वपद बहुव्रीहि का ग्रहण इष्ट है, कारण कि अगले सूत्र से अस्वाङ्ग पूर्वपद बहुव्रीहि से ङीष् का विकल्प कहेंगे। **शङ्खो भिन्नो यस्याः सा शङ्खभिन्नी**। 'शङ्ख' मस्तक की हड्डी को कहते हैं—**शङ्खो निधौ ललाटास्थ्नि कम्बौ न स्त्री** (अमर)। **ऊरुर्भिन्नोऽस्या इत्यूरुभिन्नी**। **गल उत्कृत्तोऽस्या गलोत्कृत्ती** (जिसका गला कट गया है)। **केशा लूना यस्याः सा केशलूनी** (मुण्डितशिरस्का)। जातिकाल—(६।२।१७०) से बहुव्रीहि समास में क्तान्त उत्तरपद अन्तोदात्त होता है। और इसी ज्ञापक से निष्ठान्त (क्तान्त) का परनिपात होता है।

---

१. क्तादल्पाख्यायाम् (४।१।५१)।

२. बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात् (४।१।५२)।

यदि 'जात' शब्द उत्तरपद होगा तो ङीष् नहीं होगा[1]—दन्ता जाता अस्याः शिशोः, दन्तजाता। स्तनौ जातावस्या बालाया इति स्तनजाता।

'पाणिगृहीती' आदि शब्दों में अर्थविशेष में ङीष् होता है[2]—पाणिर् गृहीतोऽस्या (विधिवत्) इति पाणिगृहीती भार्या। यस्यास्तु कथं चित्पाणिर्गृह्यते सा पाणिगृहीता।

पर बहु, नञ्, सु, कालवाची शब्द तथा सुखादि शब्द यदि पूर्वपद हों तो बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्त क्तान्त उत्तरपद से भी ङीष् नहीं आता है[3]—बहूनि कृतान्यस्या बहुकृता। अविद्यमानं कृतमस्या अकृता। शोभनं कृतमस्याः सुकृता। अकृता-बहुकृता-सुकृतानामुत्तरोत्तरा ज्यायसी। नञ्सुभ्याम् (६।२।१७२) तथा बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि (६।२।१७५) से यहाँ उत्तरपद क्तान्त अन्तोदात्त है अतः ङीष् का प्रसङ्ग था। कालवाची—मासजाता। संवत्सरजाता। सुखादि—सुखजाता। दुःखजाता। सुखं जातमस्याः। दुःखं जातमस्याः।

५७—अस्वाङ्गपूर्वपद बहुव्रीहि हो तो पूर्वोक्त सूत्र-विधि विकल्प से होती है[4]—शाङ्र्गं जग्धमनया सा शाङ्र्गजग्धी, शाङ्र्गजग्धा, जिस ने आर्द्रक खाया है। पलाण्डु भक्षितोऽनयेति पलाण्डुभक्षिती, पलाण्डुभक्षिता। सुरा पीताऽनयेति सुरापीती, सुरापीता। आच्छादनवाची से परे क्तान्त उत्तरपद अन्तोदात्त नहीं होता, अतः वस्त्रच्छन्ना। वसनच्छन्ना—इन बहुव्रीहि समासों में ङीष् नहीं हुआ। वस्त्रं छन्नमनया वस्त्रच्छन्ना। वसनं छन्नमनया वसनच्छन्ना(कृतवस्त्रावरणेत्यर्थः)।

५८—स्वाङ्गवाची, उपसर्जन, असंयोगोपध (जिसकी उपधा में संयोग न हो) जो शब्द, तदन्त प्रातिपदिक से विकल्प से ङीष् प्रत्यय होता है स्त्रीत्वविवक्षा में[5]। प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (१।२।४३)। समासविधायक शास्त्र में जिस पद का प्रथमा विभक्ति से निर्देश किया गया है वह 'उपसर्जन' होता है और समास में उपसर्जन का पूर्वनिपात होता है। 'उपसर्जन' का

---

१. अन्तोदात्ताज्जातप्रतिषेधः (वा०)।
२. पाणिगृहीत्यादीनामर्थविशेषे (वा०)।
३. अबहु-नञ्-सु-काल-सुखादिपूर्वादिति वक्तव्यम् (ला०)।
४. अस्वाङ्गपूर्व-पदाद्वा (४।१।५३)।
५. स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् (४।१।५४)।

एक और लक्षण भी है—**एकविभक्ति चापूर्वनिपाते** (१।२।४४)। अर्थात् समासार्थ-वाक्य में जो पद एक ही विभक्ति में नियत रहता है जबकि उसका दूसरा सम्बन्धी शब्द नाना विभक्तियों से युक्त होता है उसे भी 'उपसर्जन' कहते हैं, उपसर्जन होने पर भी उसका पूर्वनिपात नहीं होता। चन्द्रस्य मुखं चन्द्र-मुखम्। चन्द्रमुखमिव मुखं यस्याः सा **चन्द्रमुखी** (ङीष्)। **चन्द्रमुखा** (टाप्)। इस बहुव्रीहि समास में उत्तरपद 'मुख' का लोप हो जाता है। सर्वोपसर्जनो बहुव्रीहिः, बहुव्रीहि समास में सभी पद प्रथमान्त होते हैं। **अनेकमन्यपदार्थे**—यह विधायक शास्त्र है। अन्यपदार्थ के प्रधान होने से भी वर्तिपदार्थ सभी उपसर्जन हैं। अतिक्रान्ता केशान् **अतिकेशी, अतिकेशा**। यह प्रादि तत्पुरुष समास है। **अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया**—यह विधायक शास्त्र है। ऊपर कहे हुए द्वितीय लक्षण से 'केश' उपसर्जन है। अतिक्रान्त शब्द के नाना विभक्तियों के साथ योग होने पर भी 'केश' द्वितीयान्त ही रहता है।

स्वाङ्गवाची क्यों कहा? बहुयवा (वह्वो यवा यस्याः सा)। यहाँ ङीष् नहीं होता। यव स्वाङ्गवाची नहीं है यद्यपि उपसर्जन भी है और असंयोगोपध भी है। उपसर्जन क्यों कहा? अशिखा—यहाँ नञ्तत्पुरुष समास में शिखा उपसर्जन नहीं, प्रधान है। असंयोगोपध क्यों कहा? सुगुल्फा। सुपार्श्वा। शोभनौ गुल्फौ पादग्रन्थी यस्याः सा **सुगुल्फा**। शोभने पार्श्वे यस्याः सा **सुपा-र्श्वा**—यहाँ उत्तरपद के संयोगोपध होने से ङीष् न हो सका।

५६—अङ्ग, गात्र, कण्ठ—यद्यपि संयोगोपध हैं तो भी उपसर्जन अङ्गा-द्यन्त प्रातिपदिक से विकल्प से ङीष् होता है ऐसा वृत्तिकार कहते हैं।[1] यह वचन भाष्य में नहीं है, तो भी लक्ष्यानुसारी होने से ग्राह्य है—**मृद्वङ्गी**। **मृद्वङ्गा**। **सुगात्री**। **सुगात्रा**। **रक्तकण्ठी**। **रक्तकण्ठा** (सुरीले गले वाली)।

सूत्र में स्वाङ्ग शब्द पढ़ा है। स्वाङ्ग का क्या अर्थ है इसे भाष्य में एक कारिका द्वारा कहा है—

अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथा युतम्॥

जो द्रव न हो वह स्वाङ्ग है। अतः स्वेद के द्रवरूप होने से स्वाङ्ग न होने से **सुस्वेदा**—यहाँ ङीष् नहीं हुआ। मूर्तिमान् पदार्थ स्वाङ्ग होता है, अतः **सुज्ञाना**—यहाँ ज्ञान के मूर्तिमान् (साकार, सत्त्व-रूप) न होने से स्वा-

---

१. अङ्ग-गात्र-कण्ठेभ्य इति वक्तव्यम् (वा०)।

ङ्गता नहीं, सो ङीष् नहीं हुआ। स्वाङ्ग प्राणिस्थ होता है, अतः **सुमुखा शाला**—यहाँ मुख के प्राणिस्थ न होने से स्वाङ्ग न होने पर ङीष् नहीं हुआ। अतः **फलमुखी कारणमुखी चानवस्था**—ऐसा प्रयोग प्रामादिक ही है। विकारज (रोगादि विकार से उत्पन्न) स्वाङ्ग नहीं होता। अतः **सुशोफा** (अतिशयितः शोफः श्वयथुर्यस्याः सा)—यहाँ विकारज होने से शोफ स्वाङ्ग नहीं है। स्वाङ्ग न होने से ङीष् नहीं हुआ। वह भी स्वाङ्ग होता है जो चाहे इस समय प्राणिस्थ नहीं, तो भी पहले प्राणिस्थ देखा गया है (अततस्थं तत्र दृष्टं च)। इस वचन के अनुसार रथ्या में पड़े हुए 'केश' भी 'स्वाङ्ग' हैं, अतः **सुकेशी, सुकेशा रथ्या**—यहाँ विकल्प से ङीष् होगा। और जो पदार्थ संस्थान-विशेष-विशिष्ट होकर जैसे प्राणी के साथ युक्त होता है वैसे ही यदि अप्राणी के साथ युक्त होता है वह भी 'स्वाङ्ग' है—**सुस्तनी प्रतिमा। सुस्तना प्रतिमा।** कारिका में तेन=तत्सदृशेन। स्तन का जैसे संनिवेश प्राणिनी स्त्री में होता है वैसे ही स्तनसदृश पदार्थ का स्त्रीप्रतिकृति प्रतिमा में होता है। स्त्रीस्तन है ऐसी प्रतीति होती है।

५९—स्वाङ्ग उपसर्जन जो नासिका, उदर, ओष्ठ, जङ्घा, दन्त, कर्ण, शृङ्ग, तदन्त से स्त्रीत्वविवक्षा में विकल्प से ङीष् होता है[1]। नासिका, उदर इन बह्वचों से वक्ष्यमाण (६३) से ङीष् का निषेध प्राप्त था। शेष संयोगोपध हैं उनसे ङीष् की प्राप्ति न थी। तुङ्गे नासिके यस्याः सा **तुङ्गनासिकी। तुङ्गनासिका। कृशोदरी। कृशोदरा। शातोदरी। शातोदरा। मन्दोदरी। मन्दोदरा।** मन्द=अल्प। बिम्बमिव ओष्ठोऽस्या **बिम्बोष्ठी। बिम्बोष्ठा। दीर्घजङ्घी। दीर्घजङ्घा।** दीर्घे जङ्घे यस्याः सा। **चारुदन्ती। चारुदन्ता। चारुकर्णी। चारुकर्णा।** चारू कर्णौ यस्याः सा। **तीक्ष्णशृङ्गी। तीक्ष्णशृङ्गा।** तीक्ष्णे शृङ्गे यस्याः सा।

६०—स्वाङ्ग उपसर्जन 'पुच्छ' शब्द से भी विकल्प से ङीष् होता है[2]—**कल्याणपुच्छी। कल्याणपुच्छा।** कल्याणं पुच्छं यस्याः सा।

६१—कबर, मणि, विष, शर—इनके पूर्वपद होने पर स्वाङ्ग उपसर्जन जो पुच्छ शब्द तदन्त प्रातिपदिक से ङीष् नित्य होता है[3]—**कबरपुच्छी मयूरी।** कबर=कर्बुर। **मणिपुच्छी। विषपुच्छी वृश्चिकी। शरपुच्छी।**

---

१. नासिकोदरौष्ठ-जङ्घा-दन्त-कर्ण-शृङ्गाच्च (४।१।५५)।
२. पुच्छाच्चेति वक्तव्यम्। (वा०)।
३. कबर-मणि-विष-शरेभ्यो नित्यम् (वा०)।

६२—उपमानवाची पूर्वपद से भी स्वाङ्ग उपसर्जन पुच्छान्त पक्षान्त प्रातिपदिक से नित्य ङीष् होता है[1]—उलूकपुच्छी सेना। उलूकस्य पुच्छम् उलूकपुच्छम्। उलूकपुच्छमिव पुच्छं यस्याः सा। उलूकपक्षी सेना।

६३—स्वाङ्ग उपसर्जन जो क्रोडा (घोड़े की छाती), तत्प्रकारक जो शब्द तदन्त प्रातिपदिक से तथा बह्वजन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व में ङीष् नहीं होता।[2] (५९) से जो प्राप्ति थी उसका निषेध है। कल्याणक्रोडाऽश्वा। कल्याणखुराऽश्वा। कल्याणाः खुरा यस्याः सा। कल्याणघोणाऽश्वा। घोणा=नासिका। बह्वच् से भी—कल्याणजघना योषा। पृथुजघना। महाललाटा। महल्ललाटं यस्याः सा। ललाट नपुं० है। ललाटमलिकं गोधिः (अमर)। पादार्पितेक्षणा (कुमार० ६।११)। पादयोरर्पिते ईक्षणे नयने यया सा।

६४—(५८) से तथा नासिका, उदर आदि स्वाङ्ग उपसर्जन से जो वैकल्पिक ङीष् विधान किया है (५९), वह नहीं होता जब सह, नञ्, विद्यमान—पूर्वपद हों[3]—सकेशा। अकेशा। विद्यमानकेशा। सनासिका। अनासिका। विद्यमाननासिका। सहोदरा। सह समानमुदरं यस्याः सा। अनुदरा कन्या। अल्पोदरी इत्यर्थः। विद्यमानोदरा।

६५—नख-मुखान्त प्रातिपदिक से संज्ञा में ङीष् नहीं होता[4]—

शूर्पणखा नाम रावणस्वसा। संज्ञा होने से ही यहाँ पूर्वपदात्संज्ञायामगः (८।४।३) से णत्व भी हुआ है। संज्ञा न होगी तो ङीष् होगा और णत्व नहीं होगा—शूर्पनखी। शूर्प इव नखा यस्याः सा। शूर्प पुं०, नपुं०, है, और नख भी।

६६—दिक्पूर्वपद स्वाङ्ग उपसर्जन जो मुखादि शब्द तदन्त प्रातिपदिक से ङीप् विकल्प से होता है[5]। स्वर-भेद के लिये ङीप् विधान किया है—प्राङ्मुखी। प्राङ्मुखा। प्राक् मुखं यस्याः। पराङ्मुखी। पराङ्मुखा। प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः (कु० सं० ३।२८)। परन्तु प्राग्गुल्फा। प्राक्क्रोडा। प्राग्जघना—यहाँ ङीप् नहीं हुआ, कारण कि ङीष्

---

१. उपमानात्पक्षाच्च पुच्छाच्च (वा०)।
२. न क्रोडादि-बह्वचः (४।१।५६)।
३. सह-नञ्-विद्यमानपूर्वाच्च (४।१।५७)।
४. नख-मुखात् संज्ञायाम् (४।१।५८)
५. दिक्पूर्वपदान्ङीप् (४।१।६०)।

के विषय में ङीप् अपवाद विधान किया है। इन में तो ङीष् की प्राप्ति ही नहीं है, अतः ङीप् भी नहीं होता।

६७—ण्विप्रत्ययान्तान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीष् होता है।[1] पूर्व सूत्र से ङीप् की अनुवृत्ति नहीं आती। दित्यौही। प्रष्ठौही। दितिं वहतीति दित्यौही। प्रष्ठं वहतीति प्रष्ठौही (जिसके पहली वार बच्चा हुआ है)। ङीष् परे रहते वाहन्त प्रातिपदिक की 'भ'-संज्ञा होने से 'व्' को ऊठ् (ऊ)। वकारोत्तरवर्ती 'अ' को पूर्व का ही रूप बनाकर एत्येधत्यूठ्सु (६।१।८९) से वृद्धि एकादेश हो जाता है।

६८—सखी, अशिश्वी—ये शब्द भाषा (लोकभाषा में) में प्रयोगार्ह हैं ऐसा आचार्य कहते हैं।[2] सखीयं मे तनूजाया रमायाः। इयमशिश्वीति निन्दति स्वानि भाग्यानि। अविद्यमानः शिशुर् यस्याः। अनपत्येत्यर्थः। वेद में सखी के स्थान में सखा (सखि का प्रथमा एक०) प्रयुक्त हुआ है—सखा सप्तपदी भव। अशिशुमिव मामयं शिशुरभिमन्यते (काशिका)। यहाँ 'अशिशु' बहुव्रीहि है और स्त्रीलिङ्ग है।

६९—जातिवाची प्रातिपदिक जो नित्य स्त्रीलिङ्ग नहीं और जो यकारोपध नहीं, उससे स्त्रीत्व में ङीष् प्रत्यय होता है[3]—कुक्कुटी। सूकरी। ब्राह्मणी। वृषली (शूद्रजाति की स्त्री, शूद्रा)।

जाति क्या पदार्थ है इसे कहते हैं—

> आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
> सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥

तत्तद्व्यक्तियों में अनुगत (सम्बद्ध) जो आकृति-विशेष पाया जाता है उसके साधर्म्य से जाति का ग्रहण होता है। इसके अनुसार कुक्कुट, सूकर आदि जाति हैं। एक कुक्कुट वा सूकर के अवयव-संस्थान-विशेष को देखकर ये सभी कुक्कुट वा सूकर हैं इस प्रकार जाति का बोध हो जाता है। कुक्कुट एक व्यक्ति है, सूकर एक व्यक्ति है। व्यज्यते जातिरनयेति व्यक्तिः, व्यक्ति से जाति व्यङ्ग्य होती है। कुक्कुटादि व्यक्तिवाचक होते हुए जातिवाचक हैं। अच्छा तो ब्राह्मण वृषल आदि जातिशब्द कैसे हुए? आकृति से तो ब्राह्मणत्व

---

१. वाहः (४।१।६१)।

२. सख्यशिश्वीति भाषायाम् (४।१।६२)।

३. जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् (४।१।६३)।

आदि की पहचान होती नहीं। ठीक है, अतः दूसरा लक्षण कहा—**असर्वलिंगत्वे सति सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या**, एक बार ब्राह्मण आदि में ब्राह्मणादि शब्द प्रयोग द्वारा ब्राह्मणत्वादि के कहे जाने पर उस ब्राह्मणादि के भाई, पुत्रादि में भी बिना बतलाए ब्राह्मणत्वादि का बोध हो जाता है। ऐसा जहाँ हो वहाँ भी जाति मानी जाती है। अच्छा तो औपगवी, नाडायनी, चारायणी, कठी, बह्वृची—यहाँ जातिलक्षण ङीष् कैसे हुआ? उक्त लक्षण-द्वय से तो औपगव आदि जातिवाचक नहीं हैं। ठीक है, अतः तीसरा लक्षण कहते हैं—**गोत्रं च चरणैः सह**। अपत्यप्रत्ययान्त तथा चरणवाची शब्द भी जाति न होते हुए भी जातिकार्य के लिए जाति मान लिए गए हैं। उपगोरपत्यम् औपगवः। स्त्रियाम्—**औपगवी**। यहाँ 'गोत्र' से अपत्यमात्र का ग्रहण होता है। अपत्याधिकार से अन्यत्र प्रयुक्त हुआ गोत्रशब्द अपत्यमात्र का वाचक होता है। नडस्य गोत्रापत्यं नाडायनः। स्त्रियाम्—**नाडायनी**। चरस्य गोत्रापत्यं स्त्री **चारायणी**। कठ शब्द चरणवाची है, बह्वृच भी। चरण वेदशाखाध्यायी को कहते हैं। कठेन प्रोक्तमधीते **कठी**। बह्व ऋचोध्येतव्या यस्याः सन्ति सा **बह्वृची**। ऋक्-शाखा (शाकलक आदि) पढ़ने वाली स्त्री।

ब्राह्मण शब्द शार्ङ्गरवादिगण (८३) में पढ़ा है। इस कारण इससे ङीन् होना चाहिए, ङीष् नहीं, ऐसा दीक्षित का कहना है और यह ठीक है। अतः काशिका के अनुसार यहाँ ङीष् उदाहरण अयुक्त है ऐसा समझना चाहिए। **देवदत्ता** नाम स्त्री—यहाँ जाति न होने से ङीष् नहीं हुआ। मुण्डा—यहाँ मुण्डगुण के कारण स्त्री को 'मुण्डा' कहा है, सो 'मुण्ड' जाति शब्द नहीं। **बलाका**—नित्य स्त्रीलिङ्ग होने से जाति होने पर भी ङीष् नहीं हुआ। बलाक नाम का कोई पदार्थ नहीं। **बलाका बिसकण्ठिका** (अमर)। **मक्षा** (ऋग्वेदस्थ प्रयोग)—यहाँ भी नित्यस्त्रीलिङ्ग होने से ङीष् नहीं हुआ। मक्षिका में स्वार्थ में कन् होकर ह्रस्व होकर 'क' पूर्व 'अ' को इ हुआ है। 'मक्षी' कोई शब्द नहीं। **क्षत्रिया**—यहाँ योपध होने से ङीष् नहीं हुआ। सामान्यविधि से प्राप्त टाप् हुआ। ऐसे ही 'वैश्या'—यहाँ भी।

शूद्रादायोगवः क्षत्ता चाण्डालश्चाधमो नृणाम्। वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः (मनु० १०।१२)॥ यहाँ 'विप्रा' में तथा **'नृपायां वैश्यतश्चौर्यात् पुलिन्दश्चेति कीर्तितः'** (औशनस स्मृति श्लोक १६)—यहाँ 'नृपा' में जातिलक्षण ङीष् क्यों नहीं हुआ? उत्तर—इन्हें क्रिया-शब्द मानकर जाति की

अविवक्षा में टाप् हुआ है। ऐसे ही परभृतोन्मुखी (चूतयष्टिः) (कुमार० ६।२) 'परभृता' के विषय में जानें। वस्तुतः यहाँ व्यवहार एकमात्र शरण है।

७०—हय, गवय, मुकय, मनुष्य, मत्स्य—इन जातिवाचकों से यकारोपध होने पर भी ङीष् का प्रतिषेध नहीं होता[1]—हयी (घोड़ी)। **गवयी** (नील गाय)। **मुकयी** (मनुष्य जाति की स्त्री)। **मनुषी**। यहाँ हल् से परे तद्धित 'य' का लोप हो जाता है। **मत्सी**। 'मत्स्य' से ङीष् आने पर सूर्य-तिष्य—(६।४।१४९) में पढ़े हुए **मत्स्यस्य ङ्याम् इति वक्तव्यम्**—इस वार्तिक से उपधा-भूत 'य्' का लोप।

७१—पाक, कर्ण, पर्ण, पुष्प, फल, मूल, वाल—ये जब उत्तरपद हों और समुदाय जातिवाची हो. तब एतदन्त प्रातिपदिक से ङीष् होता है[2]। ये सब पाकाद्यन्त प्रातिपदिक ओषधि-विशेष के वाचक नित्य स्त्रीलिंग हैं। इनसे (६९) से ङीष् की प्राप्ति नहीं थी। **ओदनपाकी। शङ्कुकर्णी। शालपर्णी। शङ्खपुष्पी। दासीफली। दर्भमूली। गोवाली।**

जिन पाकाद्यन्त प्रातिपदिकों से ङीष् इष्ट नहीं, वे अजादिगण में पढ़े हैं।

७२—इकारान्त मनुष्य जातिवाची प्रातिपदिक से स्त्रीत्व में ङीष् होता है।[3]

अवन्ति, कुन्ति—ये जनपदशब्द क्षत्रियवाची हैं। **अवन्तयो नाम जनपदाः। अवन्तयो नाम क्षत्रियाः।** अवन्ति और कुन्ति से अपत्यार्थ में ञ्यङ् (य) प्रत्यय होता है। जिसका स्त्री वाच्य होने पर लुक् हो जाता है। **अवन्तेर् अपत्यं स्त्री अवन्ती** (ङीष्)। **कुन्तेरपत्यं स्त्री कुन्ती**। अपत्यप्रत्ययान्त की जातिसंज्ञा की है। अपत्य प्रत्यय ञ्यङ् के लुक् होने पर भी प्रत्ययलक्षण से अवन्ति, कुन्ति अपत्यप्रत्ययान्त ही हैं। आङ्ग कार्य में ही प्रत्ययलक्षण का निषेध है। ङीष् आङ्ग कार्य नहीं। **दक्षस्यापत्यं स्त्री दाक्षी**। दाक्षि में इञ् अपत्यार्थ में हुआ है, तदन्त से ङीष् हुआ है। एवं **प्लाक्षी**। प्लाक्षि—ङीष्। **तित्तिरिः**—यहाँ इकारान्त होने पर भी मनुष्यजाति न होने से ङीष् नहीं हुआ। **औदमेयि**—**उदकं मेयमस्येति उदमेयः** (कश्चित्)। **उदमेयस्यापत्यं पुमान् औदमेयिः** (इञ्)।

---

१. योपधप्रतिषेधे हय-गवय-मुकय-मनुष्य-मत्स्यानामप्रतिषेधः (वा०)।
२. पाक-कर्ण-पर्ण-पुष्प-फल-मूल-वालोत्तरपदाच्च (४।१।६४)।
३. इतो मनुष्यजातेः (४।१।६५)।

औदमेयी स्त्री। (ङीष्)। 'जाति' की अनुवृत्ति (६९) से आ रही थी तो फिर इस सूत्र में जातिग्रहण जो किया है उसके सामर्थ्य से यकारोपध होने पर भी ङीष् हो गया।

७३—अजाति-वाचक इञ्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से भी स्त्रीत्व में ङीष् होता है[1]—सौतङ्गमी। सुतङ्गमेन निर्वृत्ता नगरी इस अर्थ में चातुरर्थिक इञ् तद्धित होता है। तदन्त से ङीष् हुआ।

७४—मनुष्य-जातिवाची ह्रस्व उकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व में ऊङ् (ऊ)प्रत्यय होता है।[2] कुरोरपत्यं स्त्री कुरूः। कुरु शब्द से अपत्यार्थ में आए ण्य प्रत्यय का स्त्रीत्व द्योत्य होने पर लुक् हो जाता है। तब उकारान्त कुरु शब्द के प्रत्ययलक्षणसे अपत्यप्रत्ययान्त होने पर जातिवाची होने से ऊ (ङ्) प्रत्यय हुआ। ब्रह्मबन्धूः। 'ब्रह्मबन्धु' वृत्त-स्वाध्याय-विहीन ब्राह्मणजाति को कहता है। यह असर्वलिंगता के कारण जातिशब्द है। ब्रह्मबन्धु पुं० और स्त्री० ही होता है, नपुं० कभी नहीं। ऊङ् अयोपध से ही होता है—अध्वर्युः ब्राह्मणी। यहाँ नहीं हुआ।

७५—अप्राणि-जातिवाचक रज्जु आदि से भिन्न प्रातिपदिक से भी स्त्रीत्व में ऊङ् आता है[3]—अलाबूः। कर्कन्धूः। इस वार्तिक में सूत्र-पठित 'उतः' अपेक्षित नहीं, अतः दीर्घ ऊकारान्त अलाबू, कर्कन्धू शब्दों से भी ऊङ् होता है। तो ऊङ् विधान किसलिए किया? इसलिए कि अलाब्वा, कर्कन्ध्वा में नोङ्धात्वोः (६।१।१७५) से स्वरविधि हो। अप्राणी क्यों कहा—कृकवाकुः (कुक्कुटी)। रज्जु आदि से भिन्न ऐसा क्यों कहा? रज्जुः। हनुः (स्त्री०,जबड़ा)।

७६—बाह्वन्त (बाहु शब्द है अन्त में जिसके) प्रातिपदिक से संज्ञाविषय में स्त्रीत्व के द्योत्य होने पर ऊङ् प्रत्यय होता है[4]—भद्रबाहूर्नाम काचित्। संज्ञा न होने पर वृत्तबाहुः स्त्री। वृत्तौ परिमण्डलौ बाहू यस्याः सा। यहाँ ऊङ् नहीं हुआ। वृत्त=वर्तुल=गोल।

---

१. इञ उपसंख्यानमजात्यर्थम् (वा०)।
२. ऊङुतः (४।१।६६)।
३. अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनाम् (वा०)।
४. बाह्वन्तात्संज्ञायाम् (४।१।६७)।

७७—पङ्गु शब्द जो जातिवाचक नहीं, किन्तु गुणवाची है, से स्त्रीत्व में ऊङ् प्रत्यय आता है[1]—अयं पङ्गुः। इयं पङ्गूः।

७८—श्वशुर शब्द के उकार तथा अन्त्य 'अ' का लोप होता है और ऊङ् प्रत्यय आता है।[2] यह पुंयोग में ऊङ्विधान है—श्वशुरस्य स्त्री श्वश्रूः।

७९—उपमानपूर्वपद वाले ऊरु-उत्तरपद वाले प्रातिपदिक से उपमा की प्रतीति होने पर स्त्रीत्वविवक्षा में ऊङ् प्रत्यय होता है[3]—करभोरूः। करभ उष्ट्रशिशुः। करभस्य ऊरू—करभोरू। करभोरू इवोरू यस्याः सा। नागनासोरूः। नागनासा इव ऊरुर्यस्याः सा नागनासोरूः। 'करभोपमोरुः। यहाँ करभ उमानवाची तो है, पर पूर्वपद नहीं, अतः ऊङ् नहीं हुआ।

८०—संहित (=संश्लिष्ट, जुड़ा हुआ), शफ (खुर), लक्षण (=लक्षण-वान्=सुलक्षण), वाम (=सुन्दर)—इन पूर्वपदों के होने पर ऊरु उत्तरपद वाले प्रातिपदिक से स्त्रीत्व में ऊङ् प्रत्यय होता है[4]। यहाँ पूर्वपद उपमान-वाची नहीं हैं, अतः (७९) से ऊङ् की प्राप्ति नहीं थी—संहितोरूः शफोरूः। लक्षणोरूः। वामोरूः।

८१—सहित, सह के पूर्वपद होने पर भी ऊरूत्तरपदान्त प्रातिपदिक से भी ऊङ् प्रत्यय आता है[5]। सहित=संहित। 'समो वा हिततततयोः' इस वचन से सम् के 'म्' का विकल्प से लोप हो जाता है। सहितोरूः। सहोरूः।

८२—कद्रु तथा कमण्डलु शब्दों से संज्ञाविषय में स्त्रीत्व में ऊङ् प्रत्यय होता है[6]—कद्रूः सर्पमाता। कमण्डलूः।

८३—शार्ङ्गरव आदि गणपठित शब्दों से तथा अञन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीन् (ई) प्रत्यय होता है[7]। ङीन्नन्त आद्युदात्त होता है। शृङ्गरु शब्द से अपत्यार्थ में अण् करके 'शार्ङ्गरव' रूप निष्पन्न होने पर

---

१. पङ्गोश्च (४।१।६८)।
२. श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च वक्तव्यः (वा०)।
३. ऊरूत्तरपदादौपम्ये (४।१।६९)।
४. संहित-शफ-लक्षण-वामादेश्च (४।१।७०)।
५. सहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम् (वा०)।
६. संज्ञायाम् (५।१।७२)।
७. शाङ्र्गरवाद्यञो ङीन् (४।१।७३)।

(अपत्यप्रत्ययान्त की भी जातिसंज्ञा है यह पूर्व कह आए हैं)। इस ङीष् को बाधकर ङीन् विधान किया है। शार्ङ्गरवी (शृङ्गरोरपत्यं स्त्री)। बिदस्यापत्यं स्त्री बैदी। अअन्त बैद से ङीन्। ब्राह्मण—ब्राह्मणी। गौतम (ऋष्यणन्त) अणन्त होने से ङीप् की प्राप्ति होती है, उसे जातिलक्षण ङीष् बाधता है। —गौतमी। कामण्डलेय (ढअन्त)—कामण्डलेयी (ङीन्)। वात्स्यायन (फक्-प्रत्ययान्त)—वात्स्यायनी (ङीन्)। गोत्रप्रत्ययान्त से युवापत्य में प्रत्यय होता है पर स्त्रीत्वविवक्षा में नहीं। पर यहाँ 'वात्स्यायन' शब्द के पाठ से 'वात्स्य' से स्त्रीत्वविषय में भी युवापत्य अर्थ में प्रत्यय हुआ है। काव्य, शैब्य—गोत्रापत्य में यअन्त पढ़े हैं। हलस्तद्धितस्य (६।४।१५०) से हल् से उत्तर तद्धित यकार का 'ई' परे होने पर लोप होकर कावी, शैबी ङीन्प्रत्ययान्त रूप होते हैं।

यह ङीन् जातिवाचक से होता है। पुंयोग में तो ङीष् निर्बाध होगा—शाङ्र्गरवस्य स्त्री=शाङ्र्गरवी। बैदस्य स्त्री=बैदी। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त।

८४—नृ, नर से ङीन् प्रत्यय होता है और साथ ही इन्हें वृद्धि भी होती है।[1]

नृ—नारी। नर—नारी। यहाँ वार्णादाङ्गं बलीयः, वर्ण-सम्बन्धी कार्य से अङ्ग-सम्बन्धी कार्य अधिक बलवान् होता है, इस परिभाषा से पहले यस्येति च (६।४।१४८) से 'नर' के रकारोत्तरवर्ती अकार का लोप हो जाता है। अब 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त्य अल् 'र्' को वृद्धि प्राप्त होती है पर 'स्थानेऽन्तरतमे' (सप्तम्यन्त पाठ मानकर) से आदेश अपने अन्तरतम स्थानी को होता है। वृद्धि आ, ऐ, औ का अन्तरतम-स्थानी रेफ नहीं। नकारोत्तरवर्ती 'अ' वृद्धिरूप 'आ' आदेश का अन्तरतम स्थानी है। सो नृनरयोः वाली षष्ठी उसके साथ जुड़ जायगी। इस प्रकार अनन्त्य अकार को भी वृद्धि होगी।

यद्यपि गणसूत्र में पढ़े हुए नृ, नर में से किसी एक के ग्रहण से 'नारी' यह इष्टरूप सुलभ होता है तो भी एक के त्याग से अनिष्ट रूप प्रसक्त न हो, इसलिए दोनों को पढ़ा है। ऐसा है तो किन्नरीणां नरीणाम् इस कविवाक्य में 'नरी' यह कैसे साधु होगा? नरस्य स्त्री नरी—पुंयोग में ङीष् हुआ है, ऐसा समझना चाहिए।

गण में पुत्र शब्द भी पढ़ा है। स्त्रीत्व द्योत्य होने पर पुत्र से ङीन्—

---

१. नृनरयोर्वृद्धिश्च (वा०)।

पुत्त्री। यहाँ हरदत्तादि कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि पुत्त्र शब्द केवल (=पूर्व-पदरहित) स्त्रीत्व को नहीं कहता। उनका ऐसा कहना ठीक नहीं। देखिए अमर क्या कहता है—**आत्मजस्तनयः सूनुः पुत्त्रः स्त्रियां त्वमी। आहुर्दुहितरं सर्वे।** कविप्रयोग भी इसका समर्थन करते हैं—**पुत्त्रीव हर्षं हृदये तनोति।** यह केवल का उदाहरण है। **कुर्वे तदुर्वीपतिपुत्त्रि सर्वम्**—यह समासान्त पुत्त्र शब्द का उदाहरण है। इसलिए **कारे सत्यागदस्य** (६।३।७०) सूत्र पर पढ़ा हुआ '**सूतोग्र-राज-भोज-मेरुभ्यो दुहितुः पुत्त्रड् वा**—यह वार्तिक व्यर्थ है। हरदत्त ने भी सूतपुत्त्री, राजपुत्त्री इत्यादि में पुत्त्र शब्द स्वभाव से ही दुहिता अर्थ को कहता है, इस अभिप्राय से कुछ लोग गण में पुत्त्र शब्द पढ़ते हैं ऐसा कहा है।

८५—यङन्त से स्त्रीत्व द्योत्य होने पर चाप् (आ) प्रत्यय आता है।[1] यङ् से ञ्यङ्, ष्यङ् दोनों का ग्रहण होता है। ञ्यङः ष्यङश्च सामान्यग्रहण-मेतत् (काशिका)। विशेषकराननुबन्धानुत्सृज्य यत्सामान्यं यङ्मात्रं तस्येदं ग्रहणम् (न्यास)। आम्बष्ठस्यापत्यं स्त्री आम्बष्ठ्या। **वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्** (४।१।१७१) से अपत्यार्थ में ञ्यङ् प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षा में चाप् प्रत्यय होता है। कोसलस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री **कौसल्या**। ष्यङन्त से भी—**कारीषगन्ध्या**। करीषस्येव गन्धोऽस्येति करीषगन्धिः (इ समासान्त)। करीष-गन्धेरपत्यं पुमान् कारीषगन्धः (अण्)। अत्र यहाँ स्त्रीत्वविवक्षा में अण् के स्थान में ष्यङ् आदेश होता है और ष्यङन्त से चाप् प्रत्यय होता है।

८६—आवट्य (गर्गादि यञन्त) से स्त्रीत्वविवक्षा में चाप् प्रत्यय आता है[2]—**आवट्या**।

८७—युवन् प्रातिपदिक से स्त्रीत्वविवक्षा में 'ति' प्रत्यय होता है[3]। इस 'ति' की तद्धित संज्ञा है। तद्धित सुबन्त से होते हैं (अत्यन्त स्वार्थिक तद्धितप्रत्यय को छोड़कर), अतः युवन् सु ति—यहाँ अन्तर्वर्तिनी सुप् विभक्ति का लुक् होने पर प्रत्ययलक्षण से 'युवन्' पद है और पद-स्वरूप प्रातिपदिक के अन्त्य 'न्' का लोप हो जाता है (नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य)—**युवतिः**।

---

१. यङश्चाप् (४।१।७४)।
२. आवट्याच्च (४।१।७५)।
३. यूनस्तिः (४।१।७७)।

अनुपसर्जनात्—यह अधिकार होने से उपसर्जन युवन् से 'ति' नहीं होगा—बह्वो युवानोऽस्यां नगर्यां बहुयुवा नगरी ।

जो कहीं 'युवती' प्रयोग मिलता है वह यु (तुदा०) से शतृ प्रत्यय करके (८) से ङीप् आने पर सिद्ध होता है। सिद्धि होने पर भी अवस्था का बोध नहीं होगा ।

यहाँ स्त्रीप्रत्ययों का विधान समाप्त हुआ ।

स्त्रीप्रत्यय-सम्बन्धी कार्य—

८८—प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व जो अकार (ह्रस्व अ) उसे इकार (ह्रस्व इ) आदेश हो जाता है जब परे आप् (टाप्) हो, पर वह आप् सुप् से परे न हो[1]—कारिका । सर्विका । यहाँ कारक, सर्वक में 'क' प्रत्यय का है। ण्वुल् (अक) और कन् (स्वार्थिक तद्धित) प्रत्यय हुए हैं। इनसे परे अदन्त होने से स्त्रीत्वविवक्षा में (१) से टाप् हुआ। टाप् परे रहते प्रत्ययस्थ 'क' से पूर्व वर्तमान 'अ' को इकार आदेश हुआ है। 'अ' को इकार आदेश कहा है अतः नौका—यहाँ आदेश नहीं हुआ। प्रत्ययस्थ 'क' से पूर्व के 'अ' को आदेश कहा है, अतः शका (शक्नोतीति शका=समर्था) में 'इ' आदेश नहीं हुआ। यहाँ ककार धातु का है, प्रत्यय का नहीं। प्रत्यय तो यहाँ पचाद्यच् हुआ है। आप् सुप् से परे न हो—ऐसा क्यों कहा ? बहुपरिव्राजका ग्रामटिका। बहवः परिव्राजका यस्यां सा। यहाँ सुवन्त बहु का सुवन्त परिव्राजक के साथ समास होने पर समास की प्रातिपदिक संज्ञा (कृत्तद्धित-समासाश्च) होने पर अन्तर्वर्तिनी सुप् विभक्ति का लुक् होने पर भी प्रत्यय-लक्षण से 'बहुपरिव्राजक' में परिव्राजक सुवन्त ही है। अब स्त्रीत्व-विवक्षा में जो टाप् आता है वह स्पष्ट रूप से सुप् से परे है, अतः इकार आदेश नहीं हुआ। एवं सन्देहपदेषु वस्तुषु सतामन्तःकरणप्रमाणका प्रवृत्तिः प्रायेण। अन्तःकरणं प्रमाणं यस्याः सा। शेषाद् विभाषा (५।४।१५४) से विकल्प से कप् समासान्त। प्रत्ययस्थ ककार से पूर्ववर्ती 'अ' को 'इ' कहा है, अतः ककार से परे जो 'अ', उसको आदेश नहीं होता—कटुका। तपर अ (अत्) क्यों कहा ? राका (पौर्णमासी)—यहाँ 'आ' के स्थान में इकार आदेश नहीं होता। कृ-दा-धा-रार्ऽचि-कलिभ्यः कः, इस उणादि सूत्र से रा दाने अदा० से 'क' प्रत्यय होता है। बाहुलकात् प्रत्यय के आदि ककार की इत्संज्ञा नहीं होती।

---

१. प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः (७।३।४४)।

संज्ञापूर्वक जो विधि होती है वह अनित्य होती है, अतः केऽणः (७।४।१३) से 'रा' के 'आ' को ह्रस्व नहीं होता।

८९—मामक, तथा नरक से आप् प्रत्यय आने पर क से पूर्व 'अ' को 'इ' आदेश होता है[1]—मामिका। नरिका। 'ममक' में 'क' प्रत्ययस्थ नहीं। अस्मद् के स्थान में एकवचन में 'ममक' आदेश विधान किया है, सो यहाँ 'क' स्पष्ट ही प्रत्ययस्थ नहीं, अतः इकार आदेश की प्राप्ति न थी। 'नरिका' में भी 'क' प्रत्ययस्थ नहीं किन्तर्हि धातुस्थ है—नरान् कायतीति नरिका। यहाँ कै (गै) शब्दे से आत्व करने पर आतोऽनुपसर्गे कः (३।२।३) से क प्रत्यय (अ-प्रत्यय) होता है और आतो लोप इटि च (६।४।६४) से धात्वाकार का लोप। अतः यहाँ भी सूत्र से इत्त्व की प्राप्ति नहीं थी।

९०—त्यक्, त्यप् से परे जो प्रत्ययस्थ ककार उससे पूर्व 'अ' को इकार आदेश होता है।[2] यह वक्ष्यमाण (९२) विकल्प का अपवाद है। दक्षिणा (आच्प्रत्ययान्त अव्यय)=दक्षिणस्यामदूरे भवा दाक्षिणात्या। त्यक्। टाप्। सैवाज्ञाता दाक्षिणात्यिका। अज्ञात अर्थ में 'क' प्रत्यय हुआ। केऽणः(७।४।१३) से अन्त्य आकार को ह्रस्व। ततः टाप्। इह भवा=इहत्या। अव्ययात् त्यप्। इससे भी अज्ञात अर्थ में क प्रत्यय, ततः टाप्। क प्रत्यय परे रहते केऽणः से ह्रस्व। अज्ञाता इहत्या=इहत्यिका।

९१—यद्, तद् के विषय में प्रत्ययस्थ 'क' से पूर्व 'अ' को इकार आदेश नहीं होता।[3] यद् से स्वार्थ में अकच्। त्यदादीनामः (७।२।१०२) से 'अ' अन्तादेश। स्त्रीत्व में टाप्। तद् के अनन्त्य 'त्' को 'स्'। अकच् (अक) टि से पूर्व होता है—यका। सका। अकच्प्रत्ययान्त से टाप्।

९२—त्यकन् प्रत्यय के 'क्' से पूर्व 'अ' को 'इ' नहीं होता आप् परे रहते[4]—उपत्यका। अधित्यका। उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका (अमर)।

९३—आशिष् अर्थ में जो वुन् (अक) उसके 'क' से पूर्व 'अ' को 'इ' नहीं

---

१. मामकनरकयोरुपसंख्यानम् (वा०)।
२. त्यक्त्यपोश्च (वा०)।
३. न यासयोः (७।३।४५)।
४. त्यकनश्च निषेधः (वा०)।

होता आप् परे रहते[1]—जीवका ममात्मजा (जीव्यादिति जीवका)।

९४—उत्तरपद का लोप होने पर प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व 'अ' को 'इ' नहीं होता आप् परे रहते[2]—देवदत्तिका (यहाँ आदेश हुआ)। पर देवका (उत्तरपद-लोप होने पर) यहाँ नहीं हुआ।

९५—क्षिपक आदि शब्दों में भी यह उक्तादेश नहीं होता[3]। क्षिपतीति क्षिपः। इगुपध-लक्षण 'क'। टाप्। अज्ञातादि अर्थ में तद्धित 'क' प्रत्यय। स्त्रियां टाप्। क्षिपका। एवं चटका। वार्तिकोक्त गण आकृतिगण होते हैं अतः कन्यका, ध्रुवका, अलका, इष्टका आदि शब्दों में भी उक्त आदेश नहीं होता।

९६—नक्षत्र तथा कनीनिका-वाची तारका शब्द में उक्त आदेश नहीं होता।[4] कनीनिका=आँख की पुतली। अन्यत्र तरने वाली इस अर्थ में आदेश होगा—तारिका। भाष्य में इसका 'दासी' अर्थ भी कहा है।

९७—प्रावार-विशेष (एक प्रकार का ओढ़ना) अर्थ में वर्णका शब्द में उक्त आदेश नहीं होता[5]। पर 'वर्णन करने वाली', 'स्तुति करने वाली' स्त्री इस अर्थ में अथवा ग्रन्थ की व्याख्या इस अर्थ में यथाप्राप्त आदेश होगा—वर्णिका।

९८—पूर्वदेशवर्ती आचार्यों के मत में वर्तका (वर्तयतीति) बिना आदेश के। उत्तरदेशवर्ती आचार्यों के मत में वर्तिका (आदेश होकर) इष्ट रूप हैं। दोनों का 'वटेर' अर्थ है।[6]

९९—अष्टका पितरों के श्राद्ध की तीन तिथियाँ, कृष्ण पक्ष की सप्तमी, अष्टमी तथा नवमी।—यहाँ उक्त आदेश नहीं होता है[7]। अष्टका शब्द में अश् धातु से औणादिक तकन् प्रत्यय हुआ है। अर्थान्तर अष्टौ परिमाणमस्याः में अष्टन् से कन् प्रत्यय हुआ है।

१००—सूतिका (स्वार्थ में कन्), पुत्रिका, वृन्दारिका (रूपवती, मुख्या

---

१. आशिषि वुनश्च न (वा०)।
२. उत्तरपदलोपे न (वा०)।
३. क्षिपकादीनां च (वा०)
४. तारका ज्योतिषि (वा०)।
५. वर्णका तान्तवे (वा०)।
६. वर्तका शकुनौ प्राचाम् (वा०)।
७. अष्टका पितृदेवत्ये (वा०)।

वा)—यहाँ सूतक, तथा वृन्दारक (आरकन्प्रत्ययान्त)शब्दों में स्त्रीत्वविवक्षा में आप् आने पर विकल्प से उक्त आदेश होता है[1]—**सूतका**। **वृन्दारका** (आदेश के अभाव में रूप होंगे)। पुत्रिका शब्द में **कृत्रिमा पुत्री पुत्रिका** इस अर्थ में कन् होने पर केऽणः से ह्रस्व हुआ है। अब यहाँ पक्ष में पुत्री शब्द के ङीन् को जो ह्रस्व 'इ' हुआ है उसे पक्ष में 'अ' होता है—**पुत्रका**।

१०१—यकार-ककार पूर्वक स्त्रीप्रत्यय 'आ' के स्थान में हुए ह्रस्व 'अ' को विकल्प से 'इ' आदेश होता है आप् परे रहते, जब वह ह्रस्व 'अ' प्रत्ययस्थ क् से पूर्व हो[2]—अज्ञाता आर्या=**आर्यका**। **आर्यिका**। यहाँ 'आर्या' शब्द के आ (स्त्रीप्रत्यय टाप्) के स्थान में केऽणः से ह्रस्व हुआ है। यह ह्रस्व 'अ' यपूर्वक है। और प्रत्ययस्थ क् से पूर्व है। **चटकका**। **चटकिका**। अल्पा चटका। यहाँ स्त्री-प्रत्यय टाप् के स्थान में जो ह्रस्व 'अ' हुआ है वह कपूर्वक है और प्रत्ययस्थ क् से पूर्व है। सूत्र में 'यकपूर्वायाः' में अर्थगत (स्त्रीप्रत्ययार्थ द्योत्य) स्त्रीत्व को आकार में आरोप करके स्त्रीलिङ्ग से निर्देश किया है। **न यासयोः** (७।३।४५) से 'न' की अनुवृत्ति इस सूत्र में आ रही है। 'उदीचां न' ऐसा अन्वय होने से विकल्प फलित होता है, अतः कौमुदीस्थ वृत्ति में 'वा' पढ़ा है। सूत्र में आतः स्थाने—यहाँ 'स्थान' शब्द न भी पढ़ते तो भी **षष्ठी स्थानेयोगा** इस परिभाषा से स्थान-षष्ठी का बोध हो जाता, तो 'स्थाने' ऐसा क्यों पढ़ा ? उत्तर—विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे। परिभाषा विधिप्रदेश में उपस्थित होती है। अनूद्यमान के विशेषण में नहीं। इससे यह ज्ञापित होता है। इसका फल यह है कि **इको गुणवृद्धी**, अर्थात् गुण वृद्धि शब्दों से विधीयमान वृद्धि(और गण भी) इक् के स्थान में होती है। **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्** (१।१।७३)। इस वृद्ध-संज्ञा-विधायक शास्त्र में वृद्धि अनूद्यमान है, विधीयमान नहीं। यहाँ भी यदि परिभाषा प्रवृत्त हो जाय तो मालीयः, शालीयः में इक् के स्थान में वृद्धि न होने से वृद्धसंज्ञा न होने से **वृद्धाच्छः** (४।२।११४) से छ प्रत्यय न हो सकेगा।

सूत्र में 'आतः' ('आ' के स्थान में ह्रस्व 'अ' को) ऐसा क्यों कहा ? सांकाश्ये भवा **सांकाश्यिका**। यहाँ संकाशेन निर्वृत्तं नगरं साङ्काश्यम्। साङ्काश्ये

---

१. सूतका-पुत्रका-वृन्दारकाणां वेति वक्तव्यम्।

२. उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः (७।३।४६)।

भवा स्त्री सांकाश्यिका। धन्वयोपधाद् वुञ् (वुञ् को अक आदेश)। सांकाश्यक में स्वतः सिद्ध ह्रस्व 'अ' है, दीर्घ के स्थान में ह्रस्व नहीं हुआ है। यद्यपि यह 'अ' य-पूर्वक है और प्रत्ययस्थ क् से पूर्व है। अतः (८८) से नित्य विधि हुई है, विकल्प नहीं।

स्त्रीप्रत्यय 'आ' के स्थान में जो 'अ' ऐसा क्यों कहा? शुभं यातीति शुभंया: (शुभम्—यह मान्त निपात है, विच् प्रत्यय हुआ है, जिसका क्विप् की तरह सर्वापहारी लोप हो जाता है)। अज्ञाता शुभंया:=शुभंयिका—यहाँ आदेश-विकल्प नहीं हुआ। यहाँ 'आ' धातु का है, स्त्रीप्रत्यय नहीं।

१०२—य-क-पूर्वक आ (ह्रस्व होने पर अ) को नित्य 'इ' आदेश होता है यदि य्, क् धातु का अन्त हों[1]—शोभनो नयो यस्याः सा सुनया। अज्ञाता सुनया सुनयिका। शोभनः शयो यस्याः सा सुशया। अज्ञाता सुशया सुशयिका। शोभनः पाको यस्याः सा सुपाका। अज्ञाता सुपाका सुपाकिका। इन उदाहरणों में य् और क् धातु के अन्तावयव हैं। नी तथा शी को गुण होकर अय् आदेश हुआ है। अन्त्य उदाहरण में पाक घञन्त है। पच् धातु को कुत्व हुआ है। सो यह क् धातु का ही है।

१०३—भस्त्रा (धौंकनी), थैला), एषा, अजा, ज्ञा, द्वा, स्वा—इन टाबन्तों से 'क' प्रत्यय होने पर क से पूर्व दीर्घ 'आ' को जो ह्रस्व 'अ' हुआ है उसे 'इ' विकल्प से होता है आप् परे रहते।[2] यह आदेश-विकल्प केवल (अकेले) भस्त्रादि को भी होता है, नञ्पूर्वों को भी और शब्दान्तरपूर्वकों को भी—भस्त्रका। भस्त्रिका। अभस्त्रका। अभस्त्रिका। बहुभस्त्रका। बहुभस्त्रिका। एषका। एषिका। अजका। अजिका। अनजिका। ज्ञका। ज्ञिका। अज्ञका। अज्ञिका। द्वे एव द्वके, द्विके। द्वि (सर्वनाम) से स्वार्थ में अकच् (जो 'टि' से पूर्व होता है)होने पर 'द्वकि' इस सर्वनाम ('टि' से पूर्व होने से अकच् प्रत्ययान्त की भी सर्वनाम संज्ञा बनी रही—तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते) से द्विवचन औङ् आने पर त्यदाद्यत्व से अदन्त बन जाने पर स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् होकर औङ् के स्थान में शी (ई)। आद्गुणः। स्वका। स्विका अस्वका। अस्विका। नञ्-पूर्वक एषा तथा द्वे को यह विधि नहीं होती। अनेषका। अद्वके—ये ही नित्य रूप होंगे। इत्वविधि क्यों नहीं होती? उत्तर—एषा (एतद्)

---

१. यकपूर्वत्वे धात्वन्तयकोस्तु नित्यम् (वा०)।
२. भस्त्रैषा-जा-ज्ञा-द्वा-स्वा नञ्पूर्वाणामपि (७।३।४७)।

और द्वे (द्वि) का चाहे पहले अकच् प्रत्यय करके नञ्-समास करें, दोनों अवस्थाओं में समास से जो सुप्-विभक्ति आयेगी उसके परे रहते त्यदाद्यत्व होकर टाप् होगा। अब यह टाप् अन्तर्वर्तिनी सुप्-विभक्ति से परे है, अतः 'असुपः' इस निषेध से इत्व की प्राप्ति ही नहीं। नञ् सु एतद् सु—इस स्थिति में एतद् से अकच् (जो टि से पूर्व होता है) करने से पूर्व ही नञ् और एतद् के सु का लुक् (अन्तर्वर्तिनी विभक्तियों का लुक्) हो जाता है। समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने से पुनः सुप् आने पर त्यदाद्यत्व होकर टाप् होता है। अब यह टाप् प्रत्ययलक्षण द्वारा आद्य सुप् से परे है।'टि'से पूर्व हुआ अकच् व्यवधायक नहीं होता। ऐसा ही द्वि के विषय में जानें। सूत्र में 'एषा' यह षत्वविशिष्ट रूप ग्रहण किया है। जहाँ षत्व नहीं होगा वहाँ यह इत्वविकल्प नहीं होगा—एतिके। एतिकाः। (८८) से नित्य इत्व हुआ है।

एतद् और द्वि के विषय में दी हुई युक्ति से 'स्व' शब्द के विषय में भी यह विधि नहीं होनी चाहिए। ज्ञाति-धन-वाची 'स्व' शब्द सर्वनाम नहीं। उससे अकच् न होकर क-प्रत्यय होगा। नञ्समास होने पर कप्रत्यय होने पर टाप् होगा। यह टाप् सुप् से परे नहीं, कप्रत्यय द्वारा व्यवहित होने से। अतः असर्वनाम-संज्ञक स्व शब्द नञ्पूर्व होता हुआ भी वैकल्पिक इत्व का विषय बनता है।

सूत्र में 'आतः स्थाने' जो अनुवृत्ति द्वारा लभ्य है वह 'स्व' शब्द के 'अ' का विशेषण है। द्वि, एतद् का नहीं। सर्वनाम होने से अकच् हो जाने से 'आ' के स्थान में 'अ' का संभव ही नहीं। भस्त्रादि का भी यह विशेषण नहीं। व्यर्थ होने से। ये टाबन्त पढ़े हैं। यहाँ 'आ' के स्थान में 'अ' सुलभ है। बिना कहे ही 'आ' के स्थान में 'अ' को विकल्प से इत्व हो जायगा। स्व शब्द के विषय में संभव व व्यभिचार दोनों देखे जाने से यह विशेषण अर्थवान् है। जब स्वशब्द अनुपसर्जन आत्मीयवाची सर्वनाम होता है तब उससे स्वार्थ में अकच् आने की योग्यता है। अकच् करने पर 'आ' के स्थान में ह्रस्व 'अ' दुर्लभ है, अतः वहाँ (८८) से नित्य इत्व होकर स्विका यही एक रूप होगा। जब यह ज्ञाति व धन का वाचक असर्वनाम होता है तब स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग न होने से टाप् दुर्लभ है। अतः उपसर्जनीभूत क-प्रत्ययान्त 'स्व' शब्द से यह विधि होगी, वहीं 'आतः स्थाने' इस विशेषण का संभव है।

भस्त्रा शब्द भाषितपुंस्क नहीं। प्रवृत्ति-निमित्त के एक होने पर जो शब्द पुँल्लिङ्ग में प्रयुक्त हो चुका है उसे भाषितपुंस्क (भाषितः पुमान् येन समाना-

यामाकृतौ प्रवृत्तिनिमित्ते स भाषितपुंस्कः) कहते हैं। भस्त्रा शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग है। धौंकनी, थैला अर्थ में इसका कभी पुँल्लिङ्ग में प्रयोग हुआ नहीं। तो भस्त्रा अभाषितपुंस्क है और अभाषितपुंस्काच्च, इस वक्ष्यमाण सूत्र से इत्वविकल्प सिद्ध था। तो यहाँ भस्त्रा शब्द क्यों पढ़ा? उत्तर—उपसर्जन भस्त्रा शब्द का ग्रहण हो, इस लिये। बहुव्रीहि समास अभिधेयलिङ्ग होने से भस्त्रा शब्द भाषितपुंस्क हो जाता है। उपसर्जन भाषितपुंस्क भस्त्रा शब्द को भी यह विधि हो इसलिये इसे यहाँ पढ़ा है। अविद्यमाना भस्त्राऽस्या इति अभस्त्रा। **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (१।२।४८) से ह्रस्व होकर स्त्रीत्व-विवक्षा में टाप्। अविद्यमाना भस्त्रा यस्य **सोऽभस्त्रः पुरुषः**। यह भाषितपुंस्क है। इससे जब टाप् उत्पन्न होता है तब भाषितपुंस्क से होता है। 'अल्प' अर्थ में क-प्रत्यय आने पर **केऽणः** से जो टाप् के स्थान में ह्रस्व 'अ' होता है वह अभाषितपुंस्क से विहित टाप् के स्थान में नहीं हुआ है। अतः **अभाषितपुंस्काच्च** सूत्र से इत्वविकल्प सिद्ध नहीं होता।

१०४—अभाषितपुंस्क से विहित जो 'आ' उसके स्थान में जो ह्रस्व 'अ' उसे इत्व विकल्प से होता है[1]—**खट्वका। खट्विका। परमखट्वका। परमखट्विका।**

१०५—अभाषितपुंस्क से विहित 'आ' के स्थान में जो ह्रस्व 'अ' उसे अन्याचार्यों के मत में 'आ' आदेश भी होता है[2]—**अखट्वका। अखट्विका। अखट्वाका।**

इति स्त्रीप्रत्ययप्रकरणं परिसमाप्तम्।

---

१. अभाषितपुंस्काच्च (७।३।४८)।
२. आदाचार्याणाम् (७।३।४९)।

सुबन्तप्रकरणम् ।

कारकाणि समासाश्च कृतोऽथो तद्धितास्तिङः ।
समं स्त्रीप्रत्ययैः ख्याता विव्रियन्ते सुपोऽधुना ।।

सुबन्त तथा तिङन्त पदों के साकाङ्क्ष समुच्चय को वाक्य कहते हैं—**सुप्तिङन्तचयो वाक्यम्** । सुप् व तिङ् प्रत्यय हैं। सुप्प्रत्ययान्त तथा तिङ्प्रत्ययान्त शब्द की पदसंज्ञा की है—**सुप्तिङन्तं पदम्** (१।४।१४) । वाक्य-लक्षण से ही स्पष्ट है कि संस्कृत में सार्थक शब्द का प्रयोग भी बिना पद बनाए नहीं हो सकता। **अपदं न प्रयुञ्जीत**—ऐसा कहा भी है । तिङ् प्रत्ययों का व्याख्यान इस ग्रन्थ के तृतीयखण्ड में किया जा चुका है । अब सुप् प्रत्ययों का व्याख्यान क्रम-प्राप्त है, अतः इसे कहते हैं । सुबन्तवाच्यार्थ तिङन्तवाच्यार्थ का विशेषण होता है—**सुबन्तं हि यथानेकं तिङन्तस्य विशेषणम्** (वा० प० नाम से उद्धृत)। और जो विशेषण होता है वह गौण होता है, अतः वाक्य में तिङन्त के प्रधान होने से तिङन्तनिरूपण के पश्चात् ही सुबन्तनिरूपण उचित है, ऐसा हम जानते हैं ।

सुप् प्रत्याहार है, यह २१ प्रत्ययों की संज्ञा है । वे २१ प्रत्यय आचार्य ऐसे पढ़े हैं—

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस् ङेभ्यांभ्यस् ङसिभ्यांभ्यस् ङसोसाम् ङ्योस्सुप् (४।१।२) । सांहितिक कार्य को हटा कर इन्हें ऐसे पढ़ा जा सकता है—

सु औ जस् । अम् औट् शस् । टा भ्याम् भिस् । ङे भ्याम् भ्यस् । ङसि भ्याम् भ्यस् । ङस् ओस् आम् । ङि ओस् सुप् । इन प्रत्ययों को सात त्रिकों(तीन-तीन के समुदायों) में विभक्त किया गया है । प्रत्येक त्रिक की विभक्ति संज्ञा है । **विभक्तिश्च**(१।४।१०४) और प्रत्येक त्रिक के प्रथम प्रत्यय की 'एकवचन' संज्ञा है, द्वितीय की 'द्विवचन' तथा तृतीय की 'बहुवचन' । **सुपः** (१।४।१०३) ।

ये सुप् प्रत्यय ङ्यन्त (ङीप्-ङीष्-ङीन् प्रत्ययान्त) शब्द से, आबन्त (टाप्-डाप्-चाप् प्रत्ययान्त) शब्द से तथा प्रातिपदिक मात्र से परे आते हैं । **ङ्याप्-प्रातिपदिकात्** (४।१।१) । अर्थवान् शब्द-स्वरूप जो धातु न हो, प्रत्यय न हो,

प्रत्ययान्त न हो, उसकी प्रातिपदिक संज्ञा की है—**अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (१।२।४५)। कृत्प्रत्ययान्त, तद्धितान्त तथा अर्थवत्समुदाय-रूप समास की भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है—**कृत्तद्धितसमासाश्च** (१।२।४६)। पूर्वाचार्य प्रातिपदिक के लिये 'नाम' शब्द का प्रयोग करते हैं। यहाँ भी इस शब्द का कहीं-कहीं प्रयोग किया गया है।

'सु' के 'उ',[1] जस् के 'ज्'[2], औट् के 'ट्',[3] शस् के 'श्',[4] टा के 'ट्'[5] ङे, ङसि, ङस्, ङि के 'ङ्', ङसि के 'इ' तथा सुप् के 'प्' की इत्संज्ञा होने से इनका लोप हो जाता है। लोप होने पर इन प्रत्ययों के निरनुबन्धक कार्योप-योगी रूप ऐसे होते हैं—

प्रथमा (विभक्ति)—स् औ अस्। द्वितीया (विभक्ति)—अम् औ अस्। तृतीया (विभक्ति)—आ भ्याम् भिस्। चतुर्थी (विभक्ति)—ए भ्याम् भ्यस्। पञ्चमी (विभक्ति)—अस् भ्याम् भ्यस्। षष्ठी (विभक्ति)—अस् ओस् आम्। सप्तमी (विभक्ति)—इ ओस् सु।

सु आदि त्रिकों की विभक्ति संज्ञा तो पाणिनि ने की है जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है। इन की 'प्रथमा' आदि संज्ञायें पूर्वाचार्यकृत हैं जिन्हें इस शास्त्र में परिगृहीत किया गया है।

इन प्रत्ययों के प्रयोग के विषय में ऐसा जानना चाहिये कि एकत्व को कहने के लिए एकवचन का प्रयोग होता है, द्वित्व को कहने के लिए द्विवचन का और दो से अधिक पदार्थों को कहने के लिए बहुवचन का प्रयोग होता है—**द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने** (१।४।२२)। सूत्र में 'द्वि', व 'एक' भावप्रधान निर्देश हैं। द्वि=द्वित्व। एक=एकत्व। **बहुषु बहुवचनम्** (१।४।२१)। प्रथमा

---

१. उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२)।

२. चुटू (१।३।७)।

३. हलन्त्यम् (१।३।३)।

४. लशक्वतद्धिते (१।३।८)।

५. चुटू (१।३।७)। ङे, ङसि, ङस् ङि—में ङ् की इत्संज्ञा लशक्व-तद्धिते (१।३।८) से होती है। इसमें 'कु' कवर्ग का वाचक है। 'हलन्त्यम्' से अस्, भिस्, भ्यस्, ओस्, अम्, भ्याम्, आम् के स् व म् की जो इत्संज्ञा प्राप्त होती है उसे आचार्य 'न विभक्तौ तुस्माः' (१।३।४) से रोक देते हैं।

प्रातिपदिकार्थ को कहती है और सम्बोधन अर्थ में भी प्रयुक्त होती है। द्वितीयादि विभक्तियाँ तिङादि से अनुक्त कर्मादि को कहती हैं ऐसा विस्तारपूर्वक प्रथम खण्ड में कारक प्रकरण में कह आये हैं।

प्रथमो वर्गः—अजन्तशब्दाः

प्रातिपदिक-संज्ञक अथवा नाम-संज्ञक शब्द दो प्रकार के हैं—१ अजन्त (स्वरान्त), २ हलन्त (व्यञ्जनान्त)। इन शब्दों के सामान्यतः तीन लिंग हैं—पुँल्लिग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग। अतः इन दोनों प्रकार के शब्दों को समुदित रूप से षड्लिंग भी कह दिया जाता है। इन्हीं शब्दों के दो और विभाग हैं—१ सर्वनाम, २ संख्यावाचक। यद्यपि अजन्त शब्दों की अपेक्षा हलन्त शब्दों की सुबन्तरूप-रचना सरल है, तो भी अजन्त शब्दों की अधिक प्रसिद्धि और प्रयोग-वाहुल्य के कारण इनका प्रथम व्याख्यान किया जाता है। वैसे भी वाणी में अचों (स्वरों) का प्राधान्य है, हल् स्वराश्रित होने से गौण हैं। आचार्य भी चतुर्दशसूत्री में पहले अचों को पढ़ते हैं, पीछे हलों को।

'तपर' वर्ण (जिससे परे आचार्य ने 'त्' उच्चारण किया है, अथवा जिसका 'त्' से परे उच्चारण किया है) अपने उच्चारण के समान काल वाले, उदात्तादि गुण-भेद से भिन्न, सवर्ण वर्ण का ग्राहक (बोधक) होता है और अपने स्वरूप का भी। **तपरस्तत्कालस्य** (१।१।७०)। अतः अत्, इत्, उत्, ऋत् ह्रस्व अ, इ, उ, ऋ के ही बोधक होंगे, दीर्घ व प्लुत के नहीं। अदन्त आदि से ह्रस्व अकारान्त आदि ही लिया जायगा, दीर्घ आकारान्त आदि नहीं।

एक 'राम' (एकत्वसंख्याविशिष्ट राम) को कहने के लिए एक बार राम शब्द का उच्चारण होता है, तो दो रामों को कहने के लिए दो बार राम शब्द का उच्चारण प्राप्त होता है और बहुत से रामों को कहने के लिए तीन बार उच्चारण प्राप्त होता है। इस पर आचार्य कहते हैं कि एक विभक्ति के परे रहते दो वा तीन वार उच्चारित समानरूप राम आदि शब्दों में से एक शेष रहे—**सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ** (१।२।६४)।

१ (क)—अक् (प्रत्याहार) से परे यदि प्रथमा और द्वितीया का अच् हो तो दोनों के स्थान में **पूर्वसवर्ण** (पूर्व वर्ण के साथ उच्चारण-स्थान तथा

---

१. (क) प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।१०२)। (ख) अमि पूर्वः (६।१।१०७)।

आभ्यन्तर प्रयत्न में समान) दीर्घ एकादेश होता है। सूत्र में प्रथमा तथा द्वितीया विभक्तियों को 'प्रथमा' शब्द से कहा है। (ख) प्रथमा, द्वितीया एक० अम् तथा सम्बुद्धि 'अम्' परे रहते पूर्वरूप एकादेश होता है।

२—अवर्ण से परे यदि इच् (प्रत्याहार) हो तो पूर्व सवर्ण दीर्घ नहीं होता। यह (१) का अपवाद है।

३—अक् (प्रत्याहार) से सवर्ण अच् परे रहते पूर्व पर दोनों के स्थान में दीर्घ एकादेश होता है।

४—अपदान्त अत् (अ) से परे यदि गुण (अ, ए, ओ) हो तो दोनों के स्थान में पररूप एकादेश होता है।

५—सम्बोधन (अभिमुखीकरण) अर्थ में जो प्रथमा उसके एकवचन को सम्बुद्धि कहते हैं। सम्वोधन में जो प्रथमा तदन्त शब्द को आमन्त्रित कहते हैं—**साऽऽमन्त्रितम्** (२।३।४८)।

६—एङन्त तथा ह्रस्वान्त अंग से परे हल् का लोप हो जाता है, यदि वह हल् सम्बुद्धि-सम्बन्धी हो। यह सूत्र अंगाधिकारीय नहीं। अंगाधिकार अङ्गस्य (६।४।१) से प्रारम्भ होता है। पर सम्बुद्धि प्रत्यय का सम्भव ही नहीं यदि अंग न हो, तो सम्बुद्धि प्रत्यय से अंग आक्षिप्त हो जाता है। तब एङ् तथा ह्रस्व से विशिष्ट होता है। विशेषण से तदन्त विधि होती है, अतः 'एङन्त, ह्रस्वान्त अंग से' ऐसा अर्थ होता है। जो जिससे आक्षिप्त होता है वह उसी में अन्वित होता है, तो अंग का अन्वय सम्बुद्धि में होना चाहिए, पर ऐसा होने से ज्ञान अम् (सम्बुद्धि) में पूर्वरूप होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग से परे सम्बुद्धि मिलती नहीं, अतः लक्ष्यानुरोध से अंग का हल् में अन्वय किया गया है, जो हल् सम्बुद्धि का अवयव है। 'हल्' पूर्वसूत्र से अनुवृत्त है।

७—अक् से परे शस् (अस्) परे होने पर (१) से पूर्व-सवर्ण-दीर्घ होने पर शस् के 'स्' को 'न्' हो जाता है यदि शस् की प्रकृति पुँल्लिङ्ग शब्द हो।

---

२. नादिचि (६।१।१०४)।
३. अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।१०१)।
४. अतो गुणे (६।१।९७)।
५. एकवचनं सम्बुद्धिः (२।३।४९)।
६. एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६।१।६९)।
७. तस्माच्छसो नः पुंसि (६।१।१०३)।

८—निमित्त (ऋ, र्, ष्) होने पर भी पदान्त 'न्' को 'ण्' नहीं होता ।

९—अदन्त अंग से परे टा, ङसि, ङस् के स्थान में क्रम से इन, आत्, स्य—ये आदेश होते हैं । आदेश स्थानिवत् (स्थानी के साथ तुल्यधर्मा) होता है, अतः इन आदेशों में स्थानी का धर्म 'सुप्त्व' आजाने से ये भी सुप् ही हैं ।

१०—अदन्त अंग से यञ् (प्रत्याहार)-आदि सुप् परे होने पर उस अंग को दीर्घ हो जाता है । षष्ठी विभक्ति द्वारा निर्दिष्ट को जो कार्य विहित होता है वह उसके अन्त्य अल् (प्रत्याहार) को हुआ करता है (अलोऽन्त्यस्य १।१।५२) ।

११—अदन्त अंग से परे भिस् को ऐस् आदेश होता है ।

१२—अदन्त अंग से परे ङे (चतुर्थ्येकवचन) के स्थान में 'य' आदेश होता है । स्थानिवद्भाव से 'य' में सुप्त्व धर्म आजायगा । अल्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध है । सुप्त्व अल्मात्राश्रित नहीं, जहाँ यह ङे का धर्म है वहाँ भ्याम् आदि का भी है ।

१३—झलादि बहुवचन परे रहते अदन्त अंग को 'ए' आदेश होता है । 'अलोन्त्यस्य' से यह आदेश अन्त्य अल् अर्थात् 'अ' को होता है ।

१४—'ओस्' परे रहते भी अदन्त अंग को 'ए' आदेश होता है ।

१५ (क)—ह्रस्वान्त, नद्यन्त तथा आबन्त अंग से परे आम् (षष्ठी बहु०) को नुट् (न्) आगम होता है । टित् होने से यह आगम 'आम्' का आदि अवयव बन जाता है ।

१५ (ख)—नित्य स्त्रीलिंग ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्दों की 'नदी' संज्ञा की है—यू स्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३) । आबन्त=आप् अन्त । सामान्यभूत आप् शब्द से टाप्, डाप्, चाप् का ग्रहण इष्ट है ।

---

८. पदान्तस्य (८।४।३७) ।

९. टाङसिङसामिनात्स्याः ७।१।१२) ।

१०. सुपि च (७।३।१०२) ।

११. अतो भिस ऐस् (७।१।९) ।

१२. ङेर्यः (७।२।१८) ।

१३. बहुवचने झल्येत् (७।२।१०३) ।

१४. ओसि च (७।३।१०४) ।

१५. (क) ह्रस्वनद्यापो नुट् (७।१।५४) ।

१६—नाम् (नुट् आगम-सहित आम्) परे होने पर ह्रस्वान्त अंग को दीर्घ होता है। अदन्त को मानकर हुआ नुट् (जो आम् से पूर्व में जुड़ जाता है) अदन्तत्व का नाश करे (अंग को दीर्घ करने से) ऐसा उचित नहीं। यह उपजीव्य विरोध है। **'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य'** ऐसी परिभाषा भी है। पर इस परिभाषा की प्रवृत्ति होने पर प्रकृत सूत्र निर्विषय, व्यर्थ हो जाता है। अतः सूत्रारम्भ-सामर्थ्य से (सूत्र व्यर्थ मत हो इसलिए) परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती।

१७—अपदान्त स् जो आदेश-रूप हो अथवा प्रत्यय का हो, उसे इण् (प्रत्याहार) तथा कवर्ग से परे मूर्धन्य (ष्) हो जाता है।

प्रक्रिया—राम—सु। राम स्। राम—रु—(र्)=**रामः**। राम राम—औ। राम—औ (एकशेष)। यहाँ वृद्धि प्राप्त होती है। उसे पूर्व-सवर्ण-दीर्घ विधि (१) बाध लेती है। उसे (२) यह निषेध बाध लेता है। वृद्धि होकर **'रामौ'** रूप सिद्ध होता है। राम राम राम जस् (अस्)। राम अस् (एकशेष)। यहाँ **अकः सवर्णे दीर्घः** (६।१।१०१) से दीर्घ प्राप्त होता है, उसे **अतो गुणे**(६।१।९७)बाध लेता है। पर **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः**(६।१।१०२)से पूर्वसवर्ण दीर्घ हो जाता है। **अतो गुणे** दोनों का अपवाद है, तो पूर्व-सवर्ण-दीर्घ को क्यों नहीं बाधता ? उत्तर—**पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन्बाधन्ते नोत्तरान्।** अतो गुणे (६।१।९७) अपवाद पूर्व पढ़ा है, यह अनन्तर विधि अकः सवर्णे को बाधकर चरितार्थ हो जाता है, इससे इसकी दूर व्यवहित विधि के बाधने में सामर्थ्य नहीं रहती। राम अम्=**रामम्** (पूर्वरूप)। राम औट् (औ)=**रामौ**। राम—शस् (अस्)। रामास् (पूर्वसवर्ण दीर्घ)। **रामान्** (८)। राम—टा=राम इन=**रामेण**(गुण, णत्व)। अट् (प्रत्याहार), कु=कवर्ग, पु=पवर्ग, आङ्, नुम् (=अनुस्वार) का व्यवधान होने पर भी ऋ, र्, ष् के निमित्त से 'न्' को णत्व होता ही है। राम भ्याम्=**रामाभ्याम्** (१०)। राम—ङे। राम य। **रामाय**। सुपि च (१०) से दीर्घ। अदन्त अंग को मानकर ङे को 'य' हुआ और वह यञादि सुप् होने से दीर्घत्व द्वारा अदन्तत्व का विनाश करे, यह उपजीव्य विरोध है। सन्निपात परिभाषा से यह दीर्घ रुक जाना चाहिए। पर यह परिभाषा अनित्य है, कभी नहीं भी

---

१६. नामि (६।४।३)।

१७. आदेश-प्रत्यययोः (८।३।५९)।

प्रवृत्त होती ऐसा हम ज्ञापक से जानते हैं। आचार्य का 'कष्टाय क्रमणे' सूत्र में 'कष्टाय' यह चतुर्थ्यन्त प्रयोग ज्ञापक है। राम ओस्—रामयोः। (१४) से 'अ' को 'ए' हो जाता है और 'ए' को अय्। एचोऽयवायावः (६।१।७८)। राम इ=रामे (गुण)। राम सु—रामे सु (१३)। रामेषु (षत्व)। ए (इण्) से परे प्रत्यय का स् है।

अदन्त अंग से परे विभक्तियों के रूप

प्रथमा—स् औ अस्। द्वितीया—अम् औ अन्। तृतीया—इन भ्याम् ऐस्। चतुर्थी—य भ्याम् भ्यस्। पञ्चमी—आत् भ्याम् भ्यस्। षष्ठी—स्य ओस् नाम्। सप्तमी—इ ओसु सु।

राम पुं०

	एक०	द्वि०	बहु०
प्रथमा	रामः	रामौ	रामाः
सं० प्रथमा	राम	रामौ	रामाः
द्वितीया	रामम्	रामौ	रामान्
तृतीया	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः
चतुर्थी	रामाय	,,	रामेभ्यः
पञ्चमी	रामात्	,,	रामेभ्यः
षष्ठी	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
सप्तमी	रामे	,,	रामेषु

इसी प्रकार निम्नलिखित अदन्त पुँल्लिङ्ग शब्दों के रूप जानें—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
सुर, निर्जर, देव, दैवत (नपुं० भी), विबुध, गीर्वाण	देवता	उद्योग, उद्यम, पुरुषकार, व्यवसाय	उद्यम
		काय, देह (नपुं० भी)	शरीर
मनुष्य, मानुष, मर्त्य, मनुज, मानव	मनुष्य	हस्त, कर	हाथ
		भुज (स्त्री० भुजा)	बाहु
		पाद, चरण (नपुं० भी)	पाओं

शब्द	अर्थ
रद	दाँत
रदन	
दशन	
दन्त	
कूर्पर	कुहनी
कर्ण	कान
शब्दग्रह	
नय	नीति
प्रणय	प्रेम, प्रार्थना
परिणय	विवाह
दर्पण	मुंह देखने का शीशा
आदर्श	
मुकुर	
पाषाण	पत्थर
उपल	
प्रस्तर	
सूर्य	सूर्य
आदित्य	
अर्क	
मार्तण्ड	
दिवसकर	
अहस्कर	
दिवाकर	
कर	किरण
किरण	
मयूख	
उस्र	
दिवस (नपुं० भी)	दिन
वार	
वासर (नपुं० भी)	
प्रदोष	सायंकाल
अन्धकार (नपुं० भी)	अन्धेरा

शब्द	अर्थ
वत्सर	वर्ष
संवत्सर	
अब्द	
हायन (नपुं० भी)	
प्रकाश	प्रकाश
आलोक	
आतप	धूप
चन्द्रातप	चाँदनी
मेघ	बादल
घन	
जीमूत	
पयोद	
पयोधर	
जलधर	
वारिवाह	
बलाहक	
पवन	वायु
पवमान	
वात	
मारुत	
गन्धवह	
गन्धवाह	
समीर	
समीरण	
प्रभञ्जन	झक्खड़
वृक्ष	वृक्ष
द्रुम	
पादप	
खग	पक्षी
विहग	
विहङ्ग	
विहङ्गम	
शकुन	
शकुन्त	

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
वाण		तण्डुल	चावल
शर	वाण	स्यन्दन	
सायक		रथ	रथ
मार्गण		विघ्न	
नृप		अन्तराय	विघ्न
भूप		प्रत्यूह	रुकावट
भूमिप	राजा		
भूपाल		अङ्कुर	कोंपल
गज		कृषक	
द्विरद		कृषाण	
वारण	हाथी	कृषीवल	किसान
दन्तावल		हालिक	
समुद्र		कीनाश	
सागर	समुद्र	उपराग	(सूर्य चन्द्र का ग्रहण)
अर्णव		मद	मस्ती
रत्नाकर			
		संमद	खुशी
कपोत		प्रमद	खुशी
पारावत	कबूतर		
		प्रमाद	अनवधानता
कोकिल			
पिक	कोयल	उन्माद	पागलपन
परभृत			
वनप्रिय		भृङ्ग	
		भ्रमर	
मयूर		द्विरेफ	भौंरा
वर्हिण	मोर	मधुप	
नीलकण्ठ		लोलुप	
ओदन (नपुं० भी)	भात	लोलुभ वि०	अत्यधिक लालची

१८—अदन्त नपुंसक शब्दों से सु व अम् के स्थान में अम् आदेश होता है।

१९—अदन्त नपुंसकलिङ्ग शब्दों से औ, औट् के स्थान में शी (ई) आदेश होता है। सूत्र में औङ् शब्द पूर्वाचार्यों से की गई औ, औट् की संज्ञा है।

---

१८. अतोऽम् (७।१।२४)।

१९. नपुंसकाच्च (७।१।१९)।

२०—नपुंसकलिङ्ग शब्दों से जस् और शस् के स्थान में शि (इ) आदेश होता है।

२१—जस् तथा शस् के आदेश 'शि' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा है।

२२—झलन्त अथवा अजन्त नपुंसकलिङ्ग शब्दों को सर्वनामस्थान विभक्ति शि (इ) परे रहते नुम् (न्)आगम होता है। मित् होने से यह आगम अन्त्य अच् से परे होता है। मिदचोऽन्त्यात्परः (१।१।४७)।

२३—नान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ होता है जब सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान विभक्ति परे हो।

प्रक्रिया—ज्ञान स्—ज्ञानअम्=ज्ञानम् (१ ख से पूर्वरूप एकादेश)। ज्ञान औ—ज्ञान ई=ज्ञाने (गुण)। ज्ञान-जस् (अस्)—ज्ञान इ। ज्ञान न् इ (२२)। ज्ञानानि (२३)। सं० प्रथमा में (१८) अम् आने पर (१ ख) से पूर्वरूप होने पर (६) से सम्बुद्धि के अवयव-भूत हल् 'म्' का लोप हो जाता है— ज्ञान। द्वितीया विभक्ति में भी ज्ञानम्। ज्ञाने। ज्ञानानि रूप होंगे। शेष पुंवत् (जैसे ऊपर राम के दिये हैं)। हाँ यहाँ णत्व का निमित्त न होने से तृतीया एक० में ज्ञानेन तथा षष्ठी बहु० में ज्ञानानाम् ऐसे रूप होंगे।

ज्ञाने(प्र०द्वितीया, द्विवचन) की रूपसिद्धि में शङ्का होती है—सुडनपुंसकस्य (१।१।४३) से नपुंसक-भिन्न शब्दों के सुट् (सु से लेकर औट् तक के) प्रत्ययों की सर्वनामस्थान संज्ञा की है। इससे नपुं० ज्ञान शब्द से परे औ औट् की सर्वनामस्थान संज्ञा नहीं है। अब असर्वनामस्थान यकारादि अकारादि प्रत्यय परे रहते पूर्व की 'भ' संज्ञा की है। (यचि भम्)। भ-संज्ञा होने से यस्येति च (६।४।१४८) से 'ज्ञान' के अ का लोप प्राप्त होता है, जिससे 'ज्ञानी' अनिष्ट रूप प्रसक्त होता है। ठीक है, इसीलिये वार्तिककार ने औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः—इस वार्तिक द्वारा प्रसक्त लोप का निषेध कर दिया है।

ज्ञान नपुं०

प्र०	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि
सं० प्र०	ज्ञान	ज्ञाने	ज्ञानानि

२०. जश्शसोः शिः (७।१।२०)।
२१. शि सर्वनामस्थानम् (१।१।४२)।
२२. नपुंसकस्य झलचः (७।१।७२)।
२३. सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६।४।८)।

द्वि०	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि
तृ०	ज्ञानेन	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानैः
च०	ज्ञानाय	,,	ज्ञानेभ्यः
पं०	ज्ञानात्	,,	,,
ष०	ज्ञानस्य	ज्ञानयोः	ज्ञानानाम्
स०	ज्ञाने	,,	ज्ञानेषु

निर्गतो जराया निर्जरो देवः त्रिदशः। तृतीया यौवनाख्यैव दशा यस्य सः)। प्रक्रिया—जरा (वृद्धत्व) को वक्ष्यमाण जराया जरसन्यतरस्याम् (३२) से अजादि विभक्ति परे रहते विकल्प से 'जरस्' आदेश विधान किया है। यह सूत्र अष्टाध्यायी में ७।२।१०१वां है। अतः अङ्गाधिकारीय है। ६।४।१ 'अङ्गस्य' से अङ्गाधिकार का प्रारम्भ होता है। **पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च**—ऐसी परिभाषा है, पदाधिकारीय तथा अङ्गाधिकारीय विधि जिस को कही है उसे तो होती ही है, तदन्त को भी होती है। इस वचन के अनुसार जरान्त निर्जर शब्द को जरस् आदेश होगा। जरस् अनेकाल् है, अतः समस्त निर्जर शब्द के स्थान में आदेश प्राप्त होता है। अनेकाल् शित्सर्वस्य (१।१।५५)। (अन्त्य अल् को नहीं)। पर एक दूसरी परिभाषा है—**निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति**, आदेश निर्दिश्यमान (स्थानि-रूप से उच्चार्यमाण, उपादीयमान) के स्थान में होते हैं। और निर्दिश्यमान 'जरा' है, अतः 'जरा' को जरस् होगा, न कि समस्त 'निर्जर' को। पर ऐसा होने पर भी यहाँ 'जरा' न होने से आदेश नहीं होना चाहिये। पर होता है—**एकदेशविकृतमनन्यवत्**, ऐसी परिभाषा है। एकदेश (आधे से न्यून अंश) में विकार होने पर पदार्थ अन्य नहीं हो जाता, वही रहता है, छिन्नपुच्छोपि श्वा श्वैव भवति। अतः 'जर' में अनन्यबुद्धि, यह 'जरा' ही है ऐसी बुद्धि करके जरस् आदेश हो जाता है।

टाङसिङसामिनात्स्याः (७।१।१२), ङेर्यः (७।१।१३), अतोभिस ऐस् (७।१।९), ह्रस्वनद्यापो नुट् (७।१।५४) आदि सूत्र जराया जरसन्यतरस्याम् (७।२।१०१) की अपेक्षा पूर्ववर्ती हैं। विप्रतिषेधे परं कार्यम्। तुल्यबलविरोध होने पर पर सूत्र की प्रवृत्ति होनी चाहिये। पर कहीं-कहीं लक्ष्यानुरोध से 'पर' शब्द को इष्टवाची मानकर पूर्वशास्त्र की प्रवृत्ति स्वीकार की जाती है। अतः पूर्वविप्रतिषेध से 'टा' आदि को 'इन' आदि आदेश पहले करके पश्चात् जरस् आदेश किया जाता है। 'इन' आदि आदेश जो अङ्ग की अदन्तता का आश्रय

लेकर टा आदि को हुए हैं उन्हें ऐसी विधि, का जो उस अदन्तता की विघातक हो, निमित्त नहीं बनना चाहिये। जरस् आदेश होने से अदन्तता का विघात स्पष्ट है—ऐसी सन्निपात परिभाषा है—**सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य**। इस परिभाषा को अनित्य मानकर तृ० एक० में निर्जरसिन, पं० एक० में निर्जरसात् रूप होते हैं ऐसा एकीय मत है ऐसा काशिकाकार का कहना है। तन्मतानुसारी लोग ङस् को पूर्व विप्रतिषेध से 'स्य' आदेश कर विभक्ति के अजादि न रहने से जरस् आदेश की प्राप्ति नहीं रहती ऐसा स्वीकार करते हुए 'निर्जरस्य'—यही एक रूप मानते हैं। यह मत भाष्यविरुद्ध है ऐसा दीक्षित मानते हैं। दीक्षित के अनुसार टा, ङे, ङसि परे जरस् विधायक शास्त्र के पर होने से विकल्प से जरस् आदेश होकर निर्जरसा, निर्जरसे, निर्जरसः रूप होंगे, पक्ष में 'राम' की तरह निर्जरेण, निर्जराय, निर्जरात्—ये। ङस् परे रहते भी जरस् आदेश-पक्ष में निर्जरसः, आदेशाभाव में निर्जरस्य—रूप होते हैं। भाष्यकार संनिपातपरिभाषा को यहाँ नित्य मानते हैं क्योंकि उनका कहना है—**गोनर्दीयस्त्वाह—अतिजरैरित्येव भवितव्यम्। सन्निपातपरिभाषया।** अतः निर्जरसैः प्रयोग अशुद्ध ठहरता है।

महामहोपाध्याय दाधिमथ पं शिवदत्त का कहना है कि भाष्यकार को प्रकृत विषय में पूर्वविप्रतिषेध से कोई विरोध नहीं। उन्हें यहाँ सन्निपात परिभाषा की अनित्यता इष्ट नहीं—यह ऊपर उद्धृत भाष्य से स्पष्ट है। इस निष्कर्ष के अनुसार टा आदि को 'इन' आदि आदेश पूर्व विप्रतिषेध से हो जायेंगे पर सन्निपात परिभाषा से जरस् आदेश नहीं हो सकेगा। अतः निर्जरेण, निर्जराय, निर्जरात्, निर्जरस्य, निर्जराणाम्—ये ही रूप होंगे।

यहाँ हम दीक्षित के अनुसार निर्जर (पुं०) की सुबन्त रूपावलि देते हैं—

निर्जर पुं० (देवता)

प्र०	**निर्जरः**	**निर्जरौ—निर्जरसौ**	**निर्जराः—निर्जरसः**
सं० प्र०	**निर्जर**	„ „	„ „
द्वि०	**निर्जरम्—निर्जरसम्**	**निर्जरौ—निर्जरसौ**	**निर्जरान्—निर्जरसः**
तृ०	**निर्जरेण—निर्जरसा**	**निर्जराभ्याम्**	**निर्जरैः**
च०	**निर्जराय—निर्जरसे**	„	**निर्जरेभ्यः**
पं०	**निर्जरात्—निर्जरसः**	„	„

ष० निर्जरस्य—निर्जरसः निर्जरयोः—निर्जरसोः निर्जराणाम्—निर्जरसाम्
स० निर्जरे—निर्जरसि ,, ,, निर्जरेषु

इसी प्रकार निम्न-लिखित अदन्त नपुंसक लिङ्ग शब्दों के रूप जानें—पुष्प, कुसुम, प्रसून (फूल), वन, उपवन (बाग), उद्यान (बाग), पुण्य, पाप, गृह, मन्दिर (=गृह), देवमन्दिर (देवालय), सदन (घर), द्वार, गात्र, अङ्ग, रत्न, शस्त्र, शास्त्र, अस्त्र, दात्र, (दराँती) चरित, चरित्र, अरित्र (चप्पू), मित्र, कलत्र (भार्या), अक्षर, वचन, वाक्य, मुख, वदन (मुख), वक्त्र, आनन (मुंह), कुशल, क्षेम (पुं० भी), तोय (पानी), उदक (पानी), पानीय (पानी), ख, पुष्कर, अम्बर, आकाश(चारों आकाशार्थक)। आकाश पुं० भी है। ऋजीष, पिष्टपचन (दोनों का 'तवा' अर्थ है), ललाट, अलिक, निटिल, भाल (चारों मस्तकार्थक), भक्त (भात), नीड (पुं०भी), सुवर्ण, रुक्म, हिरण्य, हाटक, जाम्बूनद, कार्तस्वर, (सभी का स्वर्ण अर्थ है)। दुर्वर्ण, रजत, रूप्य (तीनों का अर्थ चाँदी)।

यहाँ अदन्त शब्द समाप्त हुए।

२४— आकारान्त- धात्वन्त अङ्ग के अन्त्य 'आ' का लोप हो जाता है जब अङ्ग की भ-संज्ञा हो। यकारादि अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति परे होने पर अङ्ग की भ-संज्ञा की है।

विश्वं पातीति विश्वपाः (जगत् का पालक)। गाः पातीति गोपाः (गोप), शङ्खं धमतीति शङ्खध्माः (शङ्ख बजाने वाला)। अन्तर्मध्ये ऽचां हलां च तिष्ठतीति अन्तःस्थाः (ह् य् व् र् में से कोई वर्ण)। आत्मानं ददातीति आत्मदाः। बलं ददातीति बलदाः। ये सब विच् प्रत्ययान्त हैं। विच् प्रत्यय का क्विप् की तरह सर्वापहारी लोप हो जाता है। इन सब में अन्त में धातु का आकार है। अदन्त न होने से इनमें कहीं भी विभक्ति को आदेश नहीं होता। विश्वपा—औ। यहाँ वक्ष्यमाण दीर्घाज्जसि च (३०) से पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध हो जाने से 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि होती है।

विश्वपा पुं०

प्र०	विश्वपाः	विश्वपौ (वृद्धि)	विश्वपाः (३)
सं० प्र०	विश्वपाः	विश्वपौ	विश्वपाः
द्वि०	विश्वपाम्	विश्वपौ	विश्वपः (२४)
तृ०	विश्वपा (२४)	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभिः
च०	विश्वपे (२४)	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः

२४. आतो धातोः (६।४।१४०)।

पं०	विश्वपः (२४)	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
ष०	विश्वपः (२४)	विश्वपोः (२४)	विश्वपाम् (२४)
स०	विश्वपि (२४)	विश्वपोः	विश्वपासु

इसी प्रकार शङ्खध्मा आदि के रूप जानें।

'हाहा' एक गन्धर्व का नाम है। यह अव्युत्पन्न शब्द है। इसका अन्त्य 'आ' धातु का 'आ' नहीं है। अतः इस 'आ' का (२४) से लोप नहीं हो सकता। अनन्तर वर्तमान विभक्ति-स्वर के साथ यथाप्राप्त सन्धि कार्य होता है। हाहा शस्। यहाँ पूर्णसवर्ण दीर्घ होकर (७) से शस् के 'स्' को 'न्' होता है—**हाहान्**। हाहा—टा। यहाँ सवर्णदीर्घ होकर **हाहा** रूप होगा। हाहा ए। यहाँ वृद्धि होकर हाहै। ङसि तथा ङस् परे सवर्ण दीर्घ होकर 'हाहाः' रूप होगा। ओस् परे रहते वृद्धि होकर 'हाहौः' रूप होगा। ङि परे रहते गुण होकर हाहे तथा 'आम्' परे रहते सवर्ण दीर्घ होकर '**हाहाम्**'। नुट् की प्राप्ति नहीं।

हाहा

प्र०	हाहाः	हाहौ	हाहाः
सं० प्र०	हाहाः	,,	,,
द्वि०	हाहाम्	,,	हाहान्
तृ०	हाहा	हाहाभ्याम्	हाहाभिः
च०	हाहै	,,	हाहाभ्यः
पं०	हाहाः	,,	हाहाभ्यः
ष०	,,	हाहौः	हाहाम्
स०	हाहे	,,	हाहासु

२५—हलन्त, ङ्यन्त, आबन्त शब्दों से सु (प्रथमा ए०), ति-सि-सम्बन्धी अपृक्त(=एक स्वर व एक व्यञ्जनात्मक प्रत्यय) हल् का लोप हो जाता है। ङी स्त्री प्रत्यय है और आप् भी। सूत्र में इन दोनों का 'दीर्घ' विशेषण पढ़ा है। अर्थ यह है कि जब उपसर्जन होने से इन्हें ह्रस्व हो जाएगा तो सु के 'स्' का लोप नहीं होगा।

२६—आबन्त स्त्रीलिङ्ग अङ्ग से परे 'औ' विभक्ति के स्थान में शी (ई) आदेश होता है।

---

२५. हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् (६।१।६८)।

२६. औङ आपः (७।१।१८)।

२७(क)—टा तथा ओस् विभक्ति परे होने पर आबन्त अङ्ग के आप् (टाप्, डाप्, चाप् प्रत्यय) को 'ए' हो जाता है। सूत्र में आङ् पूर्वाचार्यों की 'टा' की संज्ञा है। (ख) सम्बुद्धि परे रहते भी आप् को 'ए' होता है।

२८—आबन्त अङ्ग से परे ङकारेत् (ङ् जिसका इत् है) सुब्-विभक्ति को याट् (या) आगम होता है। टित् होने से यह आगम ङित् विभक्ति का आदि अवयव बनता है।

२९—नद्यन्त आबन्त तथा 'नी' शब्द से परे ङि के स्थान में आम् आदेश होता है।

३०—दीर्घ अक् से इच् (प्रत्याहार) तथा जस् परे होने पर पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता। पूर्वसवर्ण-दीर्घ का निषेध होने पर यथाप्राप्त वृद्धि, सवर्ण-दीर्घ व यण् होते हैं।

प्रक्रिया—रमा (लक्ष्मी)—सु। दीर्घ आबन्त होने से (२५) से 'सु' का लोप होता है—रमा। रमा—औ। रमा शी (ई)=रमे (गुण)। रमा—जस् (अस्)। (३०) से पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध होने से सवर्ण दीर्घ होता है—रमाः। रमा—शस् (अस्)=रमाः। यद्यपि यहाँ पूर्व सवर्ण दीर्घ होने में भी कोई क्षति नहीं, तो भी 'दीर्घाज्जसि च' पर होने से प्रवृत्त होता है। इसकी प्रवृत्ति होने पर सवर्ण दीर्घ होता है। (७) की प्रवृत्ति का विषय न होने से शस् के 'स्' को 'न्' नहीं होता। सम्बुद्धि में (२७ ख) से 'रमे' हो जाने पर (६) से 'सु' का लोप हो जाता है—(हे) रमे। रमा—टा। यहाँ (२७ क) से रमा के 'आ' को 'ए' हो जाने पर रमे आ, इस अवस्था में 'ए' को अय् होकर 'रमया' रूप सिद्ध होता है। रमा—ङे। रमा या (ट्) ए। (२८) से याट् आगम। वृद्धि। रमायै। रमा—ङसि=रमा अस्। रमा याट् अस्=रमायाः। रमा—ङि। रमा-आम् (२९)। रमा याट् आम्=रमायाम्। रमा-ओस् =रमे ओस् (२७ क)। रमयोः। ए को अय्। रमा—आम् (षष्ठी बहु०)। आबन्त से परे आम् को (१५) से नुट्। अट् तथा पवर्ग (म्) के व्यवधान होने पर भी र् के निमित्त से 'न्' को ण्। रमाणाम्।

---

२७. (क)—आङि चापः(७।३।१०५)। (ख) सम्बुद्धौ च(७।३।१०६)।
२८. याडापः (७।३।११३)।
२९. ङे.राम्नद्याम्नीभ्यः (७।३।११६)
३०. दीर्घाज्जसि च (६।१।१०५)।

रमा (आबन्त स्त्री०)

प्र०	रमा	रमे	रमाः
सं० प्र०	रमे	,,	,,
द्वि०	रमाम्	,,	,,
तृ०	रमया	रमाभ्याम्	रमाभिः
च०	रमायै	,,	रमाभ्यः
पं०	रमायाः	,,	,,
ष०	,,	रमयोः	रमाणाम्
स०	रमायाम्	,,	रमासु

इसी प्रकार निम्नलिखित आबन्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप जानें—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
कन्या, कन्यका	कन्या, कुमारी	केका	मोर का शब्द
सुता, आत्मजा	पुत्री	ईहा, चेष्टा	चेष्टा
रमा	रमणार्थं स्त्री	वाञ्छा, आकाङ्क्षा, स्पृहा	इच्छा
देवता	देव	मनीषा	बुद्धि
प्रभा	प्रकाश	परीक्षा	जाँच
प्रतिभा	सूझ	तारका, कनीनिका	आँख की पुतली
योषा, ललना, अङ्गना	स्त्री	तारका, तारा	तारा
कान्ता, दयिता	प्रिया	चन्द्रिका, ज्योत्स्ना	चाँदनी
लज्जा, त्रपा, व्रीडा	लज्जा	द्राक्षा, मृद्वीका	अंगूर
अपत्रपा	दूसरे से लज्जा	शिला	पत्थर
दंष्ट्रा	दाढ़	तुला	तकड़ी
ग्रीवा	गर्दन	रथ्या, विशिखा	मुहल्ला
चटका	चिड़िया		

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
दोला	डोला, पालकी, झूला	त्वरा	जल्दी
		कविका	लगाम
जनता	जनसमूह	पर्शुका	पसली
क्षमा, क्ष्मा, धरा, वसुधा, वसुन्धरा, इला	पृथिवी	हेषा, ह्रेषा	हिनहिनाना
		छुरिका, असिधेनुका	छुरी
लता	बेल	तृषा, तृष्णा	प्यास
लूता	मकड़ी	बुभुक्षा, अशनाया	भूख
वेला	समय, समुद्रतीर		

३१—अम्बा आदि द्व्यक्षर मातृवाची स्त्रीलिङ्ग शब्दों को तथा नद्यन्त शब्दों को सम्बुद्धि परे रहते ह्रस्व होता है। अलोऽन्त्यस्य। यह ह्रस्व अन्त्य आप् (आ) और ङी (ई) को होगा।

अम्बा (माता)

प्र०	अम्बा	अम्बे	अम्बाः
सं० प्र०	अम्ब	,,	,,

शेष रमावत्। इसी प्रकार अक्का (माता), अल्ला (माता) के रूप जानें। पर अम्बिका, अम्बालिका के द्व्यक्षर न होने से इन्हें सम्बुद्धि में ह्रस्व नहीं होगा, किन्तु यथाप्राप्त आप् (आ) को 'ए' होगा—(हे) अम्बिके। अम्बालिके।

३२—जरा शब्द को अजादि विभक्ति परे होने पर विकल्प से जरस् आदेश होता है।

प्रक्रिया—जरा—औ। यहाँ औङ आपः (२६) से शी-भाव भी प्राप्त होता है और प्रकृत सूत्र से जरस् आदेश भी। प्रकृत सूत्र पर (७।२।१०१) है। **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (१।४।२), तुल्यबल विरोध होने पर पर सूत्र की प्रवृत्ति होती है, पूर्व की नहीं। अतः पहले जरस् आदेश हो जाता है, तब आबन्त न रहने से शी-भाव की प्राप्ति नहीं रहती। ऐसे आम् (षष्ठी बहुवचन) परे रहते

---

३१. अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः (७।३।१०७)।

३२. जराया जरसन्यतरस्याम् (७।२।१०१)।

भी नुट् को बाध कर जरस् आदेश होता है—जरसाम् । यद्यपि स्थानिवद्भाव का आश्रयण करके आबन्तता के बन जाने से औङ आपः । आङि चापः । याडापः । ह्रस्वनद्यापो नुट् । ङेराम्नद्याम्नीभ्यः—ये पाँचों विधियां प्राप्त होती हैं पर अल्मात्राश्रित विधि की कर्तव्यता में स्थानिवद्भाव होता नहीं, और इन सब में स्थानी-अल् (आप्) का आश्रयण है अत: ये नहीं होतीं ।

जरा (बुढ़ापा) स्त्री०

प्र०	जरा	जरे—जरसौ	जराः—जरसः
सं० प्र०	जरे	,, ,,	,, ,,
द्वि०	जराम्—जरसम्	जरे—जरसौ	जराः—जरसः
तृ०	जरया—जरसा	जराभ्याम्	जराभिः
च०	जरायै—जरसे	,,	जराभ्यः
पं०	जरायाः—जरसः	,,	,,
ष०	जरायाः—जरसः	जरयोः—जरसोः	जराणाम्—जरसाम्
स०	जरायाम्—जरसि	,, ,,	जरासु

यहाँ आकारान्त शब्द समाप्त हुए ।

३३—शेष की 'घि' संज्ञा कही है । अर्थात् उन ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त शब्दों की 'घि' संज्ञा होती है जो स्त्रीलिङ्ग न हों, अथवा स्त्रीलिंग होते हुए नदी-संज्ञक न हों । पर सखि (पुं०) की यह संज्ञा नहीं होती ।

३४—ह्रस्वान्त अंग को सम्बुद्धि परे रहते गुण (इ को ए, उ को ओ, ऋ को रपर अ (=अर्) होता है । अलोऽन्त्यस्य ।

३५—ह्रस्वान्त अंग को जस् परे रहते गुण होता है । अलोऽन्त्यस्य ।

३६—घि-संज्ञक इकार-उकार-अन्तवाले अंग को गुण होता है ङित् सुप् विभक्ति परे होने पर ।

३७—घि-संज्ञक इ, उ से परे आङ् (=टा) को 'ना' आदेश हो जाता है । पर यह आदेश स्त्रीलिंग में नहीं होता ।

---

३३. शेषो घ्यसखि (१।४।७) ।
३४. ह्रस्वस्य गुणः (७।३।१०८) ।
३५. जसि च (७।३।१०९) ।
३६. घेर्ङिति (७।३।१११) ।
३७. आङो नाऽस्त्रियाम् (७।३।१२०) ।

३८—एङ् (प्रत्याहार) से परे ङसि और ङस् के 'अ' तथा एङ्—दोनों के स्थान में पूर्वरूप एकादेश एङ् (ए, ओ) हो जाता है।

३९—घि-संज्ञक इ, उ से परे ङि के स्थान में 'औ' आदेश होता है और साथ ही 'इ', 'उ' को अत् (अ) आदेश होता है।

प्रक्रिया—हरि—औ—हरी। (१ क) से पूर्वसवर्ण दीर्घ। हरि—जस्। हरे अस्। (३५) से गुण (ए)। हरयः (ए को अय्)। हरि—अम्। हरिम् (१ ख) से पूर्वरूप। हरि—शस्। हरी—स् (१ क) से पूर्वसवर्ण दीर्घ। हरीन्। (७) से स् को 'न्'। (८) से पदान्त 'न्' को णत्व का निषेध। हरि—टा। हरि ना (३७)। हरिणा (णत्व)। हरि—ङे। हरे ए। (३६) से गुण। हरये। 'ए' को अय्। हरि—ङस्। हरे—अस्। हरेः (३८) से पूर्वरूप। हरि—ङि। हरौ। (३९) से हरि के इ को 'अ' तथा विभक्ति इ (ङि) को औ। हरि—आम्। हरि न् आम्। (१५) से ह्रस्व से परे होने से आम् को नुट्। हरीनाम्। (१६) से ह्रस्व अंग को दीर्घ। हरीणाम्। र् के निमित्त से इकार का व्यवधान होने पर भी णत्व। हरि—ओस्=हर्योः। यण्।

हरि (विष्णु, इन्द्र) पुं०

प्र०	हरिः	हरी	हरयः
सं० प्र०	हरे	,,	,,
द्वि०	हरिम्	,,	हरीन्
तृ०	हरिणा	हरिभ्याम्	हरिभिः
च०	हरये	,,	हरिभ्यः
पं०	हरेः	,,	,,
ष०	हरेः	हर्योः	हरीणाम्
स०	हरौ	,,	हरिषु

इसी प्रकार निम्नलिखित इकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों के रूप जानें—

---

३८. ङसिङसोश्च (६।१।११०)।

३९. अच्च घेः (७।३।११९)।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
अग्नि			
वह्नि	अग्नि	प्रधि	चक्र की नेमि
कृपीटयोनि		प्रणिधि	दूत
रवि		ऋषि	मन्त्रद्रष्टा
उष्णरश्मि	सूर्य	असि	तलवार
द्युमणि			
अहर्पति		अहि	सांप
रश्मि		कलि	लड़ाई, झगड़ा
गभस्ति	किरण	पाणि	हाथ
मरीचि (स्त्री॰ भी)		पार्ष्णि	एड़ी
मुनि	मुनि	मुष्टि (स्त्री॰ भी)	मुट्ठी
कवि	कवि	ग्रन्थि	गाँठ
अरि	शत्रु	राशि	ढेर
अराति			
अद्रि	पर्वत	मणि (स्त्री॰ भी)	रत्न
गिरि		वलि	उपहार, भेंट, कर
अवधि	सीमा	नृपति	राजा
व्यवधि	व्यवधान, ओट	धूर्जटि	शिव
विधि	ब्रह्मा, दैव, प्रकार	तरणि	सूर्य
सन्धि	सन्धि	ध्वनि	शब्द
निधि	खज़ाना	कृमि	कीट, कीड़ा
संनिधि	समीपता	क्रिमि	
उदधि		सुरभि	वसन्त
जलधि	समुद्र	पवि	वज्र
वारिधि			
वार्धि		तिथि (स्त्री॰ भी)	पक्ष का एक दिन
आधि	मन का दुःख	स्थपति	बढ़ई
व्याधि	शरीर का रोग	वर्धकि	
उपधि	कपट, छल	कुक्षि	कोख, पेट
उपाधि	उपाधि	अत्रि	अत्रि नामक ऋषि
समाधि	योग, चित्त की एकाग्रता	अशनि (स्त्री॰ भी)	वज्र

उडूनीव लोमानि यस्य स उडुलोमा। तस्यापत्यम्—औडुलोमिः। इञ् तद्धित। बहुत्व के विवक्षित होने पर इञ् न होकर 'अ' प्रत्यय होता है, अर्थात्

अदन्तप्रातिपदिक बन जाता है। अतः सुप्-विभक्तियों में इस (औडुलोमि) शब्द के ऐसे रूप चलते हैं—

प्र०	औडुलोमिः	औडुलोमी (पूर्वसवर्णदीर्घ)	उडुलोमाः
द्वि०	औडुलोमिम्	,,	उडुलोमान्
तृ०	औडुलोमिना	औडुलोमिभ्याम्	उडुलोमैः

षष्ठी-सप्तमी द्विवचन में औडुलोम्योः (यण्)। षष्ठी-सप्तमी बहुवचन में उडुलोमानाम्। उडुलोमेषु।

४०—'पति' शब्द की समास में ही 'घि' संज्ञा हो ऐसा नियम कर दिया है। अतः अकेले पति शब्द को घि-संज्ञा-निमित्तक कार्य नहीं होता।

४१—खि, ति तथा खी ती शब्द (जिन्हें यण् आदेश हो चुका है) से परे ङसि व ङस् विभक्तियों के 'अ' को 'उ' हो जाता है।

४२—ह्रस्व इकारान्त, उकारान्त शब्दों से परे सप्तमी ङि के स्थान में 'औ' आदेश होता है।

प्रक्रिया—पति—औ। पती। (१ क) से पूर्वसवर्णदीर्घ। पति—जस्। पते अस्। (३५) से गुण। पतयः (ए को अय्)। पति—अम्। पतिम् (१ ख) से पूर्वरूप। पति—शस्। पतीस्। पूर्वसवर्णदीर्घ। पतीन्। (७) से स् को 'न्'। पति—टा=पत्या (यण्)। घि संज्ञा न होने से 'टा' को 'ना' आदेश नहीं हुआ। पति—ङे=पत्ये (यण्)। घिसंज्ञा न होने से गुण नहीं हुआ। पति—ङसि=पति—अस्। पत्य् अस् (यण्)। पत्युः। (४१) से ङसि के 'अ' को 'उ'। पति—ङि। पति औ (४२)। पत्यौ (यण्)।

पति पुं० (पति, स्वामी)

प्र०	पतिः	पती	पतयः
सं०	पते	,,	,,
द्वि	पतिम्	,,	पतीन्
तृ	पत्या	पतिभ्याम्	पतिभिः

---

४०. पतिः समास एव (१।४।८)।

४१. ख्यत्यात्परस्य (६।१।११२)।

४२. औत् (७।३।११८)।

च०	पत्ये	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
पं०	पत्युः	,,	,,
ष०	,,	पत्योः	पतीनाम्
स०	पत्यौ	,,	पतिषु

सखि शब्द को भी घि-संज्ञा का निषेध किया है। अतः इसे भी घि-संज्ञा-निमित्तक कार्य नहीं होगा। पर इसे सर्वनाम-स्थान विभक्तियों के परे रहते कुछ विशेष कार्य होता है उसे कहते हैं—

४३—सम्बुद्धि-भिन्न प्रथमा एक० स् परे रहते सखि शब्द को अनङ् (अन्) आदेश होता है। यह आदेश ङित् है, पर अनेकाल् भी है। अनेकाल् आदेश सारे स्थानी के स्थान में हुआ करता है, पर ङित् आदेश चाहे अनेकाल् भी हो, अन्त्य के स्थान में ही होता है—ङिच्च (१।१।५३)। अतः अनङ् (अन्) सखि के 'इ' के स्थान में होगा।

४४—सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर 'सखि' को वृद्धि('ऐ')होती है। अलोऽन्त्यस्य। 'इ' को वृद्धि होगी। सूत्र में णित्वत् कार्य हो ऐसा कहा है। ञित् णित प्रत्यय परे होने पर अजन्त अंग को वृद्धि होती है। अचोञ्णिति (७।२।११५)।

४५—प्रातिपदिक-रूप जो पद उसके अन्त्य 'न्' का लोप हो जाता है।

प्रक्रिया—सखि—सु। सख् अन् सु (४२)। सखान् सु। (२३) से नान्त की उपधा को दीर्घ। सखा। (२५) से स्लोप। (४५) से न्लोप। सखि—औ। सखै औ (४४)। सखायौ (ऐ को आय्)। सखि—शस्। सखि—अस्। सखीस् (पूर्वसवर्णदीर्घ)। सखीन् (पूर्वसवर्णदीर्घ होने पर अस् के स् को 'न्')। शेष 'पति' की तरह।

सखि (मित्र, साथी) पुं०

प्र०	सखा	सखायौ	सखायः
सं० प्र०	सखे	,,	,,
द्वि	सखायम्	,,	सखीन्
तृ०	सख्या	सखिभ्याम्	सखिभिः

४३. अनङ् सौ (७।१।९३)।
४४. सख्युरसम्बुद्धौ (७।१।९२)।
४५. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७)।

च०	सख्ये	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
पं०	सख्युः	"	"
ष०	सख्युः	सख्योः	सखीनाम्
स०	सख्यौ	"	सखिषु

समास में पति शब्द की 'घि' संज्ञा यथाप्राप्त बनी रहती है, अतः अधिपति, नृपति, ग्रामपति, अपति (=कुत्सित पति) सभापति आदि में घिसंज्ञा-निमित्तक कार्य होने से 'हरि' की तरह रूप होंगे, केवल णत्व नहीं होगा—नृपतिना। नृपतीनाम्। ग्रामपतिना। ग्रामपतीनाम्। णत्व के पूर्वपदस्थ निमित्त का तकार-व्यवधान के कारण विघात हो जाता है। ग्रामपतिः स्त्री। यहाँ पति शब्द के नित्य स्त्रीलिंग न होने से 'घि' संज्ञा निर्बाध होगी, केवल स्त्रीलिंग होने से टा (आङ्) को 'ना' नहीं होगा—ग्रामपत्या (स्त्रिया)।

शोभनः सखा सुसखा। न पूजनात् (५।४।६९) से समासान्त टच् नहीं हुआ। अनङ् तथा णिद्वद्भाव अंगाधिकारीय कार्य हैं, अतः 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' इस परिभाषा से सखिशब्दान्त 'सुसखि' को भी होंगे—सुसखा। सुसखायौ। सुसखायः। सुसखायम्। सुसखायौ। समुदाय 'सुसखि' सखि-रूप नहीं है, अतः इसे 'घि' संज्ञा का निषेध न होने से 'टा' में सुसखिना (नाभाव) तथा ङे परे होने पर गुण होने से 'सुसखये' रूप होंगे। ङसि में गुण होने के कारण यण् न होने से 'ख्य' रूप न होने से सुसखेः (ङसि, ङस् के 'अ' को पूर्वरूप होने से) रूप होगा। सुसखि—ङि। यहाँ (३३) से घि-संज्ञा होने से 'ङि' को औ तथा सखि के 'इ' को अ होकर 'सुसखौ' रूप होता है।

इसी प्रकार अतिशयितः सखा अतिसखा। परमः सखा यस्य (बहुव्रीहि) स परमसखा। इन के भी सुसखि की तरह रूप होंगे—अतिसखा। अतिसखायौ। अतिसखायः। परमसखा। परमसखायौ। परमसखायः। यहाँ 'परमसखि' में सखिशब्द के गौण होने पर भी अनङ् और णिद्वद्भाव होते हैं। परमः सखा—यहाँ तत्पुरुष होने से टच् समासान्त हो जाता, इसलिये बहुव्रीहि का आश्रयण किया है।

सखीमतिक्रान्तः अतिसखिः। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् इस परिभाषा से राजाहःसखिभ्यष्टच् (५।४।९१) से जो सखि शब्द को टच् समासान्त विधान किया है वह सखी शब्द से भी प्राप्त होता है, पर इस

परिभाषा के अनित्य होने से नहीं होता। अतिसखि—यहाँ सखी शब्द को उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त होने से गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८) से ह्रस्व हुआ है। अतः 'अतिसखि' में 'सखि' शब्द लाक्षणिक है, लक्षण से निष्पन्न हुआ है और लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् इस परिभाषा से प्रतिपदोक्त सखि शब्द का ही अनङ् तथा णिद्वद्भाव विधायक सूत्रों में ग्रहण होने से अनङ् और णिद्वद्भाव नहीं होंगे—अतिसखिः। अतिसखी (पूर्वसवर्ण दीर्घ)। अतिसखयः। लाक्षणिक होने से ही 'घि' संज्ञा का निषेध नहीं होगा। अतः हरि की तरह रूप होंगे—अतिसखिना। अतिसखये। अतिसखेः। अतिसखौ।

स्त्रियमतिक्रान्तः=अतिस्त्रिः। यहाँ उपसर्जन स्त्री प्रत्ययान्त 'स्त्री' शब्द को ह्रस्व हुआ है। ह्रस्व होने पर भी एकदेशविकृत न्याय से यह स्त्रीशब्द ही है, अतः स्त्रियाः (६।४।७९) से अतिस्त्रि—औ यहाँ इयङ् होगा—अतिस्त्रियौ। जस् परे जसि च (३५) से गुण, ङे, ङसि परे रहते घेर्ङिति (३६) से गुण, आङो नाऽस्त्रियाम् (३७) से ना-भाव, अच्च घेः (३८) से औत्व, ह्रस्वनद्यापो नुट् (१५) से नुट्—ये विधियाँ इयङ् आदेश को बाधकर हो जाती हैं। कारण कि ये सब सप्तमाध्यायस्थ हैं और इयङ्-विधायक शास्त्र स्त्रियाः (६।४।७९) षष्ठाध्यायस्थ है। विप्रतिषेधे परं कार्यम्। इसे कारिका में निबद्ध कर इस प्रकार कहा है—

गुण-नाभावौत्व-नुड्भिः परत्वात्पुंसि बाध्यते।
क्लीबे नुमा च स्त्रीशब्दस्येयङित्यवधार्यताम्॥

अतिस्त्रि (पुं०) को कहाँ-कहाँ इयङ् आदेश होता इसे भी इस प्रकार श्लोक-बद्ध कर कहा जाता है।

ओस्यौकारे च नित्यं स्याद् अम्शसोस्तु विभाषया।
इयादेशोऽचि नान्यत्र स्त्रियाः पुंस्युपसर्जने॥

अतिस्त्रि पुं०

प्र०	अतिस्त्रिः	अतिस्त्रियौ	अतिस्त्रयः
सं० प्र०	अतिस्त्रे	"	"
द्वि०	अतिस्त्रिम्—अतिस्त्रियम्	"	अतिस्त्रियः—अतिस्त्रीन्
तृ०	अतिस्त्रिणा	अतिस्त्रिभ्याम्	अतिस्त्रिभिः
च०	अतिस्त्रये	"	अतिस्त्रिभ्यः

पं०	अतिस्त्रेः	अतिस्त्रिभ्याम्	अतिस्त्रिभ्यः
ष०	,,	अतिस्त्रियोः	अतिस्त्रीणाम्
स०	अतिस्त्रौ	,,	अतिस्त्रिषु

४६—ङित् विभक्तियों के परे रहते नित्य स्त्रीलिंग ह्रस्व इकारान्त, उकारान्त शब्दों की विकल्प से 'नदी' संज्ञा होती है, पक्ष में (नदी-संज्ञा के अभाव में) 'घि' संज्ञा होती है।

४७—नदी-संज्ञक शब्दों से परे ङित् विभक्ति को आट् आगम होता है। टित् होने से यह आगम ङित् विभक्ति का पूर्व अवयव बनता है।

४८—ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्दों से जब वे नदीसंज्ञक होते हैं, ङि विभक्ति को आम् आदेश होता है। नदीत्व पक्ष में भी (४२) से ङि को औ प्राप्त था, अतः विशेष विधान कर दिया है।

प्रक्रिया—मति—औ। **मती** (पूर्व सवर्ण दीर्घ)। मति—जस्। मति—अस्। (३५)से गुण। **मतयः**। मति—अम्। **मतिम्**। (पूर्वरूप)। मति—शस्—**मतीः**(पूर्वसवर्ण दीर्घ)। मति—टा। **मत्या**। घिसंज्ञा होने पर भी स्त्री-लिंग होने से टा (आङ्) को 'ना' नहीं हुआ। मति—ङे =**मतये** (घि संज्ञा होने से गुण, अयादेश)। मति—ङसि। **मतेः** (गुण, पूर्वरूप एकादेश)। मति—ङि। **मतौ**(घि-संज्ञा होने से ङि को 'औ' और मति के इ को 'अ')। ङित् विभक्तियों में वैकल्पिक नदी संज्ञा होने से मति आट् ङे=**मत्यै**। मति—आम् (४८)। मति आट् आम्=**मत्याम्** (वृद्धि, यण्)। यहाँ आट् आगम होने पर आटश्च (६।१।९०) से आट् के तथा आम् के 'आ' के स्थान में वृद्धि एकादेश (आ) होता है तब 'मति' के 'इ' को यण् होता है। ऐसे ही मत्यै व मत्याः में वृद्धि होकर यण् होता है।

मति (बुद्धि) स्त्री०

प्र०	मतिः	मती	मतयः
सं० प्र०	मते	,,	,,
द्वि०	मतिम्	मती	मतीः

---

४६. ङिति ह्रस्वश्च (१।४।६)। इस सूत्र के अपेक्षित अंश का ही यहाँ व्याख्यान किया गया है।

४७. आण्नद्याः। (७।३।११२)।

४८. इदुद्भ्याम् (७।३।११७)।

तृ०	मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः
च०	मतये—मत्यै	,,	मतिभ्यः
पं०	मतेः—मत्याः	,,	,,
ष०	मतेः—मत्याः	मत्योः	मतीनाम्
स०	मतौ—मत्याम्	,,	मतिषु

इसी प्रकार निम्नलिखित इदन्त (ह्रस्व इकारान्त) स्त्रीलिंग शब्दों के रूप जानें—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
गति	गमन, चाल	गीति	गाना, गीत
तति	विस्तार	भीति	भय
सन्तति	सन्तान	पीति	पीना
नति	नमस्कार	प्रीति	प्रेम
हति	चोट	प्रतीति	अनुभव
संहति	संघात	दीधिति	किरण
पद्धति	मार्ग, सरणि	इष्टि	याग, यज्ञ
प्रकृति	मूलकारण, स्वभाव	वृष्टि	वर्षा
प्रतिकृति	छाया, सादृश्य	कटि } श्रोणि }	कटि, कमर
शक्ति	सामर्थ्य		
शुक्ति	सीप	भूति	भस्म, ऐश्वर्य
भक्ति	भक्ति, भाग	ओषधि	जड़ी बूटी
भुक्ति	भोग	शिरोधि	ग्रीवा, गर्दन
मुक्ति	मोक्ष	विपत्ति	विपद्
वृत्ति	जीविका, बर्ताव	सम्पत्ति	सम्पद्
धृति	धैर्य	बुद्धि	मति
स्मृति	स्मरण	श्रुति	वेद, कान
कीर्ति	यश	प्रतिश्रुति	प्रतिशब्द, गूंज
कृति	कार्य	स्तुति	गुणगान
स्थिति	ठहराव, अवस्था	संस्तुति	परिचय
प्रस्थिति	प्रस्थान	नुति	स्तुति
भृति	वेतन	आहुति	हवि, बलि
		आहूति	बुलाना

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
मूर्त्ति	मूर्त्ति	म्लानि } ग्लानि }	अवसाद, मुर्झाना
खनि	खान		
		योनि (पुं० भी)	कारण, स्त्रीयोनि
हानि } ज्यानि }	हानि	कोटि, अश्रि	कोना

४९—क्लीव (नपुंसकलिंग) अंग से परे सु और अम् का लुक् हो जाता है। प्रत्यय-लोप की लुक्, श्लु, लुप्—ये तीन संज्ञाएँ की हैं। **प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः** (१।१।६१)। भिन्न-भिन्न संज्ञा का प्रयोजन यथास्थान कहा जाएगा।

५०—इगन्त क्लीव अंग को नुम् आगम होता है अजादि विभक्ति परे होने पर। मित् होने से यह आगम अन्त्य अच् से परे होता है।

प्रक्रिया—वारि—सु=वारि। (४९) से सुलुक्। वारि औ। वारि शी (ई)। वारिन् ई। वारिणी (णत्व)। वारि शि (इ)। (२०) से जस् के स्थान में शि। यहाँ (२२) से नुम् प्राप्त होता है और (५०) से भी। (५०) सर्व अजादि विभक्तियों में चरितार्थ हो जाने से (२२) से बाधित हो जाता है, क्योंकि यह केवल 'शि' में ही प्रवृत्त होता है। किं च। 'झलचः' के स्थान में 'झलतः' इसी न्यास से सर्वेष्टसिद्धि होने पर भी जो अच् प्रत्याहार ग्रहण किया है इससे हम जानते हैं कि यही बलवत्तर है। वारिन् इ। इस स्थिति में अंग नान्त बन गया है और इससे परे सर्वनामस्थान विभक्ति पड़ी है (शि सर्वनामस्थानम्)। अब (२३) से उपधा को दीर्घ हो जाता है और णत्व होकर 'वारीणि' ऐसा रूप निष्पन्न होता है। वारि—सु (सम्बुद्धि)। सु का लुक्। वारि। **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१।१।६२), प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्यय-निमित्तक कार्य होता है। इससे लुप्त हुए प्रत्यय को मानकर (३४) से अंग को गुण हो जाना चाहिए। पर इसका निषेधक शास्त्र पढ़ा है—**न लुमताङ्गस्य** (१।१।६३), अर्थात् लुमान् शब्द (यथा लुक्) से प्रत्यय-लोप होने पर तन्निमित्तक कार्य अंग को नहीं होता। यहाँ लुक् शब्द से प्रत्यय का लोप हुआ है। इससे गुण रुक जाता है। पर इस शास्त्र को अनित्य माना जाता है, कहीं इस की प्रवृत्ति नहीं भी होती। प्रवृत्ति न होने से प्रत्ययलक्षण

---

४९. स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३)।

५०. इकोऽचि विभक्तौ (७।१।७३)।

कार्य गुण हो जाता है—'वारे' ऐसा रूप भी इष्ट है। वारि—टा। यहाँ ना-भाव-विधायक शास्त्र पर है, अतः नुम् विधायक शास्त्र को बाधकर 'टा' (आङ) को 'ना' हो जाता है। वारिणा। वारि—ङे। यहाँ गुण विधायक शास्त्र (घेर्ङिति) पर है, सो नुम् को बाधकर गुण होना चाहिए। इसके वारण के लिए वार्तिक पढ़ते हैं—

वृद्धयौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन। वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव तथा गुण को बाधकर पूर्वविप्रतिषेध से नुम् होता है। इससे नुम् हो जाता है। लक्ष्यानुरोध से **विप्रतिषेधे परं कार्यम्**—इस सूत्र में 'पर' शब्द इष्टवाची ले लिया जाता है। पूर्व को बलवत्तर मानकर उसकी प्रवृत्ति की जाती है। नुम् होकर 'वारिणे' यह इष्ट रूप सिद्ध होता है। वारि—आम् (षष्ठी बहु०)। पर होने से नुम् प्राप्त होता है, पूर्व विप्रतिषेध से(१५)से नुट् किया जाता है। वारीणाम्। पूर्वविप्रतिषेध का विधायक वार्तिक है—**नुमचिर-तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन**। वारि आम्—यदि यहाँ नुम् हो जाय, तो नुम् (न्) के अंग का अन्तावयव होने से अंग नान्त हो जायगा, अजन्त (ह्रस्वान्त) नहीं रहेगा और परे 'नाम्' नहीं होगा, जिससे (१६) से दीर्घ न हो सकने से वारिणाम् ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा। वारि—इ। यहाँ **'अच्च घेः'** के पर होने से ङि को औत् (औ) प्राप्त था, पूर्वविप्रतिषेध से नुम् होता है—वारिणि।

वारि (जल) नपुं०

प्र०	वारि	वारिणी	वारीणि
सं० प्र०	वारि-वारे	,,	,,
द्वि०	वारि	,,	,,
तृ०	वारिणा	वारिभ्याम्	वारिभिः
च०	वारिणे	,,	वारिभ्यः
पं०	वारिणः	,,	,,
ष०	,,	वारिणोः	वारीणाम्
स०	वारिणि	,,	वारिषु

५१—प्रवृत्ति-निमित्त के एक होने पर ऐसा इगन्त नपुंसकलिंग शब्द जिसका पुँल्लिंग में भी प्रयोग होता है उसके तृतीयादि अजादि विभक्तियों में

५१—तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य (७।१।७४)।

पुँल्लिग की तरह भी रूप होते हैं। सूत्र में गालव आचार्य का ग्रहण पूजा के लिए किया है।

शुचिः पुरुषः। शुचि जलम्। यहाँ शुचि शब्द जल का विशेषण होने से नपुंसक है, पर पुरुष का विशेषण होने पर यही पुँल्लिग है, अतः एक ही अर्थ में पुँल्लिग भी होने से यह भाषितपुंस्क है। भाषितः पुमान् अनेन इति। सूत्र में 'पुंवत्' का अर्थ है पुँल्लिग शब्दों की तरह कार्य होता है।

शुचि (कुलम्)

प्र०	शुचि	शुचिनी (कुले)	शुचीनि (कुलानि)
सं० प्र०	शुचि-शुचे	,,	,,
द्वि०	शुचि	,,	,,
तृ०	शुचिना	शुचिभ्याम्	शुचिभिः
च०	शुचिने-शुचये	,,	शुचिभ्यः
पं०	शुचिनः-शुचेः	,,	,,
ष०	शुचिनः-शुचेः	शुचिनोः-शुच्योः	शुचीनाम्
स०	शुचिनि-शुचौ	शुचिनोः-शुच्योः	शुचिषु

इसी प्रकार अविद्यमान आदिर्यस्य तदनादि। तृ०—अनादिना। च०—अनादिने—अनादये। पं०—अनादिनः-अनादेः। ष०—अनादिनः—अनादेः। ष० स० द्विवचन—अनादिनोः—अनाद्योः।

५२—क्लीब अजन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व हो जाता है।

सुष्ठु ध्यायतीति सुधि कुलम्। यहाँ सुधी शब्द एकार्थक होने पर भाषित-पुंस्क है। अतः तृतीयादि अजादि विभक्ति परे रहते इसे विकल्प से पुंवत् कार्य होगा। इसी प्रकार प्रकृष्टं ध्यायतीति प्रधि कुलम्—यहाँ प्रधी शब्द भी भाषितपुंस्क है। इसे भी तृतीयादि अजादि विभक्ति परे होने पर विकल्प से पुंवत् कार्य होगा। ऐसे ही ग्रामणि कुलम्—यहाँ भी ग्रामणी शब्द के भाषित-पुंस्क होने से विकल्प से पुंवत् कार्य होगा।

सुधि (कुलम्) नपुं०

प्र०	सुधि	सुधिनी (कुले)	सुधीनि (कुलानि)
सं० प्र०	सुधि-सुधे	,,	,,

---

५२. ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (१।२।४७)।

द्वि०	सुधि	सुधिनी	सुधीनि
तृ०	सुधिना-सुधिया	सुधिभ्याम्	सुधिभिः
च०	सुधिने-सुधिये	,,	सुधिभ्यः
पं०	सुधिनः—सुधियः	,,	,,
ष०	,, ,,	सुधिनोः—सुधियोः	सुधीनाम्—सुधियाम्
स०	सुधिनि—सुधियि	सुधिनोः—सुधियोः	सुधिषु

प्रधि (कुलम्) नपुं०

प्र०	प्रधि	प्रधिनी	प्रधीनि
सं० प्र०	प्रधि—प्रधे	,,	,,
द्वि०	प्रधि	,,	,,
तृ०	प्रधिना—प्रध्या	प्रधिभ्याम्	प्रधिभिः
च०	प्रधिने—प्रध्ये	,,	प्रधिभ्यः
पं०	प्रधिनः—प्रध्यः	,,	,,
ष०	प्रधिनः—प्रध्यः	प्रधिनोः—प्रध्योः	प्रधीनाम्—प्रध्याम्
स०	प्रधिनि—प्रध्यि	,, ,,	प्रधिषु

ग्रामणि (कुलम्) नपुं०

प्र०	ग्रामणि	ग्रामणिनी	ग्रामणीनि
सं० प्र०	ग्रामणि—ग्रामणे	,,	,,
द्वि०	ग्रामणि	,,	,,
तृ०	ग्रामणिना-ग्रामण्या	ग्रामणिभ्याम्	ग्रामणिभिः
च०	ग्रामणिने—ग्रामण्ये	,,	ग्रामणिभ्यः
पं०	ग्रामणिनः—ग्रामण्यः	,,	,,
ष०	ग्रामणिनः—ग्रामण्यः	ग्रामणिनोः—ग्रामाण्योः	ग्रामणीनाम्—ग्रामण्याम्
स०	ग्रामणिनि—ग्रामण्याम्	,, ,,	ग्रामणिषु

इसी प्रकार सेनानि (कुलम्) के रूप जानें। केवल यहाँ णत्व का निमित्त न होने से णत्व नहीं होगा। यहाँ पुंवद्भाव के कारण जो सुधिया, प्रध्या, ग्रामण्या आदि तृतीयादि अजादि विभक्तियों में रूप दिये हैं उनके लिये पुं० सुधी आदि की आगे दी हुई प्रक्रिया को देखें।

५३—अस्थि (हड्डी), दधि (दही), सक्थि (ऊरु) तथा अक्षि (आँख) को अनङ् आदेश होता है, तृतीयादि अजादि विभक्ति परे होने पर। ङित् होने से यह आदेश अनेकाल् होने पर भी अन्त्य (इ) के स्थान में होता है। ङिच्च। यह 'इकोऽचि नुम् विभक्तौ' का अपवाद है।

५४—अन्नन्त (अन् अन्त) अङ्ग के 'अन्' के 'अ' का लोप हो जाता है जब अङ्ग की 'भ' संज्ञा हो। असर्वनामस्थान यकारादि अजादि विभक्ति परे होने पर अङ्ग की 'भ' संज्ञा होती है ऐसा पूर्व कह आए हैं।

५५—ङि (सप्तमी एक०) तथा नपुंसकलिङ्ग विभक्ति 'शी' परे होने पर भ-संज्ञक अन्नन्त अङ्ग के अन् के 'अ' का लोप होता है।

प्रक्रिया—प्र० एक—अस्थि। सुलुक्। अस्थि—शी (ई)। अस्थि न् ई। (५०) से नुम्। अस्थिनी। अस्थि-शि। अस्थि न् इ। (५०) से नुम्। शि की सर्वनामस्थान संज्ञा होने से और नुम् आने से नान्त अङ्ग बने हुए अस्थिन् की उपधा (इ) को (२३) से दीर्घ—अस्थीनि। सम्बुद्धि में—अस्थि-अस्थे। अस्थि-टा (आ)। अस्थ् अन् आ। 'इ' को अनङ् (अन्)। अस्थ्ना। (५४) से अल्लोप (अत्=अ का लोप)। अस्थि—ङि। अस्थ् अन् इ। अनङ्। अस्थनि। अस्थ्नि। (५५) से अन् के 'अ' का विकल्प से लोप। दधि, सक्थि, अक्षि की भी ऐसी प्रक्रिया है, केवल अक्षि में णत्व का निमित्त (ष्) होने से अजादि विभक्तियों में णत्व होगा—अक्षिणी। अक्षीणि। अक्ष्णा इत्यादि।

अस्थि (नपुं०)

प्र०	अस्थि	अस्थिनी	अस्थीनि
सं० प्र०	अस्थि-अस्थे	,,	,,
द्वि०	अस्थि	,,	,,
तृ०	अस्थ्ना	अस्थिभ्याम्	अस्थिभिः
च०	अस्थ्ने	,,	अस्थिभ्यः
पं०	अस्थ्नः	,,	,,
ष०	,,	अस्थ्नोः	अस्थ्नाम्
स०	अस्थनि-अस्थ्नि	अस्थ्नोः	अस्थिषु

---

५३. अस्थि-दधि-सक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः (७।१।८५)।

५४. अल्लोपोऽनः (६।४।१३४)।

५५. विभाषा ङिश्योः (६।४।१३६)।

दधि (दही) नपुं०

प्र०	दधि	दधिनी	दधीनि
सं० प्र०	दधि—दधे	,,	,,
द्वि०	दधि	,,	,,
तृ०	दध्ना	दधिभ्याम्	दधिभिः
च०	दध्ने	,,	दधिभ्यः
पं०	दध्नः	,,	,,
ष०	दध्नः	दध्नोः	दध्नाम्
स०	दधनि—दध्नि	,,	दधिषु

सक्थि (ऊरु) नपुं०

प्र०	सक्थि	सक्थिनी	सक्थीनि
सं० प्र०	सक्थि—सक्थे	,,	,,
द्वि०	सक्थि	,,	,,
तृ०	सक्थ्ना	सक्थिभ्याम्	सक्थिभिः
च०	सक्थ्ने	,,	सक्थिभ्यः
पं०	सक्थ्नः	,,	,,
ष०	सक्थ्नः	सक्थ्नोः	सक्थ्नाम्
स०	सक्थनि—सक्थ्नि	,,	सक्थिषु

अक्षि (आँख) नपुं०

प्र०	अक्षि	अक्षिणी	अक्षीणि
सं० प्र०	अक्षि-अक्षे	,,	,,
द्वि०	अक्षि	,,	,,
तृ०	अक्ष्णा	अक्षिभ्याम्	अक्षिभिः
च०	अक्ष्णे	,,	अक्षिभ्यः
पं०	अक्ष्णः	,,	,,
ष०	,,	अक्ष्णोः	अक्ष्णाम्
स०	अक्षणि-अक्ष्णि	,,	अक्षिषु

यहाँ इदन्त शब्द समाप्त हुए।

५६—श्नुप्रत्ययान्त अंग, इवर्ण-उवर्णान्त धातु तथा भ्रू इस अंग को

५६—अचि श्नु-धातु-भ्रुवां य्वोरियङुवङौ (६।४।७७)।

इयङ् उवङ् आदेश होते हैं अजादि प्रत्यय परे रहते। आदेश के ङित् होने से अनेकाल् होने पर भी अन्त्य 'इ' को इयङ् और अन्त्य 'उ' को उवङ् होता है। आदेश स्थानी के अन्तरतम (सदृशतम) होता है, अतः इ को इयङ्, उ को उवङ्।

५७—धात्ववयव-संयोग पूर्व नहीं है जिस धातु के इकार से, तदन्त अनेकाच् अंग को यण् होता है अजादि प्रत्यय परे होने पर। यह (५६) का अपवाद है।

प्रक्रिया—सुधी, प्रधी में ध्यै धातु को क्विप् प्रत्यय परे आत्व होकर सम्प्रसारण (य् को इ) और पूर्वरूप इ होने पर इस 'इ' को दीर्घ हुआ है, सो यह 'ई' धातु का ही 'ई' है। ऐसे इकार को अजादि प्रत्यय परे रहते यण् होता है जिससे पूर्व धात्ववयव-रूप (धातु के अवयवों का) संयोग न हो। पर 'सुधी' के ई को यण् नहीं होता, न भू-सुधियोः (६।४।८५) से निषेध हो जाने से।(५६) से इयङ् (इय) होता है। 'ग्रामणी' तथा सेनानी शब्दों में 'ई' नी धातु का है, इन्हें भी अजादि प्रत्यय परे रहते यण् होता है। (२५) से सुलोप की प्राप्ति न होने से सुलोप नहीं होता—**सुधीः। प्रधीः। ग्रामणीः।** अम् परे रहते पूर्वरूप को बाधकर इयङ्—**सुधियम्।** यण्—**प्रध्यम्। ग्रामण्यम्। सेनान्यम्।** शस् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ को बाधकर इयङ्—**सुधियः।** इत्यादि। ङि परे रहते (२९) से ङि को आम्—**ग्रामण्याम्। सेनान्याम्।** सूत्र में 'नी' पढ़ा है।

सुधी (बुद्धिमान् पुं०)

प्र०	**सुधीः**	**सुधियौ**	**सुधियः**
सं० प्र०	**सुधीः**	,,	,,
द्वि०	**सुधियम्**	,,	,,
तृ०	**सुधिया**	**सुधीभ्याम्**	**सुधीभिः**
च०	**सुधिये**	,,	**सुधीभ्यः**
पं०	**सुधियः**	,,	,,
ष०	,,	**सुधियोः**	**सुधियाम्**
स०	**सुधियि**	,,	**सुधीषु**

५७—एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य (६।४।८२)।

प्रधी (बुद्धिमान्) पुं०

प्र०	प्रधीः	प्रध्यौ	प्रध्यः
सं० प्र०	प्रधीः	,,	,,
द्वि०	प्रध्यम्	,,	,,
तृ०	प्रध्या	प्रधीभ्याम्	प्रधीभिः
च०	प्रध्ये	,,	प्रधीभ्यः
पं०	प्रध्यः	,,	,,
ष०	प्रध्यः	प्रध्योः	प्रध्याम्
स०	प्रध्यि	,,	प्रधीषु

ग्रामणी (ग्राम का नेता, नापित) पुं०

प्र०	ग्रामणीः	ग्रामण्यौ	ग्रामण्यः
सं० प्र०	ग्रामणीः	,,	,,
द्वि०	ग्रामण्यम्	,,	,,
तृ०	ग्रामण्या	ग्रामणीभ्याम्	ग्रामणीभिः
च०	ग्रामण्ये	,,	ग्रामणीभ्यः
पं०	ग्रामण्यः	,,	,,
ष०	ग्रामण्यः	ग्रामण्योः	ग्रामण्याम्
स०	ग्रामण्याम्	,,	ग्रामणीषु

इसी प्रकार सेनानी (पुं०) के रूप जानें।

नी (पुं०) नेता

प्र०	नीः	नियौ	नियः
सं० प्र०	नीः	,,	,,
द्वि०	नियम्	,,	,,
तृ०	निया	नीभ्याम्	नीभिः
च०	निये	,,	नीभ्यः
पं०	नियः	,,	,,
ष०	नियः	नियोः	नियाम्
स०	नियि	,,	नीषु

उन्नयतीति उन्नीः। यह अनेकाच् अङ्ग है। धातु के 'ई' से पूर्व संयोग है, पर वह धातु के अवयवों का संयोग नहीं। अतः यण् निर्बाध होगा—उन्नीः। उन्न्यौ। उन्न्यः इत्यादि।

५८—पूर्वसूत्र (५७) से अतिप्रसक्त यण् के वारण के लिये भाष्यकार इष्टि पढ़ते हैं—**गति-कारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते**—अर्थात् यदि पूर्वपद गति अथवा कर्म आदि कारक से भिन्न हो तो यण् नहीं होता—**शुद्धा धीर्यस्य। परमा धीर्यस्य। शुद्धधीः। परमधीः। शुद्धधी औ—शुद्धधियौ** (इयङ्)। **शुद्धधी—जस्=शुद्धधियः** (इयङ्)। 'सुधी' की तरह रूप होंगे। शुद्ध तथा परम—यह विशेषणमात्र हैं, जो न गति हैं और न कारक। पूर्वपद होने पर तभी यण् होता है जब पूर्वपद गति हो अथवा कारक हो। यदि ऐसा है तो **दुर्धियः, वृश्चिकभिया** में यण् क्यों नहीं हुआ। **यद्युक्ताः प्रादयस्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञा भवन्ति**—प्र, परा आदि निपातों का जिसके साथ योग हो उसी के प्रति ये गति-संज्ञक अथवा उपसर्ग-संज्ञक होते हैं। यहाँ **दुःस्थिता धीर्येषां ते दुर्धियः**, 'दुस्' 'स्थित' के प्रति गति-संज्ञक है, 'धी' के प्रति नहीं, अतः पूर्वपद 'गति' नहीं। वृश्चिकभिया, यहाँ वृश्चिकाद् भीः, तया, अपादान की विवक्षा नहीं, सम्बन्धमात्र में षष्ठी मानकर वृश्चिकस्य भीः, तया, पूर्वपद कारक नहीं रहता। अतः यण् की प्राप्ति नहीं रहती। **शुद्धं ब्रह्म ध्यायति शुद्धधीः**। यहाँ अजादि प्रत्यय परे रहते यण् निर्बाध होगा—**शुद्धध्या। शुद्धध्ये।**

प्रकृष्टा धीर्यस्य स प्रधीः। यहाँ पूर्वपद विशेषण है, न गति, और न कारक। सो यहाँ यण् नहीं होगा, किन्तु सुधी की तरह इयङ् होगा।

प्रक्रिया—वातप्रमी (वातं प्रमिमीते, वायु को मानो मापता चला जाता है, मृगविशेष) शब्द दो प्रकार का है—(१) माङ् माने से उणादि 'ई' प्रत्यय करके बनाया जाता है। यह 'ई' प्रत्यय कित् माना जाता है, जिससे **आतो लोप इटि च** (६।४।६४) से धातु के 'आ' का लोप हो जाता है। (२) माङ् से क्विप् करने पर धातु के 'आ' को 'ई' हो जाने से निष्पन्न होता है। ई-प्रत्ययान्त 'वातप्रमी' से औ और जस् परे होने पर दीर्घ होने के कारण (३०) से पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध हो जाने से यथाप्राप्त इक् को यण् होता है—**वातप्रम्यौ। वातप्रम्यः**। 'ई' दीर्घ है पर यह स्त्रीप्रत्यय ङी नहीं है, अतः 'सु' का लोप नहीं होता—**वातप्रमीः**। सम्बुद्धि 'सु' परे भी नदी संज्ञा न होने से ह्रस्व नहीं होता। ह्रस्व न होने से गुण भी नहीं होता—**हे वातप्रमीः**। अम्

५८—गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते। (इष्टि)

परे रहते (१ ख) से पूर्वरूप होगा—**वातप्रमीम्**। शस् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध न होने से पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर (७) से शस् के 'स्' को 'न्'—**वातप्रमीन्**। तृतीया एक० टा परे रहते यण् होकर **वातप्रम्या**। 'घि' संज्ञा न होने से टा (आङ्) को 'ना' आदेश नहीं होता। वातप्रमी—आम्। वातप्रम्याम्। दीर्घ होने से (१५) से नुट् की प्राप्ति नहीं है। ङि परे रहते सवर्ण दीर्घ एकादेश होकर '**वातप्रमी**' ऐसा रूप होगा।

क्विबन्त वातप्रमी शब्द को (५७) से सर्वत्र अजादि विभक्ति परे होने पर यण् होगा। (५७) प्रथमयोः पूर्वसवर्णः, अमि पूर्वः, अकः सवर्णे दीर्घः—इन सबको पर होने से बाधता है।

वातप्रमी (ईप्रत्ययान्त) मृगविशेष

प्र०	वातप्रमीः	वातप्रम्यौ	वातप्रम्यः
सं० प्र०	वातप्रमीः	"	वातप्रम्यः
द्वि०	वातप्रमीम्	"	वातप्रमीन्
तृ०	वातप्रम्या	वातप्रमीभ्याम्	वातप्रमीभिः
च०	वातप्रम्ये	"	वातप्रमीभ्यः
पं०	वातप्रम्यः	"	"
ष०	वातप्रम्यः	वातप्रम्योः	वातप्रम्याम्
स०	वातप्रमी	"	वातप्रमीषु

वातप्रमी (क्विबन्त)

प्र०	वातप्रमीः	वातप्रम्यौ	वातप्रम्यः
सं० प्र०	"	"	"
द्वि०	वातप्रम्यम्	"	"
तृ०	वातप्रम्या	वातप्रमीभ्याम्	वातप्रमीभिः
च०	वातप्रम्ये	"	वातप्रमीभ्यः
पं०	वातप्रम्यः	"	"
ष०	"	वातप्रम्योः	वातप्रम्याम्
स०	वातप्रम्यि	"	वातप्रमीषु

यान्त्यनेन ययी मार्गः। पाति लोकं पपीः सूर्यः। ये दोनों शब्द 'यापोः किद् द्वे च' इस उणादि सूत्र से ई प्रत्यय और द्वित्व करके निष्पन्न होते हैं। यह 'ई' प्रत्यय कित् माना जाता है, जिससे धातु के 'आ' का आतो लोप इटि

च (६।४।६४) से लोप हो जाता है। ठीक ईप्रत्ययान्त 'वातप्रमी' की तरह इनके रूप होते हैं।

ययीः। पपीः। यय्यौ। पप्यौ। ययीम्। पपीम्। ययीन्। पपीन् इत्यादि।

५६—नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द की वृत्ति (समास आदि) में गौणता होने पर भी 'नदी' संज्ञा बनी रहती है।

प्रक्रिया—बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी। यहाँ **ईयसश्च**(५।४।१५६) से कप् समासान्त का निषेध कर दिया गया है। **ईयसो बहुव्रीहेर्न** (वा०) से उपसर्जन ह्रस्व का भी निषेध हो जाता है। प्र० एक०—**बहुश्रेयसी**। यहाँ 'ई' स्त्रीप्रत्यय 'ङी' है, श्रेयसी शब्द ङ्यन्त है, उससे परे 'सु' है, अतः (२५) से सुलोप। बहुश्रेयसी—औ। बहुश्रेयसी—जस्। यहाँ (३०) से पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध हो जाने से यथाप्राप्त यण् होता है—**बहुश्रेयस्यौ**। **बहुश्रेयस्यः**। अम् परे रहते (१ ख) से पूर्वरूप—**बहुश्रेयसीम्**। बहुश्रेयसी—शस्। पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध न होने से पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर शस् के स् को न्—**बहुश्रेयसीन्**। सम्बुद्धि में नदी संज्ञा होने से (३१) से ह्रस्व—(हे) **बहुश्रेयसि**। ह्रस्व विधान-सामर्थ्य से (३४) से गुण नहीं होता। यदि गुण इष्ट होता तो 'नदीह्रस्वयोर्गुणः' ऐसा न्यास कर देते। बहुश्रेयसी—टा= **बहुश्रेयस्या**। नदी-संज्ञा होने से (४७) से आट् और **आटश्च** से वृद्धि एकादेश होकर **बहुश्रेयस्यै**। **बहुश्रेयस्याः, बहुश्रेयस्याः**—चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी के एक० में रूप होंगे। षष्ठी बहु० में नुट् होकर—**बहुश्रेयसीनाम्**, तथा सप्तमी एक० में ङि को आम् होकर **बहुश्रेयस्याम्** रूप होंगे। यहाँ आम् आदेश होने पर आट् और नुट् दोनों प्राप्त होते हैं। पर होने से आट् होता है, नुट् नहीं। आट् और आम् के दोनों आकारों के स्थान में वृद्धि एकादेश (आ) होता है।

बहुश्रेयसी (पुं०)

प्र०	**बहुश्रेयसी**	**बहुश्रेयस्यौ**	**बहुश्रेयस्यः**
सं० प्र०	**बहुश्रेयसि**	,,	,,
द्वि०	**बहुश्रेयसीम्**	,,	**बहुश्रेयसीन्**
तृ०	**बहुश्रेयस्या**	**बहुश्रेयसीभ्याम्**	**बहुश्रेयसीभिः**

---

५६. प्रथमलिङ्गग्रहणं च (वा०)।

च०	बहुश्रेयस्यै	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्यः
पं०	बहुश्रेयस्याः	,,	,,
ष०	,,	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीनाम्
स०	बहुश्रेयस्याम्	,,	बहुश्रेयसीषु

प्रक्रिया—कुमारीमिच्छति, कुमारीवाचरतीति वा कुमारी पुरुषः। यहाँ क्यच् प्रत्ययान्त 'कुमारी-य' से क्विप् प्रत्यय किया है। क्विप् आर्धधातुक कृत् प्रत्यय है। इसके परे रहते **अतो लोपः** (६।४।४८) से 'य' के 'अ' का लोप हो जाता है, तब य् का **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६६) से लोप हो जाता है। क्विप् का सर्वापहारी लोप हो जाता है। **अचः परस्मिन्पूर्वविधौ** (१।१।५७), पर-निमित्तक अजादेश पूर्वविधि की कर्तव्यता में स्थानिवत् होता है, इससे 'अ'-लोप के स्थानिवत् होने से यण् प्राप्त होता है। **क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्** (वा०), क्विप् प्रत्यय के निमित्त से जो लोप हुआ है वह स्थानिवत् नहीं होता है। 'क्विबन्ता धातुत्वं न जहति' इस वचन से कुमारी में धातुत्व बना रहता है। कुमारी शब्द में ई स्त्रीप्रत्यय ङी है, अतः सुलोप होगा—**कुमारी**। अजादि प्रत्यय परे रहते यण्—**कुमार्यौ**। **कुमार्यः**। **कुमार्यम्**। **कुमार्यः** (शस्)। (५९) से नदी-संज्ञा होने से सम्बुद्धि में ह्रस्व—**हे कुमारि**। और ङित् विभक्ति परे रहते आट् तथा वृद्धि एकादेश होकर **कुमार्यै, कुमार्याः** इत्यादि। ङि को आम् आदेश होकर **कुमार्याम्**।

सखायम् इच्छति सखीयति। ततः क्विप्। अल्लोप, य्-लोप। क्यच् (य) जो न तो कृत् का यकार है और न सार्वधातुक यकार, के परे होने पर दीर्घ होकर सखीरूप होने पर भी **'एकदेशविकृतमनन्यवत्'** इस न्याय से अनङ् तथा णिद्वद्भाव होता है—**सखा**। **सखायौ**। **सखायः**। सम्बुद्धि में अनङ् और णिद्वद्भाव न होने से और 'ङी' न होने से सुलोप नहीं होता—(हे) **सखीः**। अम् परे पर होने से **अमि पूर्वः** को बाध कर (५७) से यण् प्राप्त होता है, उसे **सख्युरसम्बुद्धौ** पर होने से बाध लेता है—**सखायम्**। शसि—यण् होकर **सख्यः**। तृतीयादि अजादि विभक्ति परे होने पर सर्वत्र यण्—**सख्या**। **सख्ये**। **सख्युः** (यण् होकर 'ख्य' रूप होने से अस् के 'अ' को 'उ')। ङि में औत् आदेश की प्राप्ति न होने से **सख्यि**।

सखी (ईकारान्त पुं०)

प्र०	सखी:	सखायौ	सखायः
सं० प्र०	सखीः	,,	,,
द्वि०	सखायम्	,,	सख्यः
तृ०	सख्या	सखीभ्याम्	सखीभिः
च०	सख्ये	,,	सखीभ्यः
पं०	सख्युः	,,	,,
ष०	,,	सख्योः	सख्याम्
स०	सख्यि	,,	सखीषु

प्रक्रिया—नदी शब्द ङीप्-प्रत्ययान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्द है। इसकी (१५ ख) से 'नदी' संज्ञा है। ङ्यन्त से परे सु का लोप—नदी। सम्बुद्धि सु परे ङ्यन्त होने से सु का लोप। नदी संज्ञा होने से ह्रस्व—हे नदि। औ तथा जस् परे (३०) से पूर्व-सवर्ण-दीर्घ का निषेध हो जाने से यथाप्राप्त यण्— नद्यौ। नद्यः। नदी—अम्। नदीम्। (१ ख) से पूर्वरूप। शस् परे पूर्व-सवर्ण-दीर्घ—नदीः। स्त्रीलिङ्ग होने से शस् के स् को 'न्' नहीं हुआ। नदी—टा=नद्या। ङित् विभक्तियों में आट्, वृद्धि एकादेश—नद्यै। नद्याः। नद्याः। (२९) से ङि को आम्—नद्याम्। षष्ठी बहु० आम् की 'नदी' संज्ञा होने से नुट्—नदीनाम्।

नदी (स्त्री०)

प्र०	नदी	नद्यौ	नद्यः
सं० प्र०	नदि	,,	,,
द्वि०	नदीम्	,,	नदीः
तृ०	नद्या	नदीभ्याम्	नदीभिः
च०	नद्यै	,,	नदीभ्यः
पं०	नद्याः	,,	,,
ष०	,,	नद्योः	नदीनाम्
स०	नद्याम्	,,	नदीषु

इसी प्रकार निम्नलिखित ईदन्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप जानें—

शब्द	अर्थ
सरस्वती	वाणी, वाणी की अधिष्ठात्री देवता, नदी का नाम

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
वाणी, भारती	वाणी	पद्धती	मार्ग
पृथवी, पृथिवी, पृथ्वी	भूमि	शकटी	छकड़ा
स्थली	बन आदि में अकृत्रिम प्रदेश	मत्सी	मच्छी
तटी	तट	जननी, जनयित्री	माता
तटिनी, तरङ्गिणी, स्रोतस्विनी, वाहिनी	नदी	कुमारी	कुँवारी
सुरधुनी	गंगा	कौमुदी	चाँदनी
वाहिनी	सेना	देहली, अवग्रहणी	दहलीज
वापी	बावली	धात्री	धाय
वल्ली	बेल	देवी, राज्ञी, महिषी	रानी
रजनी, विभावरी, शर्वरी, निशीथिनी	रात	महिषी	भैंस
		अरण्यानी	बड़ा जंगल
		एकपदी	पगडंडी
		आचार्यानी	आचार्य की स्त्री

प्रक्रिया—लोक में सखी शब्द ङीषन्त निपातन किया है। **प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्**—इस परिभाषा के अनुसार सखि (पुं०) को जो अनङ् आदेश तथा णिद्वद्भाव आदि कार्य विधान किये हैं वे लिङ्ग-विशिष्ट सखी (स्त्री) को भी प्राप्त होते हैं। तिस पर वार्तिककार यह वार्तिक पढ़ते हैं—**विभक्तौ लिङ्गविशिष्टस्याग्रहणम्**, विभक्ति-निमित्तक कार्यों की कर्तव्यता में लिङ्गविशिष्ट का ग्रहण नहीं होता। इससे अनङ् आदि नहीं होते। नदी की तरह रूप चलते हैं।

९०—'स्त्री' शब्द को इयङ् आदेश होता है अजादि प्रत्यय परे रहते। स्त्री शब्द का 'ई' धातु का 'ई' नहीं। स्त्यै धातु से औणादिक ड्रट् प्रत्यय

---

९०. स्त्रियाः (६।४।७९)।

करके प्रत्यय के टित् होने से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप् होता है। सो स्त्री का 'ई' ङीप् है। अतः (५६) से इयङ् की प्राप्ति न थी। इसलिये विशेष विधान कर दिया है।

६१—अम् व शस् विभक्तियों के परे रहते स्त्री को इयङ् विकल्प से होता है। पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त था।

६२—जिन स्त्र्याख्य ई व ऊ को इयङ् अथवा उवङ् होता है, उनकी नदीसंज्ञा नहीं है। 'स्त्री' शब्द की तो होती ही है, यद्यपि इसके 'ई' को इयङ् आदेश होता है। सूत्र में इयङुवङ् स्थानौ—यह व्यधिकरण बहुव्रीहि है। इयङुवङोः स्थानं स्थितिर्ययोः, तावीदूतौ। आदेश भले ही न हुआ हो, आदेश की योग्यतामात्र में भी नदी संज्ञा का निषेध होता है।

६३—आम् परे रहते (६२) से अप्राप्त नदी-संज्ञा का विकल्प होता है। 'स्त्री' शब्द की नदी-संज्ञा का निषेध नहीं, अतः विकल्प भी नहीं। यह अप्राप्त विभाषा है।

६४—ङित् विभक्तियों के परे रहते इयङ्—उवङ् आदेश के स्थानी स्त्र्याख्य ई, ऊ की विकल्प से नदी संज्ञा होती है। यह भी अप्राप्त विभाषा है। 'स्त्री' शब्द की तो नित्य 'नदी' संज्ञा है।

प्रक्रिया—स्त्री—सु। (२५) से ङी से परे 'सु' का लोप। स्त्री। स्त्री—अम्। स्त्रीम् (अमि पूर्वः)। स्त्रियम् (६१)। स्त्री—शस्। (६१) से विकल्प से इयङ्, पक्ष में पूर्व सवर्ण दीर्घ—स्त्रियः। स्त्रीः। स्त्री—आट् ङे। स्त्री ऐ (वृद्धि एकादेश)। स्त्रियै। (६०) से इयङ्। स्त्री—आम् (षष्ठी बहु०)। पर होने से इयङ् को बाध कर नुट्। नदी-संज्ञा का विकल्प न होने से एक ही रूप—स्त्रीणाम्। सम्बुद्धि में ह्रस्व—हे स्त्रि।

स्त्री

प्र०	स्त्री	स्त्रियौ	स्त्रियः
सं० प्र०	स्त्रि	"	"

---

६१. वाम्शसोः (६।४।८०)।

६२. नेयङुवङ्-स्थानावस्त्री (१।४।४)।

६३. वामि (१।४।५)।

६४. ङिति ह्रस्वश्च (१।४।६)।

द्वि०	स्त्रीम्—स्त्रियम्	स्त्रियौ	स्त्रीः—स्त्रियः
तृ०	स्त्रिया	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभिः
च०	स्त्रियै	,,	स्त्रीभ्यः
पं०	स्त्रियाः	,,	,,
ष०	स्त्रियाः	स्त्रियोः	स्त्रीणाम्
स०	स्त्रियाम्	,,	स्त्रीषु

प्रक्रिया—श्री—सु । श्रीः । 'श्री' शब्द श्रिञ् सेवायाम् से क्विप् प्रत्यय करके धातु के इ को दीर्घ करके निष्पन्न हुआ है । अतः इसका 'ई' ङी नहीं है, इसलिये (२५) से सुलोप नहीं होता । सम्बुद्धि 'सु' परे रहते आदेशमात्र की योग्यता होने पर भी नदीसंज्ञा का निषेध होता है । (६२) । अतः (३१) से ह्रस्व नहीं होता— हे श्रीः । अजादि प्रत्यय परे रहते (५६) से इयङ् । श्रियौ । श्रियः । श्रियम् । (६।१।१०२) पूर्वसवर्ण दीर्घ को पर होने से बाधता है, अतः श्री—शस् । श्रियः । (इयङ्) । ङित् विभक्तियों में (६४) से विकल्प से नदीसंज्ञा है । नदी-संज्ञा पक्ष में 'स्त्री' की तरह रूप होंगे और पक्षान्तर में 'घि' संज्ञा न होने से गुण नहीं होता । (५६) से इयङ् होता है । श्रिये । श्रियै । नदीसंज्ञापक्ष में आट्, तथा वृद्धि एकादेश भी होंगे । आम् (ष० बहु०) में नदी-संज्ञा-विकल्प होने से दो रूप—श्रियाम् । श्रीणाम् ।

श्री स्त्री० (शोभा, सम्पत्ति, लक्ष्मी)

प्र०	श्रीः	श्रियौ	श्रियः
सं० प्र०	श्रीः	,,	,,
द्वि०	श्रियम्	,,	श्रियः
तृ०	श्रिया	श्रीभ्याम्	श्रीभिः
च०	श्रिये—श्रियै	,,	श्रीभ्यः
पं०	श्रियः—श्रियाः	,,	,,
ष०	,, ,,	श्रियोः	श्रियाम्—श्रीणाम्
स०	श्रियि-श्रियाम्	,,	श्रीषु

इसी प्रकार 'ह्री' के रूप जानें ।

'धी' शब्द में भी जो 'ई' है वह ध्यै धातु को सम्प्रसारण करके और उसे दीर्घ करके प्राप्त होता है । स्त्रीप्रत्यय 'ङी' नहीं, अतः इसके 'ह्री' की तरह रूप होंगे—

धी (बुद्धि) स्त्री०

प्र०	धीः	धियौ	धियः
सं० प्र०	धीः	,,	,,
द्वि०	धियम्	,,	,,
तृ०	धिया	धीभ्याम्	धीभिः
च०	धिये—धियै	,,	धीभ्यः
पं०	धियः—धियाः	,,	,,
ष०	,, ,,	धियोः	धियाम्—धीनाम्
स०	धियि-धियाम्	,,	धीषु

अवी (रजस्वला), लक्ष्मी, तरी (नौका), स्तरी (धुआँ), तन्त्री (वीणा), ह्री (लज्जा)—इनसे परे सुलोप नहीं होता। इनका 'ई' स्त्री प्रत्यय ङी नहीं, सो सुलोप प्राप्त ही नहीं। अवीः। लक्ष्मीः। तरीः। स्तरीः। तन्त्रीः। शेष 'नदी' की तरह।

यहाँ ईदन्त शब्द समाप्त हुए।

प्रक्रिया—'गुरु' (=उपाध्याय, उपनेता) की (३३) से घि-संज्ञा है, अतः इसके रूप इदन्त 'हरि' की तरह होंगे, केवल 'उ' को यण् 'व्' होगा। और गुण 'ओ' होकर यथाप्रप्त अवादेश।

गुरु पुं०

प्र०	गुरुः	गुरू	गुरवः
सं० प्र०	गुरो	,,	,,
द्वि०	गुरुम्	गुरू	गुरून्
तृ०	गुरुणा	गुरुभ्याम्	गुरुभिः
च०	गुरवे	,,	गुरुभ्यः
पं०	गुरोः	,,	,,
ष०	,,	गुर्वोः	गुरूणाम्
स०	गुरौ	,,	गुरुषु।

इसी प्रकार निम्नलिखित उदन्त पुंल्लिङ्ग शब्दों के रूप जानें—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
तरु	वृक्ष	पर्शु } परशु }	परसा, कुल्हाड़ा
इक्षु	ईख		
जन्तु	जीव	मृत्यु (स्त्री० भी)	मरण, निधन
आगन्तु	आगन्तुक		
अन्धु	कुआँ	शम्भु	शिव
बन्धु	बन्धु	बाहु (स्त्री० भी)	भुजा
शत्रु } रिपु }	शत्रु	सूनु	पुत्र
		शिशु	बच्चा
पशु	पशु	बटु	ब्रह्मचारी
ऋतु	रुत, स्त्री-रज	बिन्दु	बूँद
क्रतु	सोमयाग	हनु (स्त्री० भी)	ठोडी, जबड़ा
विधु } इन्दु }	चाँद	हेतु	कारण
		केतु	झण्डा
भानु	सूर्य, किरण	धातु	लोह आदि, भू आदि
अंशु	किरण		
इषु (स्त्री० भी)	बाण	मधु	वसन्त
अभीषु	बागडोर	सिन्धु	समुद्र
असु	प्राण	सेतु	बाँध, पुल
वायु	हवा	गोमायु	गीदड़
पायु	गुदा	वेणु	बाँस
अणु	परमाणु	तन्तु	धागा
पांसु	धूलि	कन्दु (स्त्री० भी)	तन्दूर

६५—क्रोष्टु (गीदड़) शब्द तृजन्त (तृच् प्रत्ययान्त) शब्द के समान रूप को प्राप्त होता है सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर। अर्थात् क्रोष्टु शब्द के स्थान में क्रोष्टृ का प्रयोग होता है। यह रूपातिदेश है। क्रोष्टृ—सु।

---

६५. तृज्वत् क्रोष्टुः (७।१।९५)।

६६—ऋदन्त अङ्ग को ङि तथा सर्वनामस्थान परे रहते गुण होता है। इससे क्रोष्टृ—सु में गुण प्राप्त हुआ।

६७—ऋदन्त, उशनस् (शुक्राचार्य का नामान्तर), पुरुदंसस् (इन्द्र), अनेहस् (समय)—इन अङ्गों को अनङ् आदेश होता है सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे होने पर। ङित् होने से यह आदेश अनेकाल् होने पर भी अन्त्य के स्थान में होता है। क्रोष्टन्—सु।

६८—अप् (जल), तृन्नन्त, तृजन्त, स्वसृ, नप्तृ (पोता, दोहता), नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ (सारथि), होतृ, पोतृ, प्रशास्तृ (ऋत्विग्विशेष)—इन अङ्गों की उपधा को दीर्घ होता है सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर। क्रोष्टान् स्। (२५) से 'स्') का लोप। (४५) से 'न्' का लोप। क्रोष्टा।

उणादि व्युत्पन्न भी माने जाते हैं और अव्युत्पन्न भी। स्वसृ आदि यदि व्युत्पन्न हैं तो ये तृच्प्रत्ययान्त ही हैं। इनका ग्रहण नियमार्थ रहेगा—इन्हीं की उपधा को दीर्घ होता है, अन्य औणादिक तृजन्त शब्दों की उपधा को नहीं। यदि अव्युत्पन्न हैं तो तृजन्त, तृन्नन्त न होने से इनकी उपधा को दीर्घ प्राप्त नहीं था, सो विधान कर दिया है। इस पक्ष में भी पितृ, भ्रातृ, मातृ आदि औणादिक शब्दों की उपधा को दीर्घ नहीं होता।

६९—तृतीयादि अजादि सुप्-विभक्ति परे होने पर क्रोष्टु शब्द तृजन्त शब्द के समान रूप को विकल्प से प्राप्त होता है। (६५) से प्राप्ति नहीं थी।

७०—ऋदन्त अङ्ग से ङसि, ङस् के 'अ' और 'ऋ' के स्थान में उत्(उ) एकादेश होता है। उरण् रपरः, ऋ के स्थान में जो अण् (अ, इ, उ) होता है वह रपर होता है। अतः उ रपर होगा, अर्थात् उर् होगा।

---

६६. ऋतो ङि-सर्वनामस्थानयोः (७।३।११०)।
६७. ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च (७।१।९४)।
६८. अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तॄणाम् (६।४।११)।
६९. विभाषा तृतीयादिष्वचि (७।१।९७)।

७०. ऋत उत् (६।१।१११)।

७१—संयोगान्त पद का लोप कहा है। संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३)। अलोऽन्त्यस्य। अब यहाँ नियम कर दिया है कि र् से परे संयोगान्त 'स्' का ही लोप होता है। इससे ऊर्ज्—सु। ऊर्क् (बल) में क् का लोप नहीं हुआ।

प्रक्रिया—क्रोष्टु—औ। क्रोष्टृ औ (६५)। क्रोष्टर् औ (६६)। क्रोष्टार् औ (६८)। क्रोष्टारौ। क्रोष्टु—शस्। क्रोष्टु अस् (१ क)। क्रोष्टून्। शस् के असर्वनामस्थान होने से तृज्वद्भाव नहीं हुआ। क्रोष्टु—सु (सम्बुद्धि)। (६५) से तृज्वद्भाव सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान परे होता है। अतः यहाँ नहीं होता। (३४) से गुण। (६) से एङन्त होने से सु का लोप—हे क्रोष्टो। क्रोष्टु—टा। क्रोष्टु—ना। क्रोष्टुना। (६९) से वैकल्पिक तृज्वद्भाव होकर क्रोष्टृ आ इस अवस्था में यण् होकर क्रोष्ट्रा रूप निष्पन्न होता है। क्रोष्टु—ङे। 'घि' संज्ञा होने से (३६) से गुण (ओ) होकर 'ओ' को अवादेश होकर 'क्रोष्टवे' रूप सिद्ध होता है। पक्ष में तृज्वद्भाव क्रोष्टृ—ङे=क्रोष्ट्रे। क्रोष्टु—ङसि। क्रोष्टु अस्। क्रोष्टो अस् (३६)। क्रोष्टोः (३८)। पक्ष में तृज्वद्भाव। क्रोष्टृ—अस्। क्रोष्टुर्स् (७०)। क्रोष्टुर् (७१)। स् का लोप। पदान्त र् को विसर्जनीय—क्रोष्टुः। क्रोष्टु—आम्। यहाँ (१५ क) से नुट् भी प्राप्त होता है और (६९) से तृज्वद्भाव भी। पर होने से तृज्वद्भाव होना चाहिए। नुमचिर-तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन—इस वार्तिक से पूर्वविप्रतिषेध मानकर नुट् हो जाता है। नुट् होने पर (१६) से दीर्घ—क्रोष्टूनाम्। ङि—क्रोष्टौ। तृज्वद्भाव पक्ष में (६६) से गुण—क्रोष्टरि।

क्रोष्टु (गीदड़) पुं०

प्र०	क्रोष्टा	क्रोष्टारौ	क्रोष्टारः
सं० प्र०	क्रोष्टो	”	”
द्वि०	क्रोष्टारम्	”	क्रोष्टून्
तृ०	क्रोष्टुना-क्रोष्ट्रा	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभिः
च०	क्रोष्टवे-क्रोष्ट्रे	”	क्रोष्टुभ्यः
पं०	क्रोष्टोः-क्रोष्टुः	”	”
ष०	”	क्रोष्ट्वोः-क्रोष्ट्रोः	क्रोष्टूनाम्
स०	क्रोष्टौ-क्रोष्टरि	” ”	क्रोष्टुषु

---

७१. रात्सस्य (८।२।२४)।

प्रक्रिया—धेनु (दूध देने वाली गाय)। इसके पुं० गुरु शब्द की तरह रूप चलते हैं। स्त्री० होने से शस् के 'स्' को 'न्' नहीं होता। टा(आङ्) को 'ना' आदेश नहीं होता। ङित् विभक्तियों के परे रहते (४६) से वैकल्पिक 'नदी'-संज्ञा होने से आट् और वृद्धि एकादेश होंगे। पक्ष में 'घि' संज्ञा होने से गुण (ओ) और ङि परे 'अच्च घेः' की प्रवृत्ति होगी।

धेनु (स्त्री०)

प्र०	धेनुः	धेनू	धेनवः
सं० प्र०	धेनो	"	"
द्वि०	धेनुम्	"	धेनूः
तृ०	धेन्वा	धेनुभ्याम्	धेनुभिः
च०	धनवे—धेन्वै	"	धेनुभ्यः
पं०	धेनोः—धेन्वाः	"	"
ष०	धेनोः—धेन्वाः	धेन्वोः	धेनूनाम्
स०	धेनौ—धेन्वाम्	"	धेनुषु

इसी प्रकार उडु (तारा), चञ्चु (चोंच), तनु (शरीर), रज्जु (रस्सी) इत्यादि स्त्रीलिङ्ग उदन्त शब्दों के रूप जानें।

मधु (नपुं०) शहद अर्थ में है। इसके वारि (नपुं०) की तरह रूप होते हैं। केवल णत्व का निमित्त न होने से 'णत्व' नहीं होता है।

मधु नपुं० (माक्षिक, शहद)

प्र०	मधु	मधुनी	मधूनि
सं० प्र०	मधु—मधो	"	"
द्वि०	मधु	"	"
तृ०	मधुना	मधुभ्याम्	मधुभिः
च०	मधुने	"	मधुभ्यः
पं०	मधुनः	"	"
ष०	"	मधुनोः	मधूनाम्
स०	मधुनि	"	मधुषु

मधु शब्द शहद अर्थ में पुं० नहीं है, वसन्त अर्थ में पुं० है, अतः प्रवृत्ति-निमित्त के एक न होने से भाषितपुंस्क नहीं, अतः तृतीयादि अजादि विभक्तियों में इसे पुंवद्भाव नहीं होता।

निम्न-लिखित नपुं० उदन्त शब्दों के मधु की तरह रूप जानें—वसु (धन), वस्तु, वास्तु (घर बनाने के लिये भूमि), (वास्तु पुं० भी है), अश्रु (आंसू), अम्बु (जल), जम्बु (जम्बू का फल), श्मश्रु (मूंछ), जानु (पुं० भी), घुटना, त्रपु (रांगा), जतु (लाख), तालु, दारु (लकड़ी)।

सानु (=प्रस्थ, पर्वत की ऊपरी समतल भूमि) शब्द एक ही अर्थ से पुं० भी है, अतः तृतीयादि अजादि विभक्तियों में इसे पुंवद्भाव भी होगा—सानवे। सानुने। सानोः। सानुनः। सानौ। सानुनि।

७२—(६।१।३३) पर **पदादिषु मांस्पृत्स्नूनामुपसंख्यानम्**—ऐसा वार्तिक पढ़ा है। इसके अनुसार सानु को 'स्नु' आदेश विकल्प से होता है—स्नु। स्नुनी। स्नूनि—ऐसे रूप चलेंगे।

७३—जिस उवर्ण से पूर्व धात्ववयव-रूप संयोग न हो, तदन्त अनेकाच् अङ्ग को यण् होता है अजादि सुप् प्रत्यय परे होने पर। अलोऽन्त्यस्य।

७४—नपुंसकलिङ्ग में प्रातिपदिक को ह्रस्व होता है (५२)। एच् को इक् ही ह्रस्व होता है, अर्थात् ए को इ, ओ को उ, ऐ को इ, औ को उ।

सुष्ठु लुनातीति सुलु कृषिक-कुलम्। यहाँ (५२) से ह्रस्व हुआ। प्रथमा व द्वितीया में मधु की तरह। सम्बुद्धि में सुलु-सुलो। तृतीयादि अजादि विभक्ति परे रहते विकल्प से पुंवद्भाव। (६६) से यण्—सुल्वा। सुल्वे। सुल्वः। सुल्वि। सुल्वाम् (ष० बहु०)। पक्षान्तर में सुलुना। सुलुने। सुलुनः। सुलुनि। सुलूनाम् (ष० बहु०)।

'प्रद्यो' शब्द समास होने से प्रातिपदिक है। **प्रकृष्टा द्यौर्यत्र तद् दिनम् प्रद्यु।** ह्रस्व आदेश की कर्तव्यता में एच् को इक् ही ह्रस्व होता है, अतः 'ओ' को 'उ' हुआ। प्रद्यु इगन्त है, पर यह भाषितपुंस्क नहीं, भाषितपुंस्क तो 'प्रद्यो' है, अतः तृतीयादि अजादि विभक्तियों में कहीं भी पुंवद्भाव नहीं होगा—प्रद्युना। प्रद्युने इत्यादि रूप होंगे। ष० बहु० में पूर्वविप्रतिषेध से नुम् को बाधकर नुट् होगा, जिससे (१६) से दीर्घ हो जाएगा—प्रद्यूनाम्।

इसी प्रकार **शोभना नौर्यस्मिन्नाविककुले तत् सुनु नाविककुलम्।** शोभनो

---

७२ पदादिषु मांस्पृत्स्नूनामुपसंख्यानम् (वा०)।

७३ ओः सुपि (६।४।८३)।

७४ एच इग्घ्रस्वादेशे (१।१।४८)।

ग्लौश्चन्द्रमा यस्मिन्नाकाशे तत् सुग्लु आकाशम् । इन दोनों इगन्त शब्दों के भाषितपुंस्क न होने से तृतीयादि अजादि विभक्तियों में पुंवद्भाव नहीं होगा —सुनुना । सुनुने । सुग्लुना । सुग्लुने इत्यादि ।

यहाँ उदन्त शब्द समाप्त हुए ।

हूहू—यह ऊदन्त अव्युत्पन्न प्रातिपदिक गन्धर्व-विशेष की संज्ञा है । दीर्घ ऊकार की 'नदी' संज्ञा नहीं कारण कि 'हूहू' पुँल्लिङ्ग है । अतः 'सु' का लोप नहीं होता—हूहूः । सम्बुद्धि 'सु' के लोप का भी प्रसङ्ग नहीं—हे हूहूः । हूहू औ । (३०) से पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध होने से यण्—हूह्वौ । हूहू-जस् । हूह्वः । हूहू अम् । (१ ख) से पूर्वरूप निर्बाध होगा—हूहूम् । हूहू—टा । हूह्वा । 'ना' आदेश की प्राप्ति नहीं । तृतीयादि ङित् विभक्तियों में घिसंज्ञा न होने से गुण की प्राप्ति नहीं—हूह्वे (यण्) । इत्यादि । हूहू—आम् । यहाँ (१५ क) से नुट् की प्राप्ति नहीं । अतः सामान्य सन्धि विधि से यण् होकर 'हूह्वाम्' रूप निष्पन्न होता है ।

हूहू (पुं०)

प्र०	हूहूः	हूह्वौ	हूह्वः
सं० प्र०	हूहूः	,,	,,
द्वि०	हूहूम्	,,	हूहून्
तृ०	हूह्वा	हूहूभ्याम्	हूहूभिः
च०	हूह्वे	,,	हूहूभ्यः
पं०	हूह्वः	,,	,,
ष०	,,	हूह्वोः	हूह्वाम्
स०	हूह्वि	,,	हूहूषु

चमूमतिक्रान्तः=अतिचमूः पुरुषः । यहाँ 'चमू' उपसर्जन है पर स्त्रीप्रत्ययान्त नहीं, अतः गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८) से ह्रस्व नहीं होता । चमू (सेना) स्त्रीलिङ्ग है और नदी-संज्ञक है । वृत्ति होने पर गौण हो जाने पर भी इसकी नदीसंज्ञा बनी रहती है (५६) । अतिचमू—सु (सम्बुद्धि) । (३१) से ह्रस्व । (६) से सुलोप । हे अतिचमु । नदीसंज्ञा होने से ही ङित् (ङे आदि) विभक्तियों में आट् आगम होगा । औ, जस् परे रहते (३०) से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध होने से सामान्य सन्धि विधि से यण् होगा—अतिचम्वौ ।

अतिचम्वः । शस् परे रहते पूर्वसवर्णदीर्घ तथा शस् के 'स्' को 'न्' होगा—अतिचमून् । ङि को नदीसंज्ञा होने से (२९) से 'आम्' आदेश होगा । स्थानिवद्भाव से यह आम् ङित् विभक्ति है । अतः आट् और वृद्धि एकादेश भी होगा—अतिचम्वाम् ।

अतिचमू (पुं०)

प्र०	अतिचमूः	अतिचम्वौ	अतिचम्वः
सं० प्र० (हे)	अतिचमु	,,	,,
द्वि०	अतिचमूम्	,,	अतिचमून्
तृ०	अतिचम्वा	अतिचमूभ्याम्	अतिचमूभिः
च०	अतिचम्वै	,,	अतिचमूभ्यः
पं०	अतिचम्वाः	,,	,,
ष०	,,	अतिचम्वोः	अतिचमूनाम्
स०	अतिचम्वाम्	,,	अतिचमूषु

खलं पुनातीति खलपूः (सफाई करने वाला, झाड़ू देने वाला) । इस अर्थ में खलपू पुं० भी है और स्त्री० भी । रूपों में कुछ भेद नहीं, कारण कि 'ऊ' 'पू' धातु का है । अजादि प्रत्यय परे रहते सर्वत्र (७३) से यण् होगा । 'खलपू' स्त्र्याख्य नहीं, अतः नदीसंज्ञक नहीं ।

खलपू (पुं०)

प्र०	खलपूः	खलप्वौ	खलप्वः
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	खलप्वम्	,,	खलप्वः
तृ०	खलप्वा	खलपूभ्याम्	खलपूभिः
च०	खलप्वे	,,	खलपूभ्यः
पं०	खलप्वः	,,	,,
ष०	खलप्वः	खलप्वोः	खलप्वाम्
स०	खलप्वि	,,	खलपूषु

प्रतिभू (ज़ामिन), स्वभू (ब्रह्मा), स्वयम्भू (ब्रह्मा)—इनके 'ऊ' को अजादि प्रत्यय परे रहते (७३) से यण् प्राप्त था, 'प्रति' 'गति' है और 'स्व' तथा स्वयम् कारक हैं—स्वेन आत्मना भवति । स्वयम् आत्मना भवति । पर (न भूसुधियोः) से यण् का निषेध कर दिया है । (५६) से उवङ् होगा ।

प्रतिभू

प्र०	प्रतिभूः	प्रतिभुवौ	प्रतिभुवः
सं० प्र०	प्रतिभूः	,,	,,
द्वि०	प्रतिभुवम्	,,	,,
तृ०	प्रतिभुवा	प्रतिभूभ्याम्	प्रतिभूभिः
च०	प्रतिभुवे	,,	प्रतिभूभ्यः
पं०	प्रतिभुवः	,,	,,
ष०	,,	प्रतिभुवोः	प्रतिभुवाम्
स०	प्रतिभुवि	,,	प्रतिभूषु

इसी प्रकार स्वभू, स्वयम्भू, कटप्रू, (कटं प्रवते इति, कीट) आयतस्तू (आयतं स्तौतीति, लम्बी स्तुति करने वाला) के रूप जानें।

वर्षाभू (मेंडक)। वर्षासु भवतीति । भेक्यां पुनर्नवायां स्त्री वर्षाभूर्दर्दुरे पुमान् ऐसा वैजयन्ती कोष है अतः यह मेंढकी अर्थ में स्त्रीलिङ्ग भी है। 'न भू-सुधियोः' से यहाँ यण् का निषेध प्राप्त था, अतः विशेष विधान कर दिया है—

७५—'वर्षाभू' के भू के 'ऊ' को अजादि प्रत्यय परे रहते यण् होता ही है।

वर्षाभू (पुं०) मेंढक

प्र०	वर्षाभूः	वर्षाभ्वौ	वर्षाभ्वः
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	वर्षाभ्वम्	,,	वर्षाभ्वः
तृ०	वर्षाभ्वा	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभिः
च०	वर्षाभ्वे	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभ्यः
पं०	वर्षाभ्वः	,,	,,
ष०	,,	वर्षाभ्वोः	वर्षाभ्वाम्
स०	वर्षाभ्वि	,,	वर्षाभूषु

प्रक्रिया—वर्षाभू—औ आदि में इस प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रों की प्राप्ति और बाध होता है। इको यणचि (सन्धिसूत्र—इक् के स्थान में यण् होता है अच् परे होने पर) इसे बाधकर प्रथमयोः पूर्व०—से पूर्वसवर्णदीर्घ की प्राप्ति

७५. वर्षाभ्वश्च (६।४।८४)।

होती है । इसका **दीर्घाज्जसि च** से निषेध हो जाता है । निषेध होने पर यण-देश का पुनःप्रसङ्ग होता है, उसे **अचि श्नु-धातु-भ्रुवां**—से उवङ् बाधता है । उसे **ओः सुपि** से विहित यण् बाधता है । इस यण् का **न भूसुधियोः** से निषेध हो जाता है । पुनः उवङ् प्राप्त हुआ । उसे **वर्षाभ्वश्च** (७५) बाधता है और यण् का विधान करता है ।

७६—'भू' से पूर्व यदि दृन्, कर, पुनर्—ये पूर्वपद हों तो भी 'भू' के 'ऊ' को यण् होता है अजादि प्रत्यय परे होने पर । यह वार्तिक **न भूसुधियोः** का निषेधक है । दृन्—यह हिंसार्थक अव्यय है । दृन् भवते प्राप्नोति दृन्भूः । तरु, सर्पविशेष अथवा कपि । **पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विः**(अमर) । जिस स्त्री का दो-बारा विवाह हुआ है उसे **पुनर्भू** कहते हैं, तो यह नित्य स्त्रीलिङ्ग हुआ । अतः इसका स्त्रीलिङ्ग ऊदन्तों में स्थान होना चाहिये । यहाँ कैसे पढ़ा गया ? उत्तर—पुनर्भवतीति पुनर्भूः, यौगिक क्रियाशब्द भी है ऐसा दीक्षित मानते हैं । तद-नुसार यहाँ इसका पाठ किया है । प्रयोग में नहीं देखा गया । पुनर्भू में न 'गति' है और न कारक । इसे यण् अत्यन्त अप्राप्त था, सो विशेष विधान कर दिया है । 'खलपू' की तरह रूप होंगे ।

दृभतीति दृम्भूर्ग्रन्थकर्ता, कथको वा । यहाँ औणादिक 'ऊ' प्रत्यय है । धातु का 'ऊ' नहीं, अतः ओः सुपि (७३) का विषय नहीं । 'औ', 'जस्' परे इको यण् की प्रवृत्ति होगी, 'अमि पूर्वः' की भी । दृम्भूः । **दृम्भ्वौ । दृम्भ्वः । दृम्भूम्** । शस् परे—**दृम्भून्** (पूर्वसवर्णदीर्घ) ।

वधू (नवविवाहिता स्त्री, स्नुषा) ऊकारान्त नित्यस्त्रीलिङ्ग है । उसकी नदी-संज्ञा होने से सम्बुद्धि में (३१) से ह्रस्व होगा—हे वधु । औ व जस् परे रहते **इको यण्**— से यण्—**वध्वौ** । वध्वः । पूर्वसवर्णदीर्घ का (३०) से निषेध । शस् परे रहते पूर्वसवर्णदीर्घ निर्बाध होगा—वधूः । अम् परे रहते पूर्वरूप—**वधूम्** । ङित् विभक्तियों में नदीसंज्ञा होने से आट् । वृद्धि एकादेश । **नद्यै** इत्यादि । ङि को आम् । **वध्वाम्** ।

इसी प्रकार चमू (सेना), चञ्चू (चोंच), तनू (शरीर), चम्पू (गद्य-पद्य-मिश्रित काव्य), श्वश्रू (सास) इत्यादि नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप जानें । अन्दू (शृङ्खला, जंजीर), कर्कन्धू (बेर) दिधिषू (=पुनर्भू)—ये भी उणादि 'ऊ' प्रत्ययान्त हैं, अतः इनके रूप भी 'वधू' की तरह होंगे ।

---

७६. दृन्कर-पुनः-पूर्वस्य यण् वक्तव्यः (वा०) ।

भू (पृथिवी) नित्यस्त्रीलिङ्ग है। 'भू' क्विबन्त है। प्र० ए०—भूः। अजादि सुप् विभक्ति परे होने पर इसके 'ऊ' को इको यण् से यण् प्राप्त था, उसे बाधकर (५६) से उवङ् होता है। भुवौ। भुवः। भुवम्। भुवौ। भुवः। भुवा। उवङ् का स्थानी होने से (६२) से नदी-संज्ञा का सर्वत्र निषेध प्राप्त होता है पर ङित् विभक्तियों में (६४) से विकल्प से नदी-संज्ञा होती है। नदी-संज्ञा पक्ष में आट् होकर वृद्धि एकादेश—भुवै। भुवाः। ङि को आम्—भुवाम्। ष० बहु० आम् परे रहते नदी— संज्ञा न होने से नुट् नहीं होगा—भुवाम्। ङित् विभक्तियों में नदी-संज्ञा-अभाव पक्ष में—भुवे। भुवः। भुवः। भुवि—रूप होंगे।

७७—जिस समास में उत्तरपद एकाच् हो उसमें पूर्वपदस्थ निमित्त से प्रातिपदिकान्त 'न्', नुम् के 'न्' तथा विभक्तिस्थ 'न्' को नित्य णत्व होता है।

वर्षाभू। वर्षासु भवति इति वर्षाभूः। जैसा हम कह आए हैं यह शब्द पुं० में मेंढ़क का नाम है और स्त्रीलिङ्ग में मेंढ़की का। दोनों लिङ्गों में इसका प्रयोग होने से यह स्त्र्याख्य, नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं, अतः नदीसंज्ञक नहीं—ऐसा कैयट मानते हैं। वृत्तिकारादि इसके विपरीत ऐसा मानते हैं कि स्त्रीत्वबोधक समभिव्याहृत(पास में उच्चारित)पदान्तर के बिना भी जो ईकारान्त ऊकारान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग है, भले ही उसका लिङ्गान्तर में भी प्रयोग हो, वह भी स्त्र्याख्य है, नित्यस्त्रीलिङ्ग है। इस मत के अनुसार वर्षाभू नदीसंज्ञक है अतः इसे नदी-कार्य होगा—वर्षाभू—आम्। वर्षाभू नुट् आम्। वर्षाभूणाम्। पर होने से नदीसंज्ञा-निमित्तक नुट् हुआ। तब (७७) से नित्य णत्व।

वर्षाभू (स्त्री० मेंढ़की)

प्र०	वर्षाभूः	वर्षाभ्वौ	वर्षाभ्वः
सं० प्र०	वर्षाभु	,,	,,
द्वि०	वर्षाभ्वम्	,,	,,
तृ०	वर्षाभ्वा	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभिः
च०	वर्षाभ्वै	,,	वर्षाभूभ्यः
पं०	वर्षाभ्वाः	,,	,,

---

७७. एकाजुत्तरपदे णः (८।४।१२)।

ष०	वर्षाभूभ्वाः	वर्षाभ्वोः	वर्षाभूणाम्
स०	वर्षाभ्वाम्	,,	वर्षाभूषु

पुनर्भू (स्त्री०) के ठीक इसी प्रकार रूप होंगे ।

प्रसू (माता)

प्र०	प्रसूः	प्रस्वौ	प्रस्वः
सं० प्र०	प्रसु	,,	,,
द्वि०	प्रस्वम्	,,	,,
तृ०	प्रस्वा	प्रसूभ्याम्	प्रसूभिः
च०	प्रस्वै	,	प्रसूभ्यः
पं०	प्रस्वाः	,,	,,
ष०	,,	प्रस्वोः	प्रसूनाम्
स०	प्रस्वाम्	,,	प्रसूषु

प्रसूत इति प्रसूः । धातु का 'ऊ' है । अतः अजादि प्रत्यय परे रहते ओः सुपि (७३) से सर्वत्र यण् । ष० बहु० आम् परे नदीसंज्ञा होने से यण् को बाधकर नुट् । स० एक० में नदीसंज्ञा होने से ङि को आम् ।

भ्रू (भौंह)—को अजादि प्रत्यय परे होने पर सर्वत्र उवङ् होगा—

प्र०	भ्रूः	भ्रुवौ	भ्रुवः
द्वि०	भ्रुवम्	,,	,,
तृ०	भ्रुवा	भ्रूभ्याम्	भ्रूभिः
च०	भ्रुवे	,,	भ्रूभ्यः
पं०	भ्रुवः	,,	,,
ष०	,,	भ्रुवोः	भ्रुवाम्
स०	भ्रुवि	,,	भ्रूषु

यहाँ ऊदन्त शब्द समाप्त हुए ।

प्रक्रिया—कर्तृ । यहाँ सु से लेकर औ तक की प्रक्रिया ठीक वैसी ही है जैसी क्रोष्टु शब्द के तृज्वद्भावपक्ष में पूर्व कह आये हैं । शस् परे रहते पूर्व-सवर्ण-दीर्घ तथा स् को न् होकर 'कर्तॄन्' रूप होगा । (८) से निमित्त होने पर भी पदान्त स् को णत्व नहीं हुआ । सम्बुद्धि में (३४) से गुण होकर कर्तर्स् इस अवस्था में (२५) से स्-लोप, र् को विसर्जनीय—कर्तः । कर्तृ—ङि । कर्तर् इ (६६) । कर्तरि ।

कर्तृ पुं०

प्र०	कर्ता	कर्तारौ	कर्तारः
सं० प्र०	कर्तः	"	"
द्वि०	कर्तारम्	"	कर्तॄन्
तृ०	कर्त्रा	कर्तृभ्याम्	कर्तृभिः
च०	कर्त्रे	"	कर्तृभ्यः
पं०	कर्तुः	"	"
ष०	कर्तुः	कर्त्रोः	कर्तॄणाम्
स०	कर्तरि	"	कर्तृषु

इसी प्रकार सभी तृन्नन्त, तृजन्त शब्दों के रूप जानें। धर्तृ, हर्तृ, संहर्तृ, हन्तृ, भर्तृ, गन्तृ, यन्तृ, नियन्तृ, द्रष्टृ, श्रोतृ इत्यादि। अव्युत्पन्न स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ, प्रशास्तृ के भी 'कर्तृ' की तरह रूप होते हैं—स्वसा। स्वसारौ। स्वसारः। स्वसारम्। स्वसारौ। नप्ता। नप्तारौ। नप्तारः। नप्तारम्। नप्तारौ। नेष्टृ आदि ऋत्विक्-विशेष के नाम हैं।

पितृ, मातृ, भ्रातृ, जामातृ को अव्युत्पन्न होने से (६६) से गुण तो होगा पर (६८) से उपधा-दीर्घ नहीं होगा—

पिता। पितरौ। पितरः। पितरम्। पितरौ। इत्यादि। शेष कर्तृवत्।

कर्तृ (नपुं०)

प्र०	कर्तृ	कर्तृणी	कर्तॄणि
सं० प्र०	कर्तृ—कर्तः	"	"
द्वि०	कर्तृ	"	"

शेष पुंवत्। कर्तृ इगन्त है। वारि (नपुं०) की तरह सु, अम् का लुक्, नुम्, सर्वनामस्थान शि परे नान्त की उपधा को दीर्घ। णत्व। सम्बुद्धि में (३४) से गुण। स्त्रीत्वविवक्षा में ऋदन्त शब्दों से ङीप् प्रत्यय होता है। कर्तृ—ङी। कर्त्री (यण्)। नदी की तरह रूप चलेंगे।

७७—'नृ' को 'नाम्' परे रहते विकल्प से दीर्घ होता है। (१६) से नित्य दीर्घ प्राप्त था।

प्रक्रिया—नृ (मनुष्य) अव्युत्पन्न ऋदन्त प्रातिपदिक है। (६८) की

---

७७ नृ च (६।४।६)।

प्रवृत्ति न होने से (६६) से केवल गुण होगा—नरौ। नरः। नरम्। नरौ। शेष कर्तृ (पुं०) की तरह। नृ—ङे। न्रे। इ को यण् (र्)। नृ—ङि। नरि। (६६) से गुण।

नृ (मनुष्य)

प्र०	ना	नरौ	नरः
सं प्र०	नः	,,	,,
द्वि	नरम्	,,	नॄन्
तृ०	न्रा	नृभ्याम्	नृभिः
च०	न्रे	,,	नृभ्यः
पं०	नुः	,,	,,
ष०	,,	न्रोः	नृणाम्—नॄणाम्
स०	नरि	,,	नृषु

कॄ विक्षेपे, तॄ प्लवनतरणयोः। ऐसा धातुपाठ है। इनके अनुकरण शब्द भी कॄ, तॄ हुए। अनुकरण शब्द अनुकार्य को कहता है, अतः अनुकार्य शब्द इस का अर्थ है, इस से यह सार्थक है। यह एक पक्ष है। प्रकृतिवदनुकरणं भवति—इस वचन के अनुसार इन अनुकरण शब्दों को प्रकृतिभूत अनुकार्य शब्दों का धर्म प्राप्त होता है। यह वचन वैकल्पिक है इससे अनुकरण शब्दों कॄ, तॄ में धातुत्व आने पर ॠत इद् धातोः (७।१।१००) से इत् (रपर इ) आदेश होता है। पक्षान्तर में धातुत्व न आने से प्रातिपदिक होने से सुप्-उत्पत्ति हो जाती है, इत्व नहीं होता—

इत्व होने पर गिर् (वाणी) (जिस के हलन्त शब्दों में रूप कहे जायेंगे) की तरह रूप होते हैं—

	कीः	किरौ	किरः इत्यादि
इत्वाभाव में—	कॄः	क्रौ	क्रः ,,

दीर्घ ॠ होने से (६६) से गुण नहीं हो सकता। और (६७) से अनङ् आदेश नहीं हो सकता।

इः (विष्णु का अपत्य)। 'अ' विष्णु का नाम है। तस्यापत्यम् इः। अत इञ्। इना सह वर्तमान इति सेः। बहुव्रीहिः। सह को 'स' आदेश। इस 'से' शब्द से जो एकारान्त है, सुलोप की प्राप्ति नहीं। औ, जस्, अम्, शस्—

परे रहते 'ए' को अय् आदेश होगा। पूर्व सवर्ण दीर्घ अथवा अमि पूर्वः (पूर्व-रूप) की प्राप्ति नहीं। क्योंकि 'ए' अक् प्रत्याहारान्तर्गत नहीं। ङे परे रहते 'ए' को अय्—सये। ङसि तथा ङस् परे रहते (३८) से 'अ' को पूर्वरूप। सेः। आम् परे रहते ह्रस्वान्त न होने से नुट् नहीं होता—सयाम्। सम्बुद्धि में (६) से सुलोप।

से 'एकारान्त' पुं०

प्र०	सेः	सयौ	सयः
सं० प्र०	से	"	"
द्वि०	सयम्	"	"
तृ०	सया	सेभ्याम्	सेभिः
च०	सये	"	सेभ्यः
पं०	सेः	"	"
ष०	सेः	सयोः	सयाम्
स०	सयि	"	सेषु

७८—'रै' को हलादि विभक्ति परे होने पर आकार अन्तादेश हो जाता है। रै—सु। रा—स्। राः। रै—भ्याम्। राभ्याम्। रै—सु। रासु।

रै (पुं०, धन)

प्र०	राः	रायौ (ऐ को आय्)	रायः
सं० प्र०	"	"	"
द्वि०	रायम्	"	"
तृ०	राया	राभ्याम्	राभिः
च०	राये	"	राभ्यः
पं०	रायः	"	"
ष०	"	रायोः	रायाम्
स०	रायि	"	रासु

आम् (ष० बहु०) में अङ्ग के ह्रस्वान्त न होने से नुट् का प्रसङ्ग ही नहीं।

---

७८. रायो हलि (७।२।८७)।

७६—ओकारान्त प्रातिपदिक से परे सर्वनामस्थान विभक्ति णित् वत् होती है। अर्थात् णित् प्रत्यय परे रहते जैसे अजन्त अङ्ग को वृद्धि होती है वैसे यहाँ भी होती है। सूत्र में 'गोतो' में 'ग्' अविवक्षित है।

८०—ओकारान्त प्रातिपदिक को आकार एकादेश होता है अम् और शस् के अच् परे होने पर।

प्रक्रिया—गो शब्द बैल अर्थ में पुं० है। गो—सु। (७६) से णिद्वद्भाव होकर वृद्धि (औ)। गौ-सु। गौः। गो औ। गौ औ (७६)। गावौ (पूर्व औ को आव् आदेश। गो अम्। गा—म् (८०)। गाम्। गो शस्। गा स् (८०)। गाः। पूर्वसवर्ण दीर्घ होने पर (७) से शस् के स् को 'न्' होता है। यहाँ दीर्घ आकार है, पर पूर्व-सवर्ण-दीर्घत्व से लभ्य नहीं, अतः 'नत्व' का प्रसङ्ग ही नहीं। गो—टा। गवा। ओ को अव्। गो अस्। गोः। (३८) से 'अ' को पूर्वरूप।

गो (पुं० बैल)[1]

प्र०	गौः	गावौ	गावः
सं० प्र०	गौः	"	"
द्वि०	गाम्	"	गाः
तृ०	गवा	गोभ्याम्	गोभिः
च०	गवे	"	गोभ्यः
पं०	गोः	"	"
ष०	गोः	गवोः	गवाम्
स०	गवि	"	गोषु

---

७६. गोतो णित् (७।१।६०)।

८०. औतोम्शसोः (६।१।६३)।

१. कोषकार गो शब्द को नाना अर्थों में पढ़ते हैं—

गौर्नादित्ये बलीवर्दे किरणक्रतुभेदयोः।
स्त्री तु स्याद्दिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि॥
नृ-स्त्रियोः स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग्बाणलोमसु। (केशव)

निरुक्तकार इस के कुछ अतिरिक्त अर्थ भी बताते हैं—

'गो' शब्द जब स्त्रीलिङ्ग होता है तो यह 'गाय' का वाचक होता है। पुं० गो तथा स्त्री० गो शब्द के रूपों में कुछ भी भेद नहीं।

द्यो (दिव्, आकाश) नियतस्त्रीलिङ्ग है। इसके ठीक 'गो' की तरह रूप होते हैं—

	द्यौः	द्यावौ	द्यावः
सं० प्र०	द्यौः	"	"
द्वि०	द्याम्	"	द्याः

इत्यादि।

ग्लौ (पुं० चाँद)। इस के रूपों में कुछ भी विशेष कार्य नहीं होता अजादि विभक्तियों में 'औ' को आव् होता है। **एचोऽयवायावः।**

ग्लौ पुं० (चाँद)

प्र०	ग्लौः	ग्लावौ	ग्लावः
सं० प्र०	ग्लौः	"	"
द्वि०	ग्लावम्	"	"
तृ०	ग्लावा	ग्लौभ्याम्	ग्लौभिः
च०	ग्लावे	ग्लौभ्याम्	ग्लौभ्यः
पं०	ग्लावः	"	"
ष०	ग्लावः	ग्लावोः	ग्लावाम्
स०	ग्लावि	"	ग्लौषु

इसी प्रकार नौ (स्त्री०) के रूप जानें।

इत्यजन्तसुबन्तविषयः प्रथमो वर्गः।

———

गोभिः श्रीणीत मत्सरम् (ऋ० ९।४६।४), यहाँ 'गो' शब्द गव्य दुग्ध का वाचक है। अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि (ऋ० १०।९४।९), यहाँ गो स्नायु तथा श्लेष्मा का वाचक है। वृक्षे वृक्षे नियतामीमयद् गौः (ऋ० १०।२७।२२)। यहाँ गौ धनु गुण (प्रत्यञ्चा, डोरी) का वाचक है।

द्वितीयो वर्गः—हलन्तशब्दाः ।

हलन्त शब्दों से परे सुप् विभक्तियाँ अनादिष्ट रूप से आती हैं । किसी विभक्ति को भी कोई आदेश नहीं होता । सुप् (स० बहु०) के स् को यथा-प्राप्त 'ष्' होता है

८१—चवर्ग को कवर्ग आदेश होता है झल् (प्रत्याहार) परे रहते तथा पदान्त विषय में ।

प्रक्रिया—जलानि मुञ्चतीति जलमुक् (मेघः) । जलमुच्—सु । (२५) से हल् से परे होने के कारण स् का लोप । लोप होने पर प्रत्यय-लक्षण से 'जलमुच्' पद है, अतः (८१) से 'च्' को क् हुआ—जलमुक् । इस क् को ग् हो जाता है—जलमुग् । पदान्त झल् को जश् होता है । **झलां जशो ऽन्ते** (८।२।३९) । अवसान में (जब परे कुछ न हो) झल् को विकल्प से चर् होता है । इससे जलमुग् के ग् को पुनः क् । अजन्त प्रकरण में 'राम' की प्रक्रिया में हम कह आए हैं कि सर्वनामस्थान-वर्जित सु-आदि कप्प्रत्ययावधिक यकारादि अजादि प्रत्ययों के परे रहते पूर्व की भ-संज्ञा है । अब यहाँ यह कहना है कि ऐसे हलादि प्रत्ययों के परे रहते पूर्व की पद-संज्ञा है—**स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१।४।१७) । सो असर्वनामस्थान हलादि विभक्ति 'भ्याम्' आदि परे होने पर जलमुच् की पद-संज्ञा है । इससे जलमुच्-भ्याम् इस अवस्था में कुत्व होने के पश्चात् जश्त्व होने से '**जलमुग्भ्याम्**' परिनिष्ठित रूप होगा । जलमुच्—सु (स० बहु०) पूर्व की पदसंज्ञा होने से (८१) से कुत्व—जलमुक्-सु— इस अवस्था में कवर्ग से परे होने से प्रत्यय के 'स्' को 'ष्' होता है—जलमुक्षु ।

जलमुच् (पुं० मेघ)

प्र०	जलमुक्—ग्	जलमुचौ	जलमुचः
सं० प्र०	" "	"	"
द्वि०	जलमुचम्	"	"
तृ०	जलमुचा	जलमुग्भ्याम्	जलमुग्भिः

---

८१. चोः कुः (८।२।३०) ।

च०	जलमुचे	जलमुग्भ्याम्	जलमुग्भ्यः
पं०	जलमुचः	,,	,,
ष०	,,	जलमुचोः	जलमुचाम्
स०	जलमुचि	,,	जलमुक्षु

इसी प्रकार वाच्, (स्त्री०) ऋच् (स्त्री०), स्रुच् (स्रुवा) स्त्री०, सिच् (स्त्री० वस्त्राञ्चल) आदि शब्दों के रूप जानें।

नपुंसक जलमुच् (अभ्र का विशेषण), सुधामुच् (वचस् का विशेषण)—इनको 'शि' परे(२२)से नुम्। मित् होने से नुम् अन्त्य अच् से परे होता है। जल मु न् च् इ। अनुस्वार और परसवर्ण होकर 'जलमुञ्चि' रूप सिद्ध होता है। यहाँ (२३) से नान्त की उपधा को दीर्घ नहीं होता, कारण कि नान्त अंग से परे सर्वनामस्थान 'शि' नहीं है, अंग तो चान्त है। जलमुञ्च्यभ्राणि। सुधामुञ्चि वचांसि।

क्रुञ्च्—यह क्विन्प्रत्ययान्त निपातन किया है। निपातन से न्-लोप नहीं होता।

८२.—जिस धातु से क्विन्प्रत्यय देखा गया है उसे सूत्र में क्विन्प्रत्यय कहा है। क्विन्प्रत्ययो यस्माद् दृष्टः स क्विन्प्रत्ययः (बहुव्रीहि) उस धातुरूप पद के अन्त्य अल् को कवर्गादेश होता है।

प्रक्रिया—क्रुञ्च्—सु। हल् से परे होने से 'स्' का लोप होने पर प्रत्यय-लक्षण से क्रुञ्च् पद है। संयोगान्त लोप होने पर अर्थात् 'च्' के चले जाने पर (८२) से अनुनासिक को कुत्व (ङ्) होता है—क्रुङ्। क्रुञ्च् औ। क्रुञ्चौ। भ्याम् आदि हलादि विभक्ति परे होने पर पूर्व की पद-संज्ञा होने से यहाँ भी संयोगान्त लोप तथा कुत्व होकर क्रुङ्भ्याम् आदि रूप होंगे। क्रुञ्च्—सुप्। क्रुञ्—सु। क्रुङ्षु। (कुत्व, षत्व) व्यवहार्य रूप है। पदान्त ङ् को कुक् (क्) आगम विकल्प से होता है शर् (प्रत्याहार) परे होने पर। क्रुङ् क् सु। कवर्ग से परे प्रत्यय के स् को मूर्धन्य (ष्)। क्ष् के संयोग से क्ष्। क्रुङ्क्षु।

क्रुञ्च् पुं० (कुरर)

प्र०	क्रुङ्	क्रुञ्चौ	क्रुञ्चः
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	क्रुञ्चम्	क्रुञ्चौ	क्रुञ्चः

---

८२. क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८।२।६२)।

तृ०	क्रुञ्चा	क्रुङ्भ्याम्	क्रुङ्भिः
च०	क्रुञ्चे	,,	क्रुङ्भ्यः
पं०	क्रुञ्चः	,,	,,
ष०	,,	क्रुञ्चोः	क्रुञ्चाम्
स०	क्रुञ्चि	,,	क्रुङ्षु-क्रुङ्क्षु

८३—उगित् (जिनका उक्=उ, ऋ, ऌ इत् है) अङ्गों को तथा न-लोपी अञ्च् धातु को नुम् (न्) आगम होता है जब वे अङ्ग धातु-भिन्न हों। अञ्च् का ग्रहण नियमार्थ है, उगित् धातु को यदि नुम् हो तो अञ्च् को ही हो। अञ्चु गतिपूजनयोः ऐसा धातुपाठ है। सूत्र में लुप्तनकार अञ्च् धातु पढ़ी है।

८४—लुप्त-नकार भ-संज्ञक अञ्च् के 'अ' का लोप हो जाता है।

८५—लुप्त-नकाराकार (जिसका 'न्' भी लुप्त हो चुका है और अकार भी) अञ्च् परे रहते पूर्व अण् को दीर्घ होता है।

प्रक्रिया—अञ्च् से क्विन् प्रत्यय निपातन किया है, इससे सुबन्तमात्र उपपद होने पर क्विन् होता है। क्विन् प्रत्यय के कित् होने से जो उपधाभूत (न्) का लोप प्राप्त होता है उसका पूजा अर्थ में निषेध हो जाता है। नाञ्चेः पूजायाम् (६।४।३०)। गत्यर्थ में 'न्' का लोप होने पर (८३) से सर्वनाम-स्थान परे नुम् हो जाता है। अतः असर्वनामस्थान शस् आदि विभक्तियाँ परे रहते नुम् न होने से (८४, ८५) से 'अ' का लोप तथा पूर्व अण् को दीर्घ होने पर प्राचः, प्राचा इत्यादि रूप होंगे। प्राञ्चति प्रकर्षेण गच्छति पूजयति वा प्राङ्।

प्राञ्च् (गत्यर्थ में)

प्र०	प्राङ्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	प्राञ्चम्	,,	प्राचः
तृ०	प्राचा	प्राग्भ्याम्	प्राग्भिः
च०	प्राचे	,,	प्राग्भ्यः
पं०	प्राचः	,,	,,

---

८३. उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७।१।७०)।
८४. अचः (६।४।१३८)।
८५. चौ (६।३।१३८)।

ष०	प्राचः	प्राचोः	प्राचाम्
स०	प्राचि	"	प्राक्षु

प्राञ्च् (पूजा अर्थ में)

प्र०	प्राङ्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः
सं० प्र०	"	"	"
द्वि०	प्राञ्चम्	"	"
तृ०	प्राञ्चा	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भिः
च०	प्राञ्चे	"	प्राङ्भ्यः
पं०	प्राञ्चः	"	"
ष०	"	प्राञ्चोः	प्राञ्चाम्
स०	प्राञ्चि	"	प्राङ्षु—प्राङ्क्षु

प्रत्यञ्च् (गत्यर्थ में)

प्र०	प्रत्यङ्	प्रत्यञ्चौ	प्रत्यञ्चः
सं० प्र०	"	"	"
द्वि०	प्रत्यञ्चम्	"	प्रतीचः
तृ०	प्रतीचा	प्रत्यग्भ्याम्	प्रत्यग्भिः
च०	प्रतीचे	"	प्रत्यग्भ्यः
पं०	प्रतीचः	"	"
ष०	"	प्रतीचोः	प्रतीचाम्
सं०	प्रतीचि	"	प्रत्यक्षु

प्रक्रिया—प्रति अच् अस् (द्वितीया)। यण् के अन्तरङ्ग होने पर भी अ-लोप प्रतिपदोक्त विधि है। परनित्यान्तरङ्गप्रतिपदविधयो विरोधिसंनिपाते, तेषां मिथः प्रसङ्गे परबलीयस्त्वम्—इस वचन के अनुसार अन्तरङ्ग को बाध कर प्रतिपदोक्त विधि अ-लोप होता है।

प्रत्यञ्च् (पूजार्थ में)

प्र०	प्रत्यङ्	प्रत्यञ्चौ	प्रत्यञ्चः
सं० प्र०	"	"	"
द्वि०	प्रत्यञ्चम्	"	"

तृ०	प्रत्यञ्चा	प्रत्यङ्भ्याम्	प्रत्यङ्भिः
च०	प्रत्यञ्चे	"	प्रत्यङ्भ्यः
पं०	प्रत्यञ्चः	"	"
ष०	"	प्रत्यञ्चोः	प्रत्यञ्चाम्
स०	प्रत्यञ्चि	"	प्रत्यङ्षु-प्रत्यङ्क्षु

८६—उद् से परे भ-संज्ञक लुप्त-नकार अञ्च् के 'अ' को 'ई' आदेश होता है। यह (८४) का अपवाद है।

उदञ्च् (उत्तर, ऊपर को जाने वाला)

प्र०	उदङ्	उदञ्चौ	उदञ्चः
सं० प्र०	"	"	"
द्वि०	उदञ्चम्	"	उदीचः
तृ०	उदीचा	उदग्भ्याम्	उदग्भिः
च०	उदीचे	"	उदग्भ्यः
पं०	उदीचः	"	उदग्भ्यः
ष०	"	उदीचोः	उदीचाम्
स०	उदीचि	"	उदक्षु

उदञ्च् (पूजार्थ में)

प्र०	उदङ्	उदञ्चौ	उदञ्चः
सं० प्र०	"	"	"
द्वि०	उदञ्चम्	"	"
तृ०	उदञ्चा	उदङ्भ्याम्	उदङ्भिः
च०	उदञ्चे	"	उदङ्भ्यः
पं०	उदञ्चः	"	उदङ्भ्यः
ष०	"	उदञ्चोः	उदञ्चाम्
स०	उदञ्चि	"	उदङ्षु—उदङ्क्षु

प्रक्रिया—सम्यञ्च्—यहाँ सम् पूर्वक् अञ्च् से क्विन् हुआ है। सम् के स्थान में 'समि' आदेश होता है (समः समिः ६।३।९३)। यण्। यहाँ समि-अच् शस् में (८४) से 'अ' का लोप होकर (८५) से पूर्व अण् (इ) को दीर्घ हो जाता है—समीचः।

---

८६. उद ईत् (६।४।१३९)।

सम्यङ् (संगत, साथी)

प्र०	सम्यङ्	सम्यञ्चौ	सम्यञ्चः
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	सम्यञ्चम्	,,	समीचः
तृ०	समीचा	सम्यग्भ्याम्	सम्यग्भिः
च०	समीचे	,,	सम्यग्भ्यः
पं०	समीचः	,,	,,
ष०	,,	समीचोः	समीचाम्
स०	समीचि	,,	सम्यक्षु

सम्यञ्च् (पूजार्थ में)

प्र०	सम्यङ्	सम्यञ्चौ	सम्यञ्चः
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	सम्यञ्चम्	,,	सम्यञ्चः
तृ०	सम्यञ्चा	सम्यङ्भ्याम्	सम्यङ्भिः
च०	सम्यञ्चे	,,	सम्यङ्भ्यः
पं०	सम्यञ्चः	,,	,,
ष०	,,	सम्यञ्चोः	सम्यञ्चाम्
स०	सम्यञ्चि	,,	सम्यङ्षु-सम्यङ्क्षु

प्रक्रिया—सध्र्यञ्च् । 'सह' को 'सध्रि' आदेश होता है क्विन्प्रत्ययान्त अञ्च् परे रहते । सध्रि अञ्च् । सध्र्यञ्च् । यण् । सध्र्यञ्च् साथी को कहते हैं ।

प्र० सध्र्यङ् । सध्र्यञ्चौ । सध्र्यञ्चः । ठीक सम्यञ्च् की तरह रूप चलते हैं ।

तिरस् अञ्च् (टेढ़ा चलने वाला, जो मनुष्य की तरह सीधा खड़ा होकर नहीं चलता, पशु) । इस तिरस् को 'तिरि' आदेश हो जाता है जब क्विन्—प्रत्ययान्त अञ्च् धातु परे हो, जिसके 'अ' का (८४) से अथवा अप्राप्त होने से लोप न हुआ हो ।* तिरस् अञ्च् सु । तिरि अञ्च् स् । तिर्यञ्च् । तिर्यङ् । तिरस् अच् शस् । तिरस् च(८४)अस् । तिरश्चः । स् को चवर्ग के योग से श् ।

तिरसञ्च् (पुं०)

प्र०	तिर्यङ्	तिर्यञ्चौ	तिर्यञ्चः
सं० प्र०	,,	,,	,,

* तिरसस्तिर्यलोपे (६।३।९४) ।

द्वि०	तिर्यञ्चम्	तिर्यञ्चौ	तिरश्चः
तृ०	तिरश्चा	तिर्यग्भ्याम्	तिर्यग्भिः
च०	तिरश्चे	,,	तिर्यग्भ्यः
पं०	तिरश्चः	,,	,,
ष०	,,	तिरश्चोः	तिरश्चाम्
स०	तिरश्चि	,,	तिर्यक्षु

पूजा अर्थ इस का संभव नहीं, अतः पूजार्थ में न-लोपाभाव दिखाते हुए इसके रूप नहीं दिये हैं। वस्तुतः प्राञ्च् आदि का भी 'प्रकृष्ट पूजक' आदि अर्थों में प्रयोग दुर्लभ है। हम ने दीक्षितादि वैयाकरणों का अनुसरण करते हुए इनके पूजार्थ में रूप दिये हैं। व्याकरण अन्वाख्यान स्मृति है। अव्यवहृत शब्दों की प्रक्रिया में प्रयत्न इसके स्वरूप का विघटक है।

८७—विष्वक्, देव तथा सर्वनाम की 'टि' को 'अद्रि' आदेश होता है क्विन्प्रत्ययान्त अञ्च् धातु परे होने परे। सूत्र में अप्रत्ययः=अविद्यमानः प्रत्ययः क्विन्क्विबादिः। सर्वापहारी लोप हो जाने से क्विन्, क्विप् को 'अ-प्रत्यय' कहा है।

विष्वग् (=विश्वतः) अञ्चति गच्छति पूजयति वा विष्वद्र्यङ्। देव-मञ्चति गच्छति पूजयति वा देवद्र्यङ्।

विष्वद्र्यञ्च् (पुं०)

प्र०	विष्वद्र्यङ्	विष्वद्र्यञ्चौ	विष्वद्र्यञ्चः
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	विष्वद्र्यञ्चम्	,,	विष्वद्रीचः
तृ०	विष्वद्रीचा	विष्वद्र्यग्भ्याम्	विष्वद्र्यग्भिः
च०	विष्वद्रीचे	,,	विष्वद्र्यग्भ्यः
पं०	विष्वद्रीचः	,,	विष्वद्र्यग्भ्यः
ष०	,,	विष्वद्रीचोः	विष्वद्रीचाम्
स०	विष्वद्रीचि	,,	विष्वद्र्यक्षु

अदसञ्च्। अमुम् अञ्चति गच्छति पूजयति अमुमुयङ्।

८८—असान्त अदस् (जो सान्त न रहा हो) के दकार से परे उ, ऊ होते

८७. विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये (६।३।९२)।

८८. अदसोऽसेर्दादु दो मः (८।२।८०)।

हैं और दकार को मकार आदेश होता है। सूत्र में 'अदसः' यह स्थान-षष्ठी है, अवयवषष्ठी नहीं। सो अन्त्य अल् को कार्य होगा। वह अन्त्य अल् कैसा ? जो 'द्' से परे हो। अब अदस् के सर्वनाम होने से (८७) से इसके टि-भाग को अद्रि आदेश हो जाने पर 'अदद्रि अञ्च्' इस अवस्था में जो अन्त्य है वह द् से परे नहीं, वह तो र् से परे है और जो द् से परे है वह अदस् का अन्त्य नहीं। इस संकट के उपस्थित होने पर शास्त्र-प्रवृत्ति कैसे हो ? इसके लिये परिभाषा पढ़ी है—**अन्त्यबाधेऽन्त्यसदेशस्य**, अन्त्य को विकार की अप्राप्ति रहते अनेक अनन्त्यों को विकार की प्राप्ति होने पर अन्त्य-समीपस्थ को ही विकार होता है, अन्य को नहीं। इस वचन के अनुसार **अदमुयङ्**—ऐसा रूप होगा। दूसरों के मत में अदस् का अवयव जो द्, उस द् से परे जो वर्ण उसे उ (व्यञ्जन तथा ह्रस्व स्वर को उ, दीर्घ को दीर्घ ऊ) होता है और द् को म्। इस प्रकार दोनों दकारों को 'म्' हो जाने से **अमुमुयङ्** ऐसा रूप होगा। 'मुत्व' के असिद्ध होने से अमुमु इ अञ्च्—यहाँ इ परे रहते 'उ' को यण् नहीं होता। 'इ' को 'अ' परे होने से यण् होता है।

सूत्र की दूसरी व्याख्या—सूत्र में जो 'असेः' पढ़ा है उसका ऐसा अर्थ भी स्वीकार किया जाता है—**अः सेः सकारस्य स्थाने यस्य सोऽसिः, तस्य असेः।** 'सि' में इ उच्चारण के लिये है। इस कथन का तात्पर्य यह है—जहाँ त्यदादीनामः (७।२।१०१) सूत्र से अदस् के 'स्' के स्थान में 'अ' हुआ हो वही इस सूत्र का विषय है। अतः 'टि' को 'अद्रि' आदेश होने से 'मुत्व' की प्राप्ति ही नहीं, सो **अदद्र्यङ्**—ऐसा रूप होगा। इस सारे वक्तव्य को वार्तिक में इस प्रकार रखा है—

अदसोऽद्रेः पृथङ् मुत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत्।
केचिदन्त्यसदेशस्य नेत्येकेऽसेर्हि दृश्यते ॥इति ॥

इस वार्तिक में जो 'लत्ववत्' कहा है उसका उदाहरण यङन्त 'चलीक्लृप्यते' है। अभ्यास को जो री (क्) आगम हुआ है, वह क्लृप् धातु-भक्त (धातु का अङ्ग) होने से धातु क्लृप् का ही 'रेफ' है, अतः उसे 'कृपो रो लः' से लत्व होता है।

प्रक्रिया—अदसञ्च् शब्द के रूपों में प्राञ्च् आदि की तरह गति-पूजा अर्थ-भेद से भेद होता है। गत्यर्थ में लुप्तनकार अञ्च् के 'अ' का भ-संज्ञा होने पर (शस् आदि परे रहते) लोप हो जाने पर 'अद्रि' आदेश के 'इ' को

दीर्घ हो जाता है। पूजार्थ में न-लोप, अलोप न होने पर इस 'इ' को यण् होता है।

गत्यर्थ में—

प्र०	अमुमुयङ्	अमुमुयञ्चौ	अमुमुयञ्चः
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	अमुमुयञ्चम्	,,	अमुमुईचः
तृ०	अमुमुईचा	अमुमुयग्भ्याम्	अमुमुयग्भिः
च०	अमुमुईचे	,,	अमुमुयग्भ्यः
पं०	अमुमुईचः	,,	,,
ष०	अमुमुईचः	अमुमुईचोः	अमुमुईचाम्
स०	अमुमुईचि	,,	अमुमुयक्षु

पूजार्थ में—

प्र०	अमुमुयङ्	अमुमुयञ्चौ	अमुमुयञ्चः
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	अमुमुयञ्चम्	,,	,,
तृ०	अमुमुयञ्चा	अमुमुयङ्भ्याम्	अमुमुयङ्भिः
च०	अमुमुयञ्चे	,,	अमुमुयङ्भ्यः
पं०	अमुमुयञ्चः	,,	,,
ष०	,,	अमुमुयञ्चोः	अमुमुयञ्चाम्
स०	अमुमुयञ्चि	,,	अमुमुयङ्षु-अमुमुयङ्क्षु

केवल अन्त्य-सदेश द् को 'म्' होने पर—

गत्यर्थ में—

प्र०	अदमुयङ्	अदमुयञ्चौ	अदमुयञ्चः
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	अदमुयञ्चम्	,,	अदमुईचः
तृ०	अदमुईचा	अदमुयग्भ्याम्	अदमुयग्भिः
च०	अदमुईचे	,,	अदमुयग्भ्यः
पं०	अदमुईचः	,,	,,
ष०	,,	अदमुईचोः	अदमुईचाम्
स०	अदमुईचि	,,	अदमुयक्षु

पूजार्थ में—

प्र०	अदमुयङ्	अदमुयञ्चौ	अदमुयञ्चः
सं० प्र०	„	„	„
द्वि०	अदमुयञ्चम्	„	„
तृ०	अदमुयञ्चा	अदमुयङ्भ्याम्	अदमुयङ्भिः
च०	अदमुयञ्चे	अदमुयङ्भ्याम्	अदमुयङ्भ्यः
पं०	अदमुयञ्चः	„	„
ष०	„	अदमुयञ्चोः	अदमुयञ्चाम्
स०	अदमुयञ्चि	„	अदमुयङ्षु- अदमुयङ्क्षु

मुत्वाभाव में—

गत्यर्थ में

प्र०	अदद्र्यङ्	अदद्र्यञ्चौ	अदद्र्यञ्चः
सं० प्र०	„	„	„
द्वि०	अदद्र्यञ्चम्	„	अदद्रीचः
तृ०	अदद्रीचा	अदद्र्यग्भ्याम्	अदद्र्यग्भिः
च०	अदद्रीचे	„	अदद्र्यग्भ्यः
पं०	अदद्रीचः	„	„
ष०	„	अदद्रीचोः	अदद्रीचाम्
स०	अदद्रीचि	„	अदद्र्यक्षु

पूजार्थ में

प्र०	अदद्र्यङ्	अदद्र्यञ्चौ	अदद्र्यञ्चः
सं० प्र०	„	„	„
द्वि०	अदद्र्यञ्चम्	„	अदद्र्यञ्चः
तृ०	अदद्र्यञ्चा	अदद्र्यङ्भ्याम्	अदद्र्यङ्भिः
च०	अदद्र्यञ्चे	„	अदद्र्यङ्भ्यः
पं०	अदद्र्यञ्चः	„	„
ष०	„	अदद्र्यञ्चोः	अदद्र्यञ्चाम्
स०	अदद्र्यञ्चि	„	अदद्र्यङ्षु- अदद्र्यङ्क्षु

प्राञ्च् आदि क्विन्प्रत्ययान्त शब्दों से स्त्रीत्वविवक्षा में **'अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्'** से उगित् होने से ङीप् होता है। क्विन् के कित् होने से 'न्' का लोप—प्राची (पूर्वदिशा)। भ-संज्ञा होने से अञ्च् के 'अ' का लोप और पूर्व अण् को दीर्घ। उदीची (उत्तर दिशा)। (८६) से अञ्च् के 'अ' को 'ई'। प्रतीची (पश्चिम दिशा)। अञ्च् के 'अ' का लोप, पूर्व अण् को दीर्घ। प्राची आदि के 'नदी' शब्द की तरह रूप होंगे।

प्राञ्च् नपुं०

प्र०	**प्राक्**	**प्राची**	**प्राञ्चि**
द्वि०	,,	,,	,,

शेष पुंवत्।

'शि' सर्वनामस्थान है, अतः प्राञ्चि में 'नुम्' हुआ। प्राक्। सु(असर्वनामस्थान) प्रत्यय परे नुम् की प्राप्ति नहीं। प्राञ्च् के अपने 'न्' का क्विन्प्रत्यय के कित् होने से लोप हो चुका है। (८२) से कुत्व हुआ।

तिरस् अञ्च् नपुं०

प्र०	**तिर्यक्**	**तिरश्ची**	**तिर्यञ्चि**
द्वि०	,,	,,	,,

शेष पुंवत्। 'सु' परे अञ्च् के 'अ' का लोप नहीं होता भ-संज्ञा न होने से, अतः तिरस् को 'तिरि' आदेश हुआ। 'शी' परे रहते असर्वनामस्थान अजादि विभक्ति होने से पूर्व की भ-संज्ञा है अतः अञ्च् के 'अ' का (८४) से लोप हो जाता है, अतः यहाँ 'तिरि' आदेश नहीं हुआ। सर्वनामस्थान 'शि' परे अञ्च् के 'अ' का लोप न होने से तिरस् को 'तिरि' आदेश हुआ।

उदञ्च् नपुं०

प्र०	**उदक्**	**उदीची**	**उदञ्चि**
द्वि०	,,	,,	,,

गाम् अञ्चति पूजयति गो अङ्, गोऽङ्, गवाङ्। अत् (ह्रस्व 'अ') परे होने पर 'गो' के 'ओ' को विकल्प से प्रकृतिभाव होता है। पक्ष में 'अत्' को पूर्वरूप। पक्षान्तर में 'ओ' को अवङ् (अव) आदेश होता है।

सांहितिक विकार को छोड़कर गो अञ्च् के सभी रूप प्राञ्च् की तरह होते हैं—गो अङ्। गोऽङ्। गवाङ्। गो अञ्चौ। गोऽञ्चौ। गवाञ्चौ।

गो अञ्चम् । गोऽञ्चम् । गवाञ्चम् । शस् परे रहते गत्यर्थ में गोचः । गवाचः । 'अ' का लोप हो जाने से प्रकृतिभाव का प्रसंग ही नहीं । पूजार्थ में नकार का लोप न होने से 'अ' का लोप नहीं होगा—गो अञ्चः । गोऽञ्चः । गवाञ्चः ।

ऋतौ यजति ऋतुं वा यजति ऋतुप्रयुक्तो वा यजति ऋत्विक् । क्विन्प्रत्ययान्त निपातन किया है । अतः (८२) से 'ज्' को कवर्ग 'ग्' होगा । पाक्षिक झल् को चर् आदेश होकर प्र० ए० में ऋत्विक्-ग् रूप होगा । सुप् परे ऋत्विक्षु । कवर्गादेश ग् होकर खरि च (८।४।५५) से खर् (स्) परे होने से झल् ग् को चर् (क्) । कवर्ग से परे प्रत्यय सु के स् को ष् । क् ष् के संयोग से क्ष् ।

८६—युज् को सर्वनामस्थान परे होने पर नुम् हो, समास में नहीं । युज् क्विन्प्रत्ययान्त जान्त प्रातिपदिक है ।

प्रक्रिया—युज्-सु । यु न् ज् स् । यु न् ज् । युन् (संयोगान्त लोप) । युङ् (क्विन्प्रत्ययान्त होने से कुत्व) । यु न् ज् औ । अपदान्त 'न्' को झल् परे अनुस्वार—युं ज् औ । युञ्जौ । अनुस्वार को परसवर्ण । झल परे रहते (८१) से कुत्व क्यों नहीं हुआ ? उत्तर—परसवर्ण विधायक शास्त्र अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८।४।५८) कुत्वविधायक शास्त्र चोः कुः (८।२।३०) की दृष्टि में असिद्ध है । युज्—जस् । युञ्जः । युज्-शस् । युजः । युज्-भ्याम् । युग्भ्याम् ।

समास में तो सुयुज्—यहाँ क्विप् प्रत्यय होता है । क्विबन्त सुयुज् को (८१) से कुत्व—सुयुक्-ग् । सुयुजौ । सुयुजः । सुयुग्भ्याम् । सुयुक्षु । खञ्जति इति खन् । क्विप् । खजि गतिवैकल्ये (लंगड़ाकर चलना) इदित् है । इदित् होने से नुम् । इस नुम् का लोप प्राप्त नहीं । सुलोप होने पर संयोगान्त लोप । उसके असिद्ध होने से कुत्व नहीं हुआ । खञ्जौ । खञ्जः । खन्भ्याम् । खन्सु । राजति राजते वा राट् । क्विबन्त राज् के ज् को पदान्त विषय में तथा झल् परे होने पर ष् । इस ष् को जश्त्व विधि से ड् । अवसान में वैकल्पिक चर् होने से ड् को ट् । राट्-ड् । राज्-भ्याम् । राड्भ्याम् । राज्-सुप् । राट्सु । राट्त्सु । यहाँ वैकल्पिक धुट् (ध्) आगम होता है, जिसे खर् परे होने से चर् (त्) हो जाता है ।

---

८६. युजेरसमासे (७।१।७१) ।

विश्वं सृजतीति विश्वसृट्—ड्। पदान्त विषय में (तथा झल् परे रहते) सृज् के 'ज्' को ष्। जश्त्व। चर्त्व। रज्जुं सृजति—रज्जुसृट्—ड्। विशेषेण भ्राजत इति विभ्राट्-ड्। षत्व। जश्त्व। चर्त्व। षत्वविधायक व्रश्च-भ्रस्ज—(८।२।३६) सूत्र में 'राज्' के साथ पढ़ी हुई टुभ्राजृ दीप्तौ का ग्रहण इष्ट है फणादि होने से। अतः एजृ भ्राजृ दीप्तौ का षत्वविधि में ग्रहण न होने से (८१) से कुत्व होगा, षत्व नहीं—विभ्राक्—ग्। विभ्राग्भ्याम्। परिव्रजति परित्यज्य सर्वं व्रजति—परिव्राट्—ड्। इस शब्द की व्युत्पत्ति

९०—परि उपपद होने पर व्रज् से क्विप् प्रत्यय हो, और दीर्घ भी। पदान्त विषय में षत्व भी—इस वार्तिक से की जाती है। अतः पदान्त विषय में षत्व, जश्त्व, चर्त्व होकर ऐसे रूप होते हैं—

प्र०	परिव्राट्-ड्	परिव्राजौ	परिव्राजः
सं० प्र०	"	"	"
द्वि०	परिव्राजम्	"	"
तृ०	परिव्राजा	परिव्राड्भ्याम्	परिव्राड्भिः
च०	परिव्राजे	"	परिव्राड्भ्यः
पं०	परिव्राजः	"	"
ष०	"	परिव्राजोः	परिव्राजाम्
स०	परिव्राजि	"	परिव्राट्सु-परिव्राट्त्सु

९१—'विश्व' शब्द को दीर्घ होता है 'वसु' शब्द और 'राट्' शब्द परे होने पर। राट्—यह पदान्त का उपलक्षण है। 'राड्' (डकारान्त) होने पर भी यह विधि होगी।

विश्वाराट्-ड्। विश्वराजौ। विश्वराजः। विश्वाराड्भ्याम्। विश्वाराट्सु। विश्वाराट्त्सु।

भृज्जतीति भृट्-ड्। भ्रस्ज्—क्विप्। ग्रहिज्या—(६।१।१६) से सम्प्रसारण। व्रश्च—(८।२।३६) सूत्र से ज् को ष्। संयोग के आदि-भूत स् का लोप। जश्त्वेन ष् को ड्। अवसान में ड् को विकल्प से चर्त्व (ट्)। ऊर्जयति इति ऊर्क्-ग्। क्विप्। णिलोप। यह णिलोप 'चोः कुः' इस पदान्त विधि की कर्तव्यता में स्थानिवत् नहीं होता। यहाँ संयोगान्त लोप प्रसक्त होता है उसका नियम कर दिया है—र् से परे संयोगान्त 'स्' का ही लोप होता है अन्य का नहीं। रात्सस्य। ऊर्क्-ग्। ऊर्जौ। ऊर्जः। ऊर्ग्भ्याम्। ऊर्क्षु।

---

९०. परौ व्रजेः षः पदान्ते (वा०)।

९१. विश्वस्य वसुराटोः (६।३।१२८)।

स्रज्— यह क्विन्प्रत्ययान्त जान्त स्त्रीलिंग शब्द है। सृजन्त्येताम् इति स्रक् (माला)। पदान्त विषय में कुत्व।

प्र०	स्रक्-ग्	स्रजौ	स्रजः
द्वि०	स्रजम्	"	"
तृ०	स्रजा	स्रग्भ्याम्	स्रग्भिः
स०	स्रजि	स्रजोः	स्रक्षु

असृज् (नपुं० रुधिर) शब्द क्विन्प्रत्ययान्त नहीं है। असु क्षेपणे (दिवा०) से औणादिक ऋज्-प्रत्यय करके साधा जाता है। अतः पदान्त विषय में तथा झल् परे रहते (८१) से कुत्व होगा। नपुंसक 'शि' विभक्ति सर्वनामस्थान होती है अतः (२२) से यहाँ झलन्त असृज् को नुम् होता है। मित् होने से अन्त्य अच् से परे होगा—अ सृ न् ज् इ। 'न्' को अपदान्त होने से अनुस्वार और अनुस्वार को परसवर्ण—असृञ्जि। नान्त अंग की उपधा को सर्वनाम-स्थान परे होने पर दीर्घ होता है (२३)। पर यहाँ अंग जकारान्त है, अतः इस की प्राप्ति नहीं।

प्र०	असृक्-ग्	असृजी	असृञ्जि
द्वि०	"	"	"
तृ०	असृजा	असृग्भ्याम्	असृग्भिः

ऊर्ज्—नपुं० भी है। 'शि' परे अन्त्य अच् से परे नुम् होने पर ऊन् र्जि—ऐसा रूप होगा। यहाँ न्, र्, ज् का संयोग है। बहूर्जि प्रतिषेधः—ऐसा वार्तिक भी पढ़ा है। इसके अनुसार यहाँ नुम् नहीं होता। कई लोगों के मत में अन्त्य से पूर्व को नुम् होता है—अन्त्यात्पूर्वं नुममेके (वा०)। बहूर्जि बहूर्ञ्जि वा कुलानि। पर भाष्यकार नपुंसकस्य झलचः का ऐसा व्याख्यान भी करते हैं—अच् से परे जो झल्, तदन्त को नुम् होता है। इससे प्रथम वार्तिक का प्रत्याख्यान करते हैं। इससे भाष्यकार के मत में ऊर्ज् में अच् से परे झल् न होने से नुम् नहीं होता, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। तो 'ऊन् र्जि' में नुम् दुर्लभ है।

भूभृत् (पुं० राजा, पर्वत)

प्र०	भूभृत्—द्	भूभृतौ	भूभृतः
सं० प्र०	" "	"	"
द्वि०	भूभृतम्	"	"

तृ०	भूभृता	भूभृद्भ्याम्	भूभृद्भिः
च०	भूभृते	,,	भूभृद्भ्यः
पं०	भूभृतः	,,	,,
ष०	,,	भूभृतोः	भूभृताम्
स०	भूभृति	,,	भूभृत्सु

भुवं बिभर्तीति भूभृत्। क्विप्। यहाँ कुछ भी विशेष कार्य नहीं। केवल सांहितिक कार्य 'त्' को 'द्' और अवसान में पुनः वैकल्पिक 'द्' को 'त्'।

सरित् (स्त्री० नदी)

प्र०	सरित्—द्	सरितौ	सरितः
सं० प्र०	,, ,,	,,	,,
द्वि०	सरितम्	,,	,,
तृ०	सरिता	सरिद्भ्याम्	सरिद्भिः
च०	सरिते	,,	सरिद्भ्यः
पं०	सरितः	,,	,,
ष०	,,	सरितोः	सरिताम्
स०	सरिति	,,	सरित्सु

यहाँ भी सांहितिक कार्य के अतिरिक्त कुछ भी विशेष कार्य नहीं हुआ है। भूभृत् (पुं०) और सरित् (स्त्री०) के रूपों में तनिक भी भेद नहीं।

९२—पृषत्, महत्, बृहत्, जगत्—ये वर्तमान काल में अतिप्रत्ययान्त निपातन किये हैं। इन्हें शतृ-प्रत्ययान्त की तरह कार्य होता है। शतृ उगित् है। यहाँ समुदाय को ही उगित्व का अतिदेश किया है। उगित् हो जाने से इन्हें (८३) से सर्वनामस्थान परे नुम् होता है।

९३—सान्तसंयोग का जो नकार, महत् शब्द का जो नकार उसकी उपधा को दीर्घ होता है सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर।

प्रक्रिया—महत्—सु। मह न् त्। (८३) से नुम् (न्)। सुलोप। संयोगान्त-लोप—महन्। उपधा-दीर्घ—महान्। सम्बुद्धि—महन्। सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान में उपधा-दीर्घ कहा है, सो यहाँ नहीं हुआ। मह न् त् औ (नुम्)।

---

९२. वर्तमाने पृषन्महद्बृहज्जगच्छतृवच्च (वा०)।

९३. सान्तमहतः संयोगस्य (६।४।१)।

महान् त् औ। उपधा-दीर्घ। अनुस्वार, परसवर्ण। महान्तौ। महान्तः। महत्—शस्। महतः। असर्वनामस्थान होने से नुम् की प्राप्ति नहीं। नुम् के अभाव में उपधा-दीर्घ का प्रसङ्ग नहीं। महत् भ्याम्। महद्भ्याम्। असर्वनामस्थान हलादि विभक्ति परे रहते पूर्व की पद संज्ञा होने से झल् (त्) को जश् (द्) अन्तरतम होने से।

महत् पुं०

प्र०	महान्	महान्तौ	महान्तः
सं० प्र०	महन्	"	"
द्वि०	महान्तम्	"	महतः
तृ०	महता	महद्भ्याम्	महद्भिः
च०	महते	"	महद्भ्यः
पं०	महतः	"	"
ष०	"	महतोः	महताम्
स०	महति	"	महत्सु

६४—अत्वन्त (अतु-अन्त) तथा धात्ववयव जो अस्, तद्भिन्न असन्त की उपधा को दीर्घ होता है सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे होने पर। 'अतु' से यहां डवतु, क्तवतु, मतुप् का अवयव लिया जाता। सूत्र में 'अधातोः' का अन्वय 'असन्त' के साथ ही है, अत्वन्त के साथ नहीं।

भवत्। भातेर्डवतुः। डित्वसामर्थ्य से अ-भ-संज्ञक 'भा' के (टि) 'आ' का डित् प्रत्यय परे होने पर लोप। भवत्—सु। उगित् होने से नुम्। नुम् पर भी है और नित्य भी, तो भी दीर्घविधान-सामर्थ्य से पहले दीर्घ होगा, पीछे नुम्। यदि नुम् पहले हो जाय, तो नुम् (न्) ही उपधा होगी, न कि अच्, तो दीर्घ न होसकेगा। भवा त्। भवान् त्। संयोगान्त लोप होकर भवान्। भवन्तौ। भवन्तः। सम्बुद्धि में केवल नुम् होगा, दीर्घ नहीं—हे भवन्।

भवत् पुं० (डवतु)

प्र०	भवान्	भवन्तौ	भवन्तः
सं० प्र०	भवन्	"	"
द्वि०	भवन्तम्	"	भवतः

---

६४ अत्वसन्तस्य चाधातोः (६।४।१४)।

तृ०	भवता	भवद्भ्याम्	भवद्भिः
च०	भवते	,,	भवद्भ्यः
पं०	भवतः	,,	,,
ष०	,,	भवतोः	भवताम्
स०	भवति	,,	भवत्सु

कृतवत् (क्तवतु)

प्र०	कृतवान्	कृतवन्तौ	कृतवन्तः
सं० प्र०	कृतवन्	,,	,,
द्वि०	कृतवन्तम्	,,	कृतवतः
तृ०	कृतवता	कृतवद्भ्याम्	कृतवद्भिः
च०	कृतवते	,,	कृतवद्भ्यः
पं०	कृतवतः	,,	,,
ष०	,,	कृतवतोः	कृतवताम्
स०	कृतवति	,,	कृतवत्सु

धीमत् (मतुप्)

प्र०	धीमान्	धीमन्तौ	धीमन्तः
सं० प्र०	धीमन्	,,	,,
द्वि०	धीमन्तम्	धीमन्तौ	धीमतः
तृ०	धीमता	धीमद्भ्याम्	धीमद्भिः
च०	धीमते	,,	धीमद्भ्यः
पं०	धीमतः	,,	,,
ष०	धीमतः	धीमतोः	धीमताम्
स०	धीमति	,,	धीमत्सु

भवत् (शतृ) होता हुआ

प्र०	भवन्	भवन्तौ	भवन्तः
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	भवन्तम्	,,	भवतः

शतृ (अत्) प्रत्ययान्त 'भवत्' अत्वन्त नहीं, अतः दीर्घ नहीं होता। उगिदन्त होने से नुम् होता है। शास्त्रान्तर से भी दीर्घ की प्राप्ति नहीं।

इसी प्रकार पचत्, गच्छत्, दीव्यत्, यात्, यत् (इ-शतृ), तुदत्, शृण्वत्, रुन्धत्, तन्वत्, जानत्, चोरयत् आदि शत्रन्त शब्दों के रूप जानें।

शतृ उगित् है (ऋ के इत् होने से)। सभी शतृप्रत्ययान्त (शत्रन्त) उगिदन्त हैं। इन सबको सर्वनाम-स्थान परे रहते नुम् प्रसक्त होता है, उसके वारण के लिए सूत्र पढ़ते हैं—

९५—अभ्यस्त अंग से उत्तर शतृ को नुम् नहीं होता। दा—शतृ। दा शप् शतृ। दा श्लु शतृ। दा अत्। दा दा अत्। श्लु विषय में द्विर्वचन। ददा अत्। अभ्यास-ह्रस्व। द दा अत्। श्नाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२) से 'आ' का लोप। ददत् (परिनिष्ठित रूप)।

ददत् (देता हुआ) पुं०

प्र०	ददत्	ददतौ	ददतः
सं० प्र०	"	"	"
द्वि०	ददतम्	"	"
तृ०	ददता	ददद्भ्याम्	ददद्भिः
स०	ददति	ददतोः	ददत्सु

९६—जक्ष् और जागृ, दरिद्रा, शास्, चकास्, दीधी, वेवी—ये सात धातुएँ अभ्यस्त-संज्ञक हैं। इनसे भी शतृ को नुम् नहीं होता।

जक्षत्। जक्षतौ। जक्षतः। जाग्रत्। जाग्रतौ। जाग्रतः। दरिद्रत् (आ-लोप)। दरिद्रतौ। दरिद्रतः। शासत्। शासतौ। शासतः। चकासत्। चकासतौ। चकासतः। दीधी तथा वेवी ङित् हैं। छान्दस होने से परस्मैपद में भी प्रयोग होता है—दीध्यत्। वेव्यत्।

महत् शब्द को शतृ प्रत्ययान्त की तरह कार्य होता है, यह ऊपर कह आए हैं। शतृ उगित् है। अतः स्त्रीत्व विवक्षा में (उगितश्च—८) से ङीप् होता है—महती। 'नदी' की तरह रूप होंगे—महती। महत्यौ। महत्यः। अवर्णान्त अंग से परे शतृ का अवयव जो 'त्' तदन्त को नुम् कहा है। 'महत्' में शतृ प्रत्यय न होने से ङीप् परे रहते नुम् की प्राप्ति नहीं।

---

९६. नाभ्यस्ताच्छतुः (७।१।७८)।

महत् नपुं०

प्र०	महत्	महती	महान्ति
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	,,	,,	,,

शेष पुंवत्। नपुंसक लिंग में 'शि' (जस् व शस् के स्थान में आदेश) की ही सर्वनामस्थान संज्ञा है। अतः वहीं नुम् व दीर्घ होते हैं, अन्यत्र नहीं।

कृतवत् (क्तवतु), धीमत् (मतुप्)—इत्यादि से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् होकर कृतवती, धीमती इत्यादि रूप होते हैं। 'नदी' की तरह सुबन्तरूपावलि होगी।

९७—अभ्यस्त अंग से उत्तर जो शतृ प्रत्यय, तदन्त नपुंसकलिंग अंग को विकल्प से नुम् आगम होता है—

ददत् नपुं०

प्र०	ददत्	ददती	ददति—ददन्ति
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	ददत्	,,	,,

शेष पुंवत्। 'शि' सर्वनामस्थान है। वहीं उगिदन्त से (८३) से जो नुम् प्राप्त हुआ, उसका (९५) से निषेध हो गया। अब (९७) से विकल्प विधान किया है।

९८—अवर्णान्त अङ्ग से उत्तर जो शतृप्रत्यय का अवयव (त्), तदन्त अङ्ग को विकल्प से नुम् होता है नपुंसकलिङ्ग विभक्ति शी (औङ् का आदेश) तथा 'नदी'-संज्ञक ई परे होने पर। सूत्र में शतृ शब्द 'शत्रवयव' (शतृ का अवयव) अर्थ में समझना चाहिए, अन्यथा अवर्णान्त अङ्ग से परे शतृ के 'अ' और अङ्ग के अवर्ण के स्थान में पररूप एकादेश हो जाने से व्यपवर्ग (पृथक्त्व) न रहने से अवर्णान्त अङ्ग से परे शतृ प्रत्यय नहीं मिल सकता और उभयतः आश्रयण में अन्तादिवद्भाव होता नहीं।

तुदत् नपुं०

प्र०	तुदत्	तुदती—तुदन्ती	तुदन्ति
सं० प्र०	,,	,, ,,	,,
द्वि०	तुदत्	,, ,,	,,

---

९७. वा नपुंसकस्य (७।१।७९)।

९८. आच्छी-नद्योर्नुम् (७।१।८०)।

शेष पुंवत् । 'शि' में सर्वनामस्थान होने से (२२) से नुम् प्राप्त था । पर 'शी' असर्वनामस्थान है, यहाँ अत्यन्त अप्राप्त था । सो यह अप्राप्त विभाषा है । ङी परे भी=तुदती—तुदन्ती में नुम्-विकल्प होता है । उगित् झलन्त नपुं० अंग को पर होने से नपुंसकस्य झलचः (२२) से नुम् होगा, उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (८३) से नहीं—काशिका ।

अवर्णान्त अङ्ग कहा है, अदन्त नहीं, अतः यात् (जाता हुआ), भात् (चमकता हुआ) में भी अवर्णान्त अङ्ग होने से 'शी' तथा 'नदी' परे रहते विकल्प से नुम् होगा—

प्र०	यात्	याती—यान्ती	यान्ति
द्वि०	"	" "	"
प्र०	भात्	भाती—भान्ती	भान्ति
द्वि०	"	" "	"

शेष पुंवत् । तृ०—याता । याद्भ्याम् । याद्भिः । भाता । भाद्भ्याम् । भाद्भिः । ष०—यातः । यातोः । याताम् । भातः । भातोः । भाताम् ।

'करिष्यत्' (जो अभी करेगा) में भी शत्रवयव से पूर्व अङ्ग (करिष्य) अवर्णान्त है, अतः यहाँ भी 'शी' तथा 'नदी' परे रहते विकल्प से नुम् होगा ।

करिष्यत् (नपुं०)

प्र०	करिष्यत्	करिष्यती—करिष्यन्ती	करिष्यन्ति
द्वि०	"	" "	"

शेष पुंवत् । नदी (ङी) परे रहते भी करिष्यती-करिष्यन्ती ब्राह्मणी—नुम्-विकल्प होगा । भविष्यती भविष्यन्ती वधूः ।

जहाँ अवर्णान्त अङ्ग न होगा वहाँ शी, नदी परे रहते नुम् नहीं होगा । आप्नुवत्, रुन्धत् तन्वत्, जानत्, यत्—इनमें अङ्ग के अवर्णान्त न होने से 'शी' व 'नदी' में नुम् का प्रसंग नहीं—

आप्नुवत् (नपुं०)

प्र०	आप्नुवत्	आप्नुवती	आप्नुवन्ति
द्वि०	"	"	"

शेष पुंवत् ।

रुन्धत् (नपुं०)

प्र०	रुन्धत्	रुन्धती	रुन्धन्ति
द्वि०	"	"	"

शेष पुंवत् ।

तन्वत् नपुं०

प्र०	तन्वत्	तन्वती	तन्वन्ति
द्वि०	,,	,,	,,

शेष पुंवत् ।

जानत् नपुं०

प्र०	जानत्	जानती	जानन्ति
द्वि०	,,	,,	,,

शेष पुंवत्

यत् नपुं०

प्र०	यत्० (इण् शतृ०)	यती	यन्ति
द्वि०	,,	,,	,,

शेष पुंवत् ।

इन सब में शि (सर्वनामस्थान विभक्ति) परे होने पर (२२) से नुम् निर्बाध होता है ।

९९—जब शप्, श्यन् के अवर्ण से परे शतृ का अवयव हो, तब तदन्त नपुंसकलिङ्ग अङ्ग को नित्य नुम् (अन्त्य अच् से परे) होता है 'शी', तथा 'नदी' परे होने पर ।

पचत् नपुं० (शप्)

प्र०	पचत्	पचन्ती	पचन्ति
द्वि०	,,	,,	,,

शेष पुंवत् ।

दीव्यत् नपुं० (श्यन्)

प्र०	दीव्यत्	दीव्यन्ती	दीव्यन्ति
द्वि०	,,	,,	,,

(९२) में कह आये हैं कि पृषत् आदि अति-प्रत्ययान्त समुदायों को शतृ प्रत्ययान्तवत् कार्य होता है, अर्थात् उगित् मान कर (२२) से सर्वनामस्थान परे (अन्त्य अच् से परे) नुम् होता है । नपुंसकलिंग 'शि' विभक्ति की सर्वनामस्थान संज्ञा की है, अतः वहाँ नपुंसकलिंग अंग पृषत् आदि को नुम् होगा, अन्यत्र कहीं नहीं—

---

९९. शप्श्यनो नित्यम् (७।१।८१) ।

पृषत् (नपुं० बूंद)

प्र०	पृषत्—द्	पृषती	पृषन्ति
सं० प्र०	,, ,,	,,	,,
द्वि०	,, ,,	,,	,,

शेष पुंवत् ।

बृहत् (नपुं० बड़ा)

प्र०	बृहत्—द्	बृहती	बृहन्ति
सं० प्र०	,, ,,	,,	,,
द्वि०	,, ,,	,,	,,

शेष पुंवत् ।

जगत् (नपुं०)

प्र०	जगत्—द्	जगती	जगन्ति
सं० प्र०	,, ,,	,,	,,
द्वि०	,, ,,	,,	,,

यह क्रिया शब्द भी है—यत्किं च जगत्यां जगत् (यजुः ४०।१)। जगत् =चलत्, चल ।

१००—पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष्, दोष्, यकृत्, शकृत्, उदक, आस्य—इनको क्रम से पद्, दत्, नस्, मास्, हृद्, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, यकन्, शकन्, उदन्, आसन्—ये आदेश विकल्प से होते हैं शस् आदि विभक्तियों के परे रहते। इस सूत्र का विषय केवल छन्दः (वेद) है ऐसा माना जाता है और यह ठीक प्रतीत होता है। पर पद्भ्याम् इत्यादि में पाद के आदेश पद् आदि को देख कर कोई लोग लोक में भी इसकी प्रवृत्ति मानते हैं। इस की अपेक्षा पद् आदि को स्वतन्त्र प्रकृति मानना अधिक अच्छा है। अमर का पाठ भी है—पादः पदङ्घ्रिश्चरणो ऽस्त्रियाम्। सूत्र में प्रभृति शब्द प्रकारार्थक है, जैसे शस् परे होने पर, ऐसा अर्थ है। अतः इस सूत्र में भाष्यकार औङ् आदेश 'शी' परे भी इसकी प्रवृत्ति दिखाते हैं—ककुद्दोषणी ।

१००—पद्दन्नोमास्-हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु (६।१।६३)।

यकृत् नपुं० (जिगर)

प्र०	यकृत्—द्	यकृती	यकृन्ति
सं० प्र०	,, ,,	,,	,,
द्वि०	,, ,,	,,	,, यकानि
तृ०	यकृता—यक्ना	यकृद्भ्याम्—यकभ्याम्	यकृद्भिः—यकभिः
च०	यकृते—यक्ने	,, ,,	यकृद्भ्यः—यकभ्यः
पं०	यकृतः—यक्नः	,, ,,	,, ,,
ष०	,, ,,	यकृतोः—यक्नोः	यकृताम्—यक्नाम्
स०	यकृति—यक्नि	,, ,,	यकृत्सु—यकसु

प्रक्रिया—शस् के स्थान में शि होने पर 'यकन्' आदेश। (२३) से सर्व-नामस्थान परे रहते नान्त की उपधा को दीर्घ। यकन्—टा। भ—संज्ञा होने से (५४) से अन् के 'अ' का लोप। यकानि। यकन्—भ्याम् इत्यादि असर्वनाम-स्थान हलादि विभक्ति परे होने पर पूर्व की पद-संज्ञा होने से(४५) से 'न्' का कोप। इस लोप के असिद्ध होने से (१०) से दीर्घ नहीं होता।

शकृत् (नपुं० विष्ठा) के भी ठीक इसी प्रकार रूप होते हैं। शस् आदि विभक्तियों के परे रहते विकल्प से 'शकन्' आदेश होता है—

प्र०	शकृत्—द्	शकृती	शकृन्ति
द्वि०	,,	,,	शकृन्ति-शकानि।

इत्यादि।

१०१—पाद्-शब्दान्त जो भ-संज्ञक अंग उसके अवयव पाद् को पद् आदेश होता है। संख्या-सु-पूर्वस्य (५।४।१४०) से पाद के अन्त (अ) का लोप (समासान्त) होता है, जिससे सुपाद्, द्विपाद्, चतुष्पाद् आदि शब्द सिद्ध होते हैं। शस् आदि अजादि विभक्तियों से पूर्व अंग की भ-संज्ञा की है। शोभनौ पादौ यस्य स सुपात्।

सुपाद् (पुं०)

प्र०	सुपात्—द्	सुपादौ	सुपादः
सं० प्र०	,, ,,	,,	,,
द्वि०	सुपादम्	,,	सुपदः

---

१०१. पादः पत् (६।४।१३०)। यह अंगाधिकारीय है।

तृ०	सुपदा	सुपाद्भ्याम्	सुपाद्भिः
च०	सुपदे	"	सुपाद्भ्यः
पं०	सुपदः	"	"
ष०	"	सुपदोः	सुपदाम्
स०	सुपदि	"	सुपात्सु

सुपाद् (स्त्री०) के भी ठीक ऐसे ही रूप होंगे। इयं सुपात्। आसां सुपदां योषिताम्।

दृषद् (स्त्री०) शिला

प्र०	दृषत्—द्	दृषदौ	दृषदः
द्वि०	दृषदम्	"	"
तृ०	दृषदा	दृषद्भ्याम्	दृषद्भिः
च०	दृषदे	"	दृषद्भ्यः
पं०	दृषदः	"	"
ष०	"	दृषदोः	दृषदाम्
स०	दृषदि	"	दृषत्सु

यहाँ सांहितिक कार्य के अतिरिक्त कुछ भी विशेष कार्य नहीं हुआ।

अग्निं मन्थतीति अग्निमत् (अरणियों को मथ कर अग्नि निकालने वाला)। क्विप्। न-लोप।

अग्निमथ् (पुं०)

प्र०	अग्निमत्—द्	अग्निमथौ	अग्निमथः
सं० प्र०	" "	"	"
द्वि०	अग्निमथम्	"	"
तृ०	अग्निमथा	अग्निमद्भ्याम्	अग्निमद्भिः
च०	अग्निमथे	"	अग्निमद्भ्यः
पं०	अग्निमथः	"	"
ष०	"	अग्निमथोः	अग्निमथाम्
स०	अग्निमथि	"	अग्निमत्सु

भ्याम् आदि हलादि विभक्तियों से पूर्व अंग की पद-संज्ञा होने से झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से जश्त्व (थ् को द्)। अग्निमथ्—सुप्—यहाँ खर् परे होने से थ् को चर्त्व (त्) होता है।

शोभनं गणयति सुगण् (विच्), अच्छी गिनती करने वाला।

सुगण् (पुं०)

प्र०	सुगण्	सुगणौ	सुगणः
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	सुगणम्	,,	,,
तृ०	सुगणा	सुगण्भ्याम्	सुगण्भिः
च०	सुगणे	,,	सुगण्भ्यः
पं०	सुगणः	सुगण्भ्याम्	सुगण्भ्यः
ष०	,,	सुगणोः	सुगणाम्
स०	सुगणि	,,	सुगण्सु—सुगण्ट्सु

सुगण्—सुप्—यहाँ सुप् को टुक् (ट्) आगम विकल्प से होता है।

शोभनं गणयतीति सुगाण्। क्विप्। क्विप् परे रहते अनुनासिकान्त अंग की उपधा को दीर्घ होता है।

सुगाण् (पुं०)

प्र०	सुगाण्	सुगाणौ	सुगाणः
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	सुगाणम्	,,	,,
तृ०	सुगाणा	सुगाण्भ्याम्	सुगाण्भिः

इत्यादि सुगण् के समान ही रूप होते हैं।

१०२—(४५) से जो पद-रूप प्रातिपदिक के अन्त्य 'न्' का लोप प्राप्त होता है वह ङि परे रहते तथा सम्बुद्धि परे नहीं होता।

राजते शोभत इति राजा। औणादिक कनिन्प्रत्ययान्त।

प्रक्रिया—राजन्-सु। (२३) से पर होने से पहले उपधा-दीर्घ, तदनन्तर हल्ङ्यादि लोप। तब (४५) से न्-लोप। राजा। राजन्—औ। (२३) से से उपधा-दीर्घ। राजानौ। राजन्—जस्। राजानः (उपधा-दीर्घ)। ऐसे ही अम् और औट् परे होने पर। राजन्—शस्। भ-संज्ञा होने से (५४) से 'अन्' के 'अ' का लोप। राज् न् अस्। श्चुत्व—रा ज् ञ् अस्। राज्ञः। ज्ञोर्ज्ञः। पूर्वविधि की कर्तव्यता में परनिमित्तक अजादेश (अच् को आदेश) स्थानिवत् होता है (अचः परस्मिन्पूर्वविधौ (१।१।५७)। स्थानिवद्भाव होने पर 'अ' व्यवधायक होगा, तो श्चुत्व नहीं होना चाहिये। उत्तर—पूर्वत्रासिद्धीये

---

१०२. न ङि-सम्बुद्धयोः (८।२।८)।

न स्थानिवत् । यहाँ पूर्वत्रासिद्धीय (त्रिपादीस्थ) कार्य श्चुत्व कर्तव्य है, अतः अल्लोप (अत्लोप, अ का लोप) स्थानिवत् नहीं होता। रही बहिरङ्ग परिभाषा (असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे) द्वारा इस की असिद्धता, वह भी न हीं बनती। श्चुत्व अन्तरङ्ग है, अल्लोप (बहिर्भूत-निमित्त शस् से निर्वर्त्य होने से) बहिरंग है। जहाँ दोनों अन्तरंग व बहिरंग कार्य अवस्थित (सिद्ध) हों वहाँ बहिरंग परिभाषा की प्रवृत्ति होने से बहिरंग असिद्ध हो जाता है। यथोद्देश पक्ष में बहिरंग परिभाषा षाष्ठी है, वाह ऊठ् (६।४।१३२) से ज्ञापित हुई है, अतः इसकी दृष्टि में त्रिपादीस्थ कार्य श्चुत्व (अन्तरंग) असिद्ध है। अतः अन्तरंग के न होने से परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। राजन्—भ्याम्। राजभ्याम्। (४५) से न-लोप। राजन्—सु। राजसु। न-लोप।

राजन् पुं०

प्र०	राजा	राजानौ	राजानः
सं० प्र०	राजन्	,,	,,
द्वि०	राजानम्	,,	राज्ञः
तृ०	राज्ञा	राजभ्याम्	राजभिः
च०	राज्ञे	,,	राजभ्यः
पं०	राज्ञः	,,	,,
ष०	,,	राज्ञोः	राज्ञाम्
स०	राज्ञि-राजनि	,,	राजसु

१०३—रेफ-वकारान्त धातु की उपधा इक् (प्रत्याहार) को दीर्घ होता है हल् परे होने पर। सूत्र में 'र्वोः' यह धातु का विशेषण है, और विशेषण से तदन्तविधि होती है, अतः रेफ-वकारान्त धातु—ऐसा अर्थ किया है। प्रतिदीव्यतीति प्रतिदिवा।

प्रक्रिया—प्रतिदिवन्—शस्। भसंज्ञा होने से (५४) से अल्लोप। दीर्घविधि की कर्तव्यता में भी न पदान्त-वरे-यलोप-दीर्घ—(१।१।५८) से स्थानिवद्भाव नहीं होता, अतः दीर्घ निर्बाध हो जाता है। हलादि विभक्तियों में भसंज्ञा न होने से अल्लोप नहीं होगा। अल्लोप के न होने पर (१०३) की प्राप्ति नहीं वकारान्त धातु से परे हल् न होने से।

---

१०३. हलि च (८।२।७७)।

प्रतिदिवन् (पुं०)

प्र०	प्रतिदिवा	प्रतिदिवानौ	प्रतिदिवानः
सं० प्र०	प्रतिदिवन्	,,	,,
द्वि०	प्रतिदिवानम्	,,	प्रतिदीव्नः
तृ०	प्रतिदीव्ना	प्रतिदिवभ्याम्	प्रतिदिवभिः
च०	प्रतिदीव्ने	,,	प्रतिदिवभ्यः
पं०	प्रतिदीव्नः	,,	,,
ष०	,,	प्रतिदीव्नोः	प्रतिदीव्नाम्
स०	प्रतिदीव्नि-प्रतिदिवनि	,,	प्रतिदिवसु

१०४—वकार-मकारान्त संयोग से परे जो अन् तदन्त भ-संज्ञक अङ्ग के अन् के 'अ' का लोप नहीं होता। यह (५४) का अपवाद है।

विधिनेष्टवान् यज्वा। यज् धातु से भूतकाल में ङ्वनिप् (वन्) प्रत्यय होता है। यहाँ अन् से पूर्व वकारान्त संयोग है, अतः (१०४) की प्रवृत्ति होगी, अर्थात् अल्लोप नहीं होगा।

यज्वन् (पुं०)

प्र०	यज्वा	यज्वानौ	यज्वानः
सं० प्र०	यज्वन्	,,	,,
द्वि०	यज्वानम्	,,	यज्वनः
तृ०	यज्वना	यज्वभ्याम्	यज्वभिः
च०	यज्वने	,,	यज्वभ्यः
पं०	यज्वनः	,,	,,
ष०	,,	यज्वनोः	यज्वनाम्
स०	यज्वनि	,,	यज्वसु

इसी प्रकार आत्मन्, पाप्मन्, अश्मन् (पत्थर), अध्वन् (मार्ग) अथर्वन् के रूप जानें।

ब्रह्मन् (हिरण्यगर्भ, चतुर्मुख देवता, ब्राह्मण)

प्र०	ब्रह्मा	ब्रह्माणौ	ब्रह्माणः
सं० प्र०	ब्रह्मन्	,,	,,

१०४. न संयोगाद्वमन्तात् (६।४।१३७)।

द्वि०	ब्रह्माणम्	ब्रह्माणौ	ब्रह्मणः
तृ०	ब्रह्मणा	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभिः
च०	ब्रह्मणे	,,	ब्रह्मभ्यः
पं०	ब्रह्मणः	,,	,,
ष०	,,	ब्रह्मणोः	ब्रह्मणाम्
स०	ब्रह्मणि	,,	ब्रह्मसु

ब्रह्मन् में मकारान्त संयोग से परे 'अन्' है। अतः (१०४) की प्रवृत्ति होने से (५४) से अल्लोप नहीं हुआ। 'णत्व' का निमित्त र् होने से न् को णत्व होता है। हे ब्रह्मन्—यहाँ पदरूप प्रातिपदिक के अन्त्य न् का लोप नहीं होता (१०२)।

ब्रह्मन् (नपुं०)

प्र०	ब्रह्म	ब्रह्मणी	ब्रह्माणि
सं० प्र०	ब्रह्मन्-ब्रह्म	,,	,,
द्वि०	ब्रह्म	,,	,,

शेष पुंवत्।

प्रक्रिया—ब्रह्मन्—सु। स्वमोर्नपुंसकात् (४९) से सु-लुक् होने पर प्रत्यय-लक्षण से पद-संज्ञा होने पर (४५) से न् का लोप। जस्, शस् के स्थान में शि की सर्वनामस्थान संज्ञा की है, अतः उसके परे रहते नान्त अंग की उपधा को (२३) से दीर्घ। सम्बुद्धि 'सु' परे रहते नपुं० शब्दों के अन्त्य न् का विकल्प से लोप होता है।

इसी प्रकार कर्मन्, जन्मन्, चर्मन्, वर्त्मन् (मार्ग), वेश्मन् (गृह), वर्मन् (संनाह), भस्मन् (राख), पर्वन् (उत्सव, गाँठ), सद्मन् (गृह) के रूप जानें।

१०५—इन्, हन्, पूषन्, अर्यमन्—इनाद्यन्त अंगों की उपधा को 'शि' परे दीर्घ होता है। 'शि' सर्वनामस्थान है, अतः(२३) से उपधा दीर्घ प्राप्त ही था, तो फिर विधान क्यों किया? उत्तर—**सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः**, सिद्ध होने पर जो विधान किया जाता है वह नियम के लिए होता है। इन अंगों की उपधा को 'शि' परे रहते ही दीर्घ हो, अन्यत्र कहीं न हो। इस नियम से 'शि' से अन्य विभक्ति परे रहते निषेध प्राप्त होने पर शास्त्रकार इष्ट विषय में विधान करते हैं—

---

१०५. इन्हन् पूषार्यम्णां शौ (६।४।१२)।

१०६—इनाद्यन्त अंगों की उपधा को दीर्घ होता है सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे रहते ।

इन्नन्त गुणिन् (पुं०)

प्र०	गुणी	गुणिनौ	गुणिनः
सं० प्र०	गुणिन्	,,	,,
द्वि०	गुणिनम्	,,	,,
तृ०	गुणिना	गुणिभ्याम्	गुणिभिः
च०	गुणिने	,,	गुणिभ्यः
पं०	गुणिनः	,,	,,
ष०	,,	गुणिनोः	गुणिनाम्
स०	गुणिनि	,,	गुणिषु

प्रक्रिया—प्र० ए० सु परे रहते (१०६) से उपधा-दीर्घ । हल्ङ्यादि-लोप । न्-लोप । 'गुणिभ्याम्' आदि में असर्वनामस्थान हलादि विभक्ति परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा होने से न-लोप (४५) । सम्बुद्धि 'सु' परे रहते (१०२) से न्-लोप का निषेध ।

इसी प्रकार धनिन्, शशिन्, दण्डिन्, प्राणिन्, शरीरिन्, कामिन्, किरीटिन् (किरीट=मुकुट वाला, अर्जुन), मनीषिन्, अंशुमालिन् (सूर्य), पक्षिन्, श्रेष्ठिन् (सेठ), स्वर्गिन् (देवता), नाकिन् (देवता) आदि के रूप जानें ।

'गुणिन्' जब नपुं०विशेष्य के साथ अन्वित होगा तब यह भी नपुं० होगा। स्वमोर्नपुंसकात् (४६) से सु-लुक् होने पर प्रत्ययलक्षण से पद-संज्ञा होने पर (४५) से 'न्' का लोप । सु का लुक् होने से उपधा-दीर्घ की प्राप्ति नहीं । गुणि अपत्यम् । गुणिन् औ । गुणिन् शी (ई) । गुणिनी । जस्, शस् के स्थान में जो शि (इ) आदेश होता है, उसकी सर्वनामस्थान संज्ञा की है, अतः (२३) से उपधा-दीर्घ होकर गुणीनि अपत्यानि । सम्बुद्धि 'सु' परे रहते जो (४५) से न्-लोप प्राप्त होता है उसका वार्तिककार विकल्प विधान करते हैं—

सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः । इसके अनुसार हे गुणिन्, हे गुणि—दो रूप होंगे ।

शस् से आगे की विभक्तियों में पुं० की तरह रूप होंगे ।

---

१०६. सो च (६।४।१३) ।

१०७—हन् धातु के 'ह्' को ञित, णित् प्रत्यय परे रहते तथा नकार परे रहते कुत्व (कवर्गादेश) होता है। प्रयत्न-आन्तरतम्य (प्रयत्नों की सदृशतमता) मे महाप्राण घोषवान् वर्ण घ् कवर्गादेश होगा।

प्रक्रिया—वृत्रहन् (वृत्रं हतवान्) इन्द्रवाची क्विबन्त हन्नन्त प्रातिपदिक है।

वृत्रहन्—औ। (१०५) नियम से (२३) से प्राप्त उपधा-दीर्घ का निषेध हो गया। वृत्रहणौ। (७७) से णत्व। वृत्रहन्—शस्। वृ त्र ह् न् अस्। (५४) से अल्लोप। वृत्रघ्नः। (१०७) से कुत्व। वृत्रघ्नः आदि में (७७) से णत्व क्यों नहीं होता? कुव्यवाये हादेशेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः। किं प्रयोजनम्। वृत्रघ्नः। स्रुघ्नः। प्राघानि—इस भाष्यग्रन्थ के अनुसार हादेश कवर्ग के व्यवधायक होने पर णत्व नहीं होता।

वृत्रहन् पुं० (इन्द्र)

प्र०	वृत्रहा	वृत्रहणौ	वृत्रहणः
सं० प्र०	वृत्रहन्	,,	,,
द्वि०	वृत्रहणम्	,,	वृत्रघ्नः
तृ०	वृत्रघ्ना	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभिः
च०	वृत्रघ्ने	,,	वृत्रहभ्यः
पं०	वृत्रघ्नः	,,	,,
ष०	,,	वृत्रघ्नोः	वृत्रघ्नाम्
स०	वृत्रघ्नि-वृत्रहणि	,,	वृत्रहसु

माधवीय धातुवृत्तिकार का यह मत कि वृत्रघ्नः, वृत्रघ्णः—यहाँ वैकल्पिक णत्व होता है, भाष्य तथा वार्तिक के विरुद्ध है। वे यह कहते हैं—भ-संज्ञायामल्लोपे उत्तरपदमनच्कं स्थानिवद्भावश्चाल्विधित्वान्नेत्येकाजुत्तरपदत्वाभावात् प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च (८।४।११) इति विकल्पो भवति। अल्विधि होने से स्थानिवद्भाव नहीं होगा, यही असंगत है। अल्विधि में स्थानिवद्भाव हो इसी के लिये 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ' (१।१।५७) पढ़ा है।

यशस्विन्। यशोऽस्यास्तीति। यहाँ मत्वर्थीय विनि प्रत्यय है। इस विनि में इनि (इन्) मात्र अनर्थक है। अर्थवतो ग्रहणे नानर्थकस्य—यह परिभाषा है। इसका अर्थ है—अर्थवान् (सार्थक) शब्द के ग्रहण का संभव होने पर

१०७. हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७।३।५४)।

अनर्थक का ग्रहण नहीं होता। सो इन्हन्—सूत्र में सार्थक इन् का ग्रहण होना चाहिए जो दण्डिन् आदि शब्दों में मिलता है। इस पर परिभाषान्तर पढ़ते हैं—अनिनस्मन्-ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति, अर्थात् अन्, इन्, अस्, मन्—अर्थवान् हों चाहे अनर्थक, तदन्तविधि के प्रयोजक होते हैं। अतः यशस्विन्, मेधाविन्, मायाविन्, वाग्ग्मिन् आदि में भी प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति होगी।

यशस्विन्

प्र०	यशस्वी	यशस्विनौ	यशस्विनः
सं० प्र०	यशस्विन्	"	"
द्वि०	यशस्विनम्	"	"
तृ०	यशस्विना	यशस्विभ्याम्	यशस्विभिः
च०	यशस्विने	"	यशस्विभ्यः
पं०	यशस्विनः	"	"
ष०	"	यशस्विनोः	यशस्विनाम्
स०	यशस्विनि	"	यशस्विषु

अर्यमन् (सूर्य)—अर्यमा। अर्यमणौ। अर्यमणः। अर्यमणम्। अर्यमणौ। अर्यम्णः इत्यादि।

पूषन् (सूर्य)—पूषा। पूषणौ। पूषणः इत्यादि।

१०८—मघवन् शब्द को विकल्प से 'तृ' अन्तादेश होता है।

मघवतृ। ('ऋ' इत् संज्ञक है। अतः 'मघवत्' उगित् है। 'सु' परे (८३) से नुम्। हल्ङ्यादिलोप होकर संयोगान्तलोप हो जाने पर नान्त अङ्ग की उपधा को (२३) से दीर्घ होकर 'मघवान्' व्यवहार्य रूप होगा। दीर्घ की कर्तव्यता में संयोगान्तलोप असिद्ध नहीं होता, सूत्र में 'बहुल' ग्रहण करने से। बाहुलक के लक्षण में क्वचिदन्यदेव (कहीं कुछ अतिरिक्त कार्य भी होता है) ऐसा कहा है। घनवत् की तरह सभी रूप होंगे।

मघवत् (इन्द्र)

प्र०	मघवान्	मघवन्तौ	मघवन्तः
सं० प्र०	मघवन्	"	"
द्वि०	मघवन्तम्	"	मघवतः

---

१०८. मघवा बहुलम् (६।४।१२८)।

तृ०	मघवता	मघवद्भ्याम्	मघवद्भिः
च०	मघवते	,,	मघवद्भ्यः
पं०	मघवतः	,,	,,
ष०	,,	मघवतोः	मघवताम्
स०	मघवति	,,	मघवत्सु

१०६—श्वन्, युवन्, मघवन्—इन भ-संज्ञक अंगों को सम्प्रसारण (यण् के स्थान में इक्) हो जब परे तद्धित प्रत्यय न हो।

प्रक्रिया—तृ अन्तादेश के अभाव में पहले पाँच स्थानों में (अर्थात् सुट् परे रहते) राजन् की तरह रूप होते हैं। मघवन्—शस्। मघ उ अ न् शस् (सम्प्रसारण)। सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०८) से पूर्वरूप होकर मघ उ न् शस्। गुणसन्धि होकर मघोनः। हलादि विभक्तियों के परे रहते पद-संज्ञा होने से (४५) से न्-लोप।

मघवन् (इन्द्र)

प्र०	मघवा	मघवानौ	मघवानः
सं० प्र०	मघवन्	,,	,,
द्वि०	मघवानम्	,,	मघोनः
तृ०	मघोना	मघवभ्याम्	मघवभिः
च०	मघोने	,,	मघवभ्यः
पं०	मघोनः	,,	,,
ष०	,,	मघोनोः	मघोनाम्
स०	मघोनि	,,	मघवसु

श्वन् (कुत्ता)

प्र०	श्वा	श्वानौ	श्वानः
सं० प्र०	श्वन्	,,	,,
द्वि०	श्वानम्	,,	शुनः
तृ०	शुना	श्वभ्याम्	श्वभिः
च०	शुने	,,	श्वभ्यः
पं०	शुनः	,,	,,

---

१०६. श्व-युव-मघोनामतद्धिते (६।४।१३३)।

ष०	शुनः	शुनोः	शुनाम्
स०	शुनि	"	श्वसु

प्रक्रिया—शस् आदि अजादि विभक्तियों के परे रहते अंग की भ-संज्ञा होने से सम्प्रसारण (व् को उ) और सम्प्रसारण से परे को पूर्वरूप। सम्प्रसारण आभीय कार्य है। **असिद्धवदत्राभात्** (६।४।२२) यहाँ से लेकर पाद की समाप्ति तक जो शास्त्र पढ़ा है वह आभीय (भ-अधिकार (६।४।१२९) को व्याप्त करने वाला) कहलाता है। समानाश्रय आभीय कार्य की कर्तव्यता में जो आभीय कार्य हो चुका है वह असिद्धवत् समझा जाता है(मानो हुआ ही नहीं)। सम्प्रसारण भी आभीय है, अल्लोप भी। सम्प्रसारण के असिद्धवत् होने से अल्लोप प्राप्त होता है, वह वमन्त संयोग से परे अन् का 'अ' होने से नहीं होता। हलादि विभक्तियों में पद-संज्ञा होकर (४५) से 'न्' का लोप।

११०—सम्प्रसारण परे होने पर पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता।

सूत्र-न्यास से संकेतित होता है कि पर यण् को पहले सम्प्रसारण इष्ट है। पूर्व यण् को जो प्राप्त होता है उसका निषेध कर दिया है।

युवन् (जवान)—यहाँ य् यण् है, और व् भी। पूर्व यण् को सम्प्रसारण न होकर पर यण् व् को सम्प्रसारण—यु उ अ न् शस्। यु उ न् अस्। (पूर्वरूप)। यूनः (दीर्घ)।

युवन्

प्र०	युवा	युवानौ	युवानः
सं० प्र०	युवन्	"	"
द्वि०	युवानम्	"	यूनः
तृ०	यूना	युवभ्याम्	युवभिः
च०	यूने	"	युवभ्यः
पं०	यूनः	"	"
ष०	"	यूनोः	यूनाम्
स०	यूनि	"	युवसु

१११—नञ्—रहित 'अर्वन्' इस अङ्ग को 'तृ' अन्तादेश होता है, पर यह सु (प्रथमा एक०) परे नहीं होता। ऋ इत् है, अतः 'तृ' उगित् है। अर्वत्

---

११०. न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् (६।१।३७)।

१११. अर्वणस्त्रसावनञः (६।४।१२७)।

यह उगिदन्त हुआ। इसे औ आदि सर्वनामस्थान विभक्तियों के परे रहते (८३) से अन्त्य अच् से परे नुम् होता है—अर्व न् त् औ। अनुस्वार व परसवर्ण होकर अर्वन्तौ—यह परिनिष्ठित रूप सिद्ध हुआ। असर्वनामस्थान विभक्तियों में नुम् न होने से अर्वतः। अर्वता। अर्वते। अर्वतः। अर्वति आदि रूप होंगे। प्र० ए० में 'तृ' अन्तादेश न होने से उगित् न होने से नुम् का प्रसङ्ग नहीं। अर्वा। राजन् की तरह उपधा-वृद्धि तथा न्-लोप। ऐसा ही सम्बुद्धि के विषय में जानें। नञ्-पूर्वक अर्वन् को भी तृ अन्तादेश का निषेध कहा है, अतः अनर्वा। अनर्वाणौ। अनर्वाणः। अनर्वाणम्। अनर्वाणौ। अनर्वणः (वकारान्त संयोग होने से अल्लोप नहीं हुआ)। कुत्सितोऽर्वा=अनर्वा (निकृष्ट अश्व)।

अर्वन् (घोड़ा)

प्र०	अर्वा	अर्वन्तौ	अर्वन्तः
सं० प्र०	अर्वन्	,,	,,
द्वि०	अर्वन्तम्	अर्वन्तौ	अर्वतः

११२—पथिन्, मथिन्, ऋभुक्षिन्—इन अङ्गों को आकार अन्तादेश होता है 'सु' परे होने पर। यद्यपि 'आ' यह अननुनासिक पढ़ा है तो भी अभेदका गुणाः इस पक्ष के अनुसार अनुनासिक (आँ) भी अन्तादेश हो जाना चाहिये, अन्तरतम होने से। ठीक है। इसीलिये यहाँ आत् में आ आत् ऐसा प्रश्लेप माना जाता है जिससे शुद्ध व्यक्ति का ही विधान समझा जायगा, और अनुनासिक नहीं होगा। पथिन् आदि उणादि-व्युत्पन्न हैं।

११३—पथिन्, मथिन्, ऋभुक्षिन्—इन अङ्गों के इकार को अत् (ह्रस्व अ) आदेश होता है सर्वनामस्थान परे होने पर।

११४—पथिन्, मथिन्, के 'थ्' को 'न्थ्' आदेश होता है सर्वनामस्थान परे रहते।

११५—भ-संज्ञक पथिन् आदि के टि-भाग का लोप हो जाता है।

प्रक्रिया—पथिन्—सु। पथि आ सु (११२)। पथ आ सु (११३)। पन्थ

---

११२. पथिमथ्यृभुक्षामात् (७।१।८५)।

११३. इतोऽत् सर्वनामस्थाने (७।१।८६)।

११४. थो न्थः (७।१।८७)।

११५. भस्य टेर्लोपः (७।१।८८)।

आं सु । (११४) । पन्थाः । रुत्व, विसर्ग । पथिन् औट् । पथन् औ । (११३) । पन्थन् औ (११४) । पन्थानौ । (२३) से उपधा-दीर्घ । पन्थानः । पन्थानम् । पन्थानौ । पथिन्-शस् । शस् असर्वनामस्थान अजादि विभक्ति है, अतः पथिन् अङ्ग की 'भ' संज्ञा हुई । अतः (११५) से टि ='इन्' का लोप होकर रुत्व विसर्ग होने पर—पथः । असर्वनामस्थान हलादि विभक्तियों के परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा होने से न्-लोप—पथिभ्याम् इत्यादि । सम्बुद्धि 'सु' परे रहते भी आकार अन्तादेश होता है ।

पथिन्

प्र०	पन्थाः	पन्थानौ	पन्थानः
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	पन्थानम्	,,	पथः
तृ०	पथा	पथिभ्याम्	पथिभिः
च०	पथे	,,	पथिभ्यः
पं०	पथः	,,	,,
ष०	,,	पथोः	पथाम्
स०	पथि	,,	पथिषु

इसी प्रकार मथिन् तथा ऋभुक्षिन् (इन्द्र) के रूप जानें ।

शोभनाः पन्थानो ऽस्मिन्नगरे इति सुपथि नगरम् । पथिन् को जो थो न्थः इतोऽत् सर्वनामस्थाने आदि कार्य कहा है वह अङ्गाधिकारीय है, अतः पथ्यन्त अङ्ग को भी होगा । सुपथिन्—जस् । सुपथिन्—शि (इ) । सुपन्थ न् इ । (२३) से उपधा-दीर्घ होकर सुपन्थानि । भस्य टे र्लोपः की प्रवृत्ति भी यहाँ होगी—सुपथिन् औङ् । सुपथिन्—शी (ई) । भ-संज्ञा होने से टि (इन्) का लोप होकर 'सुपथी' व्यवहार्य रूप होगा ।

सुपथि नपुं०

प्र०	सुपथि	सुपथी	सुपन्थानि
तृ०	सुपथा	सुपथिभ्याम्	सुपथिभिः
ष०	सुपथः	सुपथोः	सुपथाम्

नामन् नपुं० (नाम)

प्र०	नाम	नामनी—नाम्नी	नामानि
सं० प्र०	नामन्—नाम	,, ,,	,,
द्वि०	नाम	,, ,,	,,

तृ०	नाम्ना	नामभ्याम्	नामभिः
च०	नाम्ने	"	नामभ्यः
पं०	नाम्नः	"	"
ष०	"	नाम्नोः	नाम्नाम्
स०	नामनि—नाम्नि	"	नामसु

प्रक्रिया—यहाँ इतना ही विशेष अवधेय है कि औङ् के स्थान में हुए आदेश शी (ई) परे रहते अल्लोप विकल्प से होता है (५५)। ङि परे रहते भी यह विकल्प होता है जैसा कि राजन् पुं० के विषय में दिखाया जा चुका है। और कोई विशेष कार्य नहीं होता।

इसी प्रकार प्रेमन्, दामन्(माला), हेमन् (स्वर्ण), धामन् (गृह, देह, प्रभाव) के रूप जानें।

११६—अहन् (नपुं०) के 'न्' को रेफ (र्) होता है जब परे सुप् न हो।

११७—अहन् (नपुं०) के न् को 'रु' होता है पदान्त विषय में।

प्रक्रिया—अहन् सु। अहन्। (४६) से सु-लुक्। सुप् परे न होने से (प्रत्यय के लुमान् शब्द 'लुक्' से लुप्त होने के कारण) अहन् के 'न्' को र्। विसर्जनीय। अहः। रत्व के असिद्ध होने से (४५) से न्-लोप प्राप्त होता है। सूत्रकार 'अहन्' ऐसा नकारान्त पढ़ते हैं और प्राप्त न्-लोप नहीं करते, इसी हेतु यहां न्-लोप नहीं होता—काशिका। सिद्धान्त कौमुदीकार तो अहन् सूत्र की आवृत्ति करके एक से न्-लोपाभाव निपातन करते हैं और दूसरे से रुत्व का विधान करते हैं। अहोभ्याम् आदि में सुप् परे होने से अहन् के न् को रु। हश् (प्रत्याहार) परे होने पर इसे उ। गुण-सन्धि।

अहन् नपुं० दिन

प्र०	अहः	अहनी—अह्नी	अहानि
सं० प्र०	अहः	" "	"
द्वि०	अहः	" "	"
तृ०	अह्ना	अहोभ्याम्	अहोभिः
च०	अह्ने	"	अहोभ्यः
पं०	अह्नः	"	"

११६. रोऽसुपि (८।२।६९)।

११७. अहन् (८।२।६८)।

ष०	अह्नः	अह्नोः	अह्नाम्
स०	अह्नि—अहनि	,,	अहःसु—अहस्सु

प्रक्रिया—अहन् (८।२।६८) पदाधिकारीय सूत्र है। पदस्य (८।१।१६) से पदाधिकार प्रारम्भ होता है। पदाधिकारीय होने से तदन्त (अहन्नन्त) को रत्व व रुत्व होंगे। पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च। ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधि र्नास्ति, जहाँ प्रातिपदिकविशेष का निर्देश (उच्चारण) किया गया हो वहाँ तदन्त (प्रातिपदिकान्त) को विधि नहीं होती, सो यहाँ 'अहन्' का निर्देश करके जो रत्व, रुत्व विधान किये गये हैं वह तदन्त (अहन्नन्त) को नहीं होने चाहियें। ठीक है। पर यह परिभाषा प्रत्ययविधि में लागू होती है यहाँ इसका विषय नहीं। अतः दीर्घाण्यहान्यस्मिन्निति दीर्घाहा निदाघः (गर्मी की रुत जिसमें दिन लम्बे होते हैं)—यहाँ दीर्घाहन् सु इस अवस्था में 'हल्ङ्याब्—'(६।१।६८) से सर्वनामस्थाने—'(६।४।८)पर है, अतः सुलोप होनेसे पहले उपधा-दीर्घ हो जायगा। दीर्घाहान्। 'अहन्' सूत्र से रुत्व हो जाने पर भी रुत्व के असिद्ध होने से उपधादीर्घ निर्बाध होता है। दीर्घाहार् निदाघः। इस 'रु' को 'य्' होने पर आगे हल् परे होने से 'य्' का लोप—दीर्घाहा निदाघः। सम्बुद्धि में उपधा-दीर्घ का प्रसङ्ग न होने से अहन् के 'न्' को रुत्व। हश् (प्रत्याहार) परे होने से रुत्व को उत्व। गुण-सन्धि—हे दीर्घाहो निदाघ। दीर्घाहानौ। दीर्घाहानः। दीर्घाहानम्। दीर्घाहानौ। दीर्घाह्नः। दीर्घाह्ना। दीर्घाहोभ्याम्।

११८—मकारान्त धातु के म् को न् हो जाता है पदान्त विषय में।

प्रशाम्यतीति प्रशान्। प्रपूर्वक शम् से क्विप्। उपधा-दीर्घ।

प्रक्रिया—न-लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) भी त्रिपादी है और मो नो धातोः (८।२।६४) भी। त्रिपाद्यामपि पूर्वं पूर्वं शास्त्रम् प्रति परं परमसिद्धम् इस वचन से नलोपः—की दृष्टि में पर शास्त्र मो नो—असिद्ध है, म् ही पड़ा है, तो न्-लोप नहीं होता। प्रशाम्—भ्याम् आदि हलादि विभक्ति परे रहते पूर्व की पद-संज्ञा होने से 'म्' को न्।

प्रशाम्

प्र०	प्रशान्	प्रशामौ	प्रशामः
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	प्रशामम्	,,	,,

११८. मो नो धातोः (८।२।३४)।

तृ०	प्रशामा	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भिः
च०	प्रशामे	,,	प्रशान्भ्यः
पं०	प्रशामः	,,	,,
ष०	,,	प्रशामोः	प्रशामाम्
स०	प्रशामि	,,	प्रशान्सु

गोपायतीति गुप् (रक्षक)। इसके रूपों में सांहितिक कार्य झलां जशो ऽन्ते (पदान्त झल् को जश्), वाऽवसाने (विराम में झल् को विकल्प से चर्) के अतिरिक्त कुछ भी विशेष विधेय नहीं।

प्र०	गुप्—गुब्	गुपौ	गुपः
तृ०	गुपा	गुब्भ्याम्	गुब्भिः
ष०	गुपः	गुपोः	गुपाम्

११९—अप् (स्त्री०, जल) के 'प्' को त् आदेश होता है भकारादि प्रत्यय परे होने पर।

अप् (जलवाची) का नित्य स्त्रीलिङ्ग बहुवचन में प्रयोग होता है।

अप् जस्। आपः। (६८) से उपधा-दीर्घ। अप्-भिस्। अद्भिः। (११९)।

अप् (जल) स्त्री०

प्र० आपः। द्वि० अपः। तृ० अद्भिः। च० अद्भ्यः। पं० अद्भ्यः। ष० अपाम्। स० अप्सु।

१२०—रेफ-वकारान्त जो पदरूप धातु उसकी उपधा इक् को दीर्घ हो जाता है।

गिर् (वाणी) स्त्रीलिङ्ग रकारान्त शब्द है। गिर्—सु (२५) से सुलोप। गिर्। उपधा-दीर्घ होने के पश्चात् रेफ को विसर्ग होकर गीः।

१२१—सुप् (सप्तमी बहु०) परे रहते 'रु' के र् को ही विसर्ग होता है 'र्' मात्र को नहीं। गिर् सु। गीर्सु। गीर्षु। यहाँ 'रु' सम्बन्धी 'र्' नहीं, किन्तु धातु के ऋ को इर् (रपर इ) होकर निष्पन्न हुआ है। अतः (१२१)

---

११९. अपो भि (७।४।४८)।

१२०. र्वोरुपधाया दीर्घ इकः (८।२।७६)।

१२१. रोः सुपि (८।३।१६)।

नियम से विसर्ग नहीं हुआ। र् इण् प्रत्याहारान्तर्गत है, अतः इण् से परे प्रत्यय के स् को ष् हुआ है।

गिर् (वाणी) स्त्री०

प्र०	गीः	गिरौ	गिरः
सं० प्र०	गीः	,,	,,
द्वि०	गिरम्	,,	,,
तृ०	गिरा	गीर्भ्याम्	गीर्भिः
च०	गिरे	,,	गीर्भ्यः
पं०	गिरः	,,	,,
ष०	,,	गिरोः	गिराम्
स०	गिरि	,,	गीर्षु

पुर् (नगरी) स्त्री०

प्र०	पूः	पुरौ	पुरः
सं० प्र०	पूः	,,	,,
द्वि०	पुरम्	,,	,,
तृ०	पुरा	पूर्भ्याम्	पूर्भिः
च०	पुरे	,,	पूर्भ्यः
पं०	पुरः	,,	,,
ष०	,,	पुरोः	पुराम्
स०	पुरि	,,	पूर्षु

द्वार् (स्त्री०), द्वार

प्र०	द्वाः	द्वारौ	द्वारः
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	द्वारम्	,,	,,
तृ०	द्वारा	द्वार्भ्याम्	द्वार्भिः
च०	द्वारे	,,	द्वार्भ्यः
पं०	द्वारः	,,	,,
ष०	,,	द्वारोः	द्वाराम्
स०	द्वारि	,,	द्वार्षु

रोः सुपि (१२१) इस नियम से 'द्वार्षु' में र् को विसर्जनीय नहीं हुआ। यह र् 'रु' नहीं।

वार् (नपुं०) जल

प्र०	वाः	वारी	वारि
सं० प्र०	"	"	"
द्वि०	"	"	"
तृ०	वारा	वार्भ्याम्	वार्भिः
च०	वारे	"	वार्भ्यः
पं०	वारः	"	"
ष०	"	वारोः	वाराम्
स०	वारि	"	वार्षु

'वार्' को कहीं भी नुम् की प्राप्ति का प्रसङ्ग नहीं। 'शी' परे रहते इगन्त न होने से नुम् की प्राप्ति नहीं। 'शि' में झलन्त न होने से नुम् की प्राप्ति नहीं। 'वार्धि' (समुद्र) शब्द में 'वार्' का प्रयोग स्पष्ट है।

१२२—'दिव्' इस अङ्ग को 'सु' (प्र० ए०) परे रहते 'औ' अन्तादेश होता है।

अव्युत्पन्न प्रातिपदिक दिव् का ग्रहण है, सानुबन्धक दिवु क्रीडादौ इस धातु का नहीं।

१२३—पदान्त दिव् के 'व्' को उत् (ह्रस्व उ) आदेश होता है। सुदिव् को भी उत् (उ) होगा। अलोऽन्त्यस्य से अन्त्य अल् 'व्' को होगा। व्यपदेशिवद्भाव से केवल दिव् के 'व्' को भी।

शोभना द्यौर्यस्मिन्दिवसे स सुद्यौः (जिस दिन में आकाश सुन्दर निर्मल है)।

सुदिव् पुं०

प्र०	सुद्यौः	सुदिवौ	सुदिवः
सं० प्र०	"	"	"
द्वि०	सुदिवम्	"	"
तृ०	सुदिवा	सुद्युभ्याम्	सुद्युभिः
च०	सुदिवे	"	सुद्युभ्यः
पं०	सुदिवः	सुद्युभ्याम्	सुद्युभ्यः
ष०	"	सुदिवोः	सुदिवाम्
स०	सुदिवि	"	सुद्युषु

---

१२२. दिव औत् (७।१।८४)।
१२३. दिव उत् (६।१।१३१)।

दिव् (स्त्री०, आकाश) के भी ठीक इसी प्रकार रूप होते हैं—

द्यौः । दिवौ । दिवः । दिवा । द्युभ्याम् । द्युभिः । दिवः । दिवोः । दिवाम् । दिवि । दिवोः । द्युषु ।

विशतीति विट् । द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ—अमर । विश् यह शकारान्त क्विबन्त प्रातिपदिक है । लोक में वैश्य का पर्यायवाची है, वेद में मनुष्य का । वहाँ प्रायः बहुवचन में प्रयोग देखा जाता है । विशः प्रजाः । व्रश्च भ्रस्ज—(८।२।३६) सूत्र से पदान्त 'श्' को 'ष्' हो जाता है और इस ष् को जश्त्व विधि से ड् होकर विराम में चर्त्व (ट्) हो जाता है—विड्—ट् ।

विश् पुं०

प्र०	विट्—ड्	विशौ	विशः
सं० प्र०	" "	"	"
द्वि०	विशम्	"	"
तृ०	विशा	विड्भ्याम्	विड्भिः
च०	विशे	"	विड्भ्यः
पं०	विशः	"	"
ष०	"	विशोः	विशाम्
स०	विशि	"	विट्सु—विट्त्सु

ईदृश्, तादृश्, एतादृश आदि क्विन्प्रत्ययान्त हैं । त्यदादि उपपद होने पर दृश् से क्विन् विधान किया है । व्रश्चादि सूत्र की दृष्टि में—क्विन्प्रत्ययस्य कुः के असिद्ध होने से श् को षत्व होकर जश्त्व से ड् होने पर (८२) से कुत्व अन्तादेश होता है । अथवा दिगादिभ्यो यत्(४।३।५४) इस निर्देश को सामान्यापेक्ष ज्ञापक मान कर कुत्व की असिद्धता नहीं होती—

ईदृश् (ऐसा) पुं०, स्त्री०

प्र०	ईदृक्—ग्	ईदृशौ	ईदृशः
सं० प्र०	" "	"	"
द्वि०	ईदृशम्	"	"
तृ०	ईदृशा	ईदृग्भ्याम्	ईदृग्भिः
च०	ईदृशे	"	ईदृग्भ्यः
पं०	ईदृशः	"	"

ष०	ईदृशः	ईदृशोः	ईदृशाम्
स०	ईदृशि	,,	ईदृक्षु

दृश् (दृष्टि) स्त्री०। क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८२) सूत्र का अर्थ है जिससे क्विन् प्रत्यय देखा गया है, वह 'क्विन्प्रत्यय' है। उसे कुत्व होता है पदान्त विषय में। दृश् से त्यदादि के उपपद होने पर क्विन् प्रत्यय देखा गया है, यद्यपि अकेले दृश् से क्विन् का विधान नहीं हुआ है। अतः यहाँ भी पदान्त विषय में कुत्व होगा—

दृश् दृष्टि (स्त्री०)

प्र०	दृक्—ग्	दृशौ	दृशः
सं० प्र०	,, ,,	,,	,,
द्वि०	दृशम्	,,	,,
तृ०	दृशा	दृग्भ्याम्	दृग्भिः
च०	दृशे	,,	दृग्भ्यः
पं०	दृशः	,,	,,
ष०	,,	दृशोः	दृशाम्
स०	दृशि	,,	दृक्षु

दिश् शब्द भी क्विन्प्रत्ययान्त निपातन किया है। दिशन्ति तामिति दिक्। इसे भी (८२) से कुत्व होगा—दिगादिभ्यो यत् (४।३।५४) इस निर्देश से यह ज्ञापित होता है कि यहाँ व्रश्चादि सूत्र की दृष्टि से 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' असिद्ध नहीं होता। अतः कुत्व होता है।

दिश् (दिशा) स्त्री

प्र०	दिक्—ग्	दिशौ	दिशः
सं० प्र०	,, ,,	,,	,,
द्वि०	दिशम्	,,	,,
तृ०	दिशा	दिग्भ्याम्	दिग्भिः
च०	दिशे	,,	दिग्भ्यः
पं०	दिशः	,,	,,
ष०	,,	दिशोः	दिशाम्
स०	दिशि	,,	दिक्षु

नश् के श् को विकल्प से कवर्गादेश होता है पदान्त विषय में। नक्—ग्। नट्—ड् (पक्ष में व्रश्चादि सूत्र से ष्, ष् को जश्त्व-विधि से ड्)। नग्भ्याम्। नड्भ्याम्। नक्षु। नट्सु—नट्त्सु।

'घृतस्पृश्' यह क्विन्प्रत्ययान्त है। घृतं घृतेन वा स्पृशतीति। घृतस्पृक्—ग्। घृतस्पृशौ। घृतस्पृशः। अकेले स्पृश् को भी (जो क्विप्-प्रत्ययान्त है) अवस्थान्तर में क्विन्प्रत्यय के देखे जाने से 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से कुत्व होगा—स्पृक्—ग्। स्पृशौ। स्पृशः। स्पृग्भ्याम्। स्पृक्षु।

धान्यं पुष्णातीति धान्यपुट्। क्विप्।

धान्यपुष् (पुँ०, स्त्री०)

प्र०	धान्यपुट्—ड्	धान्यपुषौ	धान्यपुषः
सं० प्र०	,, ,,	,,	,,
द्वि०	धान्यपुषम्	,,	,,
तृ०	धान्यपुषा	धान्यपुड्भ्याम्	धान्यपुड्भिः
च०	धान्यपुषा	,,	धान्यपुड्भ्यः
पं०	धान्यपुषः	,,	,,
ष०	,,	धान्यपुषोः	धान्यपुषाम्
स०	धान्यपुषि	,,	धान्यपुट्सु—धान्यपुट्त्सु

सह जुषत इति सजूः (वयस्य)। जुष् से क्विप्। सजुष्—सु। ससजुषो रुः (८।२।६६) से जुष् के ष् को रु। (१२०) से उपधा इक् को दीर्घ। सजूर् स्। हल्ङ्यादि लोप। रु (र्) को विसर्जनीय। सजूः। सजुष्—भ्याम्। सजुर् भ्याम्। सजूर्भ्याम् (१२०) से उपधा-इक् को दीर्घ। सजुष्—सुप्। सजुर् सु। सजुः सु। सजूः सु (उपधा-दीर्घ)। नुम (नुम्स्थानिक अनुस्वार), विसर्जनीय, शर् के व्यवधान होने पर भी इण् (तथा कवर्ग) से परे प्रत्यय के स् को ष्—सजूःषु। 'वा शरि' से विसर्जनीय के स्थान में विकल्प से विसर्जनीय आदेश। पक्ष में विसर्ग को स् होकर ष्टुत्व विधि से ष्—सजूष्षु।

सजुष् (पुँ०, स्त्री०)

प्र०	सजूः	सजुषौ	सजुषः
सं० प्र०	सजूः		
द्वि०	सजुषम्	,,	,,
		,,	,,

तृ०	सजुषा	सजूर्भ्याम्	सजूर्भिः
च०	सजुषे	,,	सजूर्भ्यः
पं०	सजुषः	,,	,,
ष०	,,	सजुषोः	सजुषाम्
स०	सजुषि	,,	सजूःषु—सजूष्षु

पिपठिषतीति पिपठीः। पिपठिष से क्विप्। अतो लोपः (६।४।४) से आर्धधातुक प्रत्यय (क्विप्) परे रहते 'अ' का लोप—पिपठिष्। यहाँ सन् के स् को इण् से परे होने से ष् हुआ है। रुत्व विधायक शास्त्र स-सजुषो रुः (८।२।६६) की दृष्टि में षत्वविधायक शास्त्र आदेश-प्रत्यययोः (८।३।५६) असिद्ध है, अतः 'स्' को रुत्व होकर (१२०) से उपधा इक् को दीर्घ। सु-लोप। रु (र्) को विसर्ग—पिपठीः।

पिपठिष् (पुं०, स्त्री०)

प्र०	पिपठीः	पिपठिषौ	पिपठिषः
द्वि०	पिपठिषम्	,,	,,
तृ०	पिपठिषा	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्भिः
ष०	पिपठिषः	पिपठिषोः	पिपठिषाम्

दाम्यत्यनेनेति दोः। दमु उपशमे से औणादिक डोल् प्रत्यय करके 'दोष्' (बाहु) व्युत्पन्न होता है। इसका 'ष्' 'आदेशप्रत्यययोः (८।३।५६) से निष्पन्न हुआ है। यह ससजुषो रुः (८।२।६६) की दृष्टि में असिद्ध है। अतः 'स्' होने से 'रु' हो जाता है, जिसे पदान्त में विसर्जनीय हो जाता है—दोः। दोषौ। दोषः। दोष्—शस्। दोषः। पक्ष में 'दोषन्' आदेश होकर, (५४) से अल्लोप तथा णत्व के लिए षत्व के सिद्ध होने से णत्व होकर दोष्णः। दोष्-भ्याम्। यहाँ दोष् की पद-संज्ञा होने से रुत्व। दोर्भ्याम्। पक्ष में 'दोषन्' आदेश होकर दोषभ्याम् (न-लोप)। दोष् इ। दोषन् इ। (५५) से विभाषा अल्लोप—दोष्णि। दोषणि। दोष्—सुप्। दोः षु। दोष्षु।

दोष् पुं० (बाहु)

प्र०	दोः	दोषौ	दोषः
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	दोषम्	,,	दोषः-दोष्णः

तृ०	दोषा-दोष्णा	दोर्भ्याम्-दोषभ्याम्	दोर्भिः-दोषभिः
च०	दोषे-दोष्णे	„ „	दोर्भ्यः-दोषभ्यः
पं०	दोषः-दोष्णः	„ „	„ „
ष०	„ „	दोषोः-दोष्णोः	दोषाम्-दोष्णाम्
स०	दोषि-दोष्णि-दोषणि	„ „	दोःषु-दोष्षु-दोषसु

आशिष् (स्त्री०)

प्र०	आशीः	आशिषौ	आशिषः
सं० प्र०	„	„	„
द्वि०	आशिषम्	„	„
तृ०	आशिषा	आशीर्भ्याम्	आशीर्भिः
च०	आशिषे	„	आशीर्भ्यः
पं०	आशिषः	„	„
ष०	„	आशिषोः	आशिषाम्
स०	आशिषि	„	आशीःषु-आशीष्षु

प्रक्रिया—आङ्पूर्वक शास् (इच्छार्थक अदा० आ०) से क्विप् प्रत्यय करके 'आशासः क्वावुपसंख्यानम्' इस वार्तिक से शास् के 'आ' को 'इ' आदेश किया जाता है। 'आशिस्' ऐसा रूप परिणत होता है। इसका 'स्' न आदेश-रूप है और न प्रत्यय का है। अतः षत्व की प्राप्ति न थी। इसलिए शासिवसिघसीनां च (८।३।६०) से विशेष विधान कर दिया है। आशिष्। रुत्व के प्रति षत्व के असिद्ध होने से 'स्' को रु (र्)। (१२०) से इक्-रूप उपधा को दीर्घ। र् को विसर्जनीय। आशीः। आशिषौ। आशिषः। आशिस्भ्याम्। आशिर् भ्याम्। आशीर्भ्याम् (१२०)। आशिस् सुप्। आशिर्-सु। आशीर् सु। (१२०)। आशीः षु। विसर्ग का व्यवधान होने पर भी नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि (८।३।५८) से प्रत्यय के 'स्' को ष्। वा शरि (८।३।३६) से विसर्ग को वैकल्पिक सत्व होने पर षकार के योग में ष्टुत्व-विधि से ष्—आशीष्षु।

धनुष् नपुं०

प्र०	धनुः	धनुषी	धनूंषि
सं० प्र०	„	„	„
द्वि०	„	„	„

तृ०	धनुषा	धनुर्भ्याम्	धनुर्भिः
च०	धनुषे	,,	धनुर्भ्यः
पं०	धनुषः	,,	,,
ष०	,,	धनुषोः	धनुषाम्
स०	धनुषि	,,	धनुःषु-धनुष्षु

यहाँ कुछ भी विशेष वक्तव्य नहीं। धनुष् इ (शि)। (२२) से नुम्। सान्तमहतः संयोगस्य (६।४।१०) की दृष्टि में शासिवसिघसीनां च (८।३।६०) असिद्ध है। अतः 'स्' ही पड़ा है। धनु न् ष् इ। यहाँ सान्त संयोग है उसके न् की उपधा को दीर्घ होता है। नुम् के 'न्' को अनुस्वार। धनूंषि।

इसी प्रकार चक्षुष्, हविष्, सर्पिष् (विलीनमाज्यम्, पिघला हुआ घी), रोचिष्, शोचिष् (ज्योति), अर्चिष् (स्त्री० भी) के रूप जानें।

प्रक्रिया—पिपठिषतीति पिपठीः (विप्रकुलम्)। क्विप्। अतो लोपः (६।४।४) से आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते 'पिपठिष' के अन्त्य 'अ' का लोप। पिपठिष्। प्र० ए०—पिपठीः। द्विवचन—पिपठिषी। 'पिपठिष्—शि। इस अवस्था में अल्लोप के स्थानिवद्भाव (अचः परस्मिन्पूर्वविधौ) होने से झलन्त से परे 'शि' नहीं है, तो झलन्तलक्षण (झलन्तत्व-निमित्तक) नुम् नहीं होता है। रहा अजन्तलक्षण नुम्, वह भी नहीं होता, कारण कि स्वविधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता। अजन्तलक्षण नुम् आगम 'अ' को कर्तव्य है, अतः यह स्वविधि है। पिपठिषि ऐसा नुम्रहित रूप होगा।

पिपठिष् (नपुं०)

प्र०	पिपठीः	पिपठिषी	पिपठिषि
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	पिपठिषा	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्भिः
च०	पिपठिषे	,,	पिपठीर्भ्यः
पं०	पिपठिषः	,,	,,
ष०	,,	पिपठिषोः	पिपठिषाम्
स०	पिपठिषि	,,	पिपठीःषु-पिपठीष्षु

सुष्ठु पेसतीति सुपीः। सुपिसौ। सुपिसः। 'पिस्' धातु का 'स्' होने के कारण 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व की प्राप्ति नहीं है।

वेधस् (ब्रह्मा, प्रजापति)

प्र०	वेधाः	वेधसौ	वेधसः
सं० प्र०	वेधः	,,	,,
द्वि०	वेधसम्	,,	,,
तृ०	वेधसा	वेधोभ्याम्	वेधोभिः
च०	वेधसे	,,	वेधोभ्यः
पं०	वेधसः	,,	,,
ष०	,,	वेधसोः	वेधसाम्
स०	वेधसि	,,	वेधःसु-वेधस्सु

वेधस्—सु। यहाँ (६४) से धातु भिन्न असन्त (धात्ववयव-भिन्न जो अस्, तदन्त) होने से वेधस् की उपधा को दीर्घ। हल्ङ्याप्—से सु-लोप। रुत्व। विसर्ग। वेधाः।

इसी प्रकार चन्द्रमस्, दुर्वासस्, प्रमनस्, विमनस्, उन्मनस्, नभस् (श्रावण मास) आदि के रूप जानें। प्रमनस्, विमनस्, उन्मनस् के पुँल्लिङ्ग व स्त्रीलिङ्ग में एकसमान रूप होंगे—अयं प्रमनाः। इयं प्रमनाः (=प्रसन्न)। अयं विमनाः। इयं विमनाः(दुःखित मनवाली)। अयमुन्मनाः (उत्सुक)। इयमुन्मनाः।

धृष्णोतीति दधृक्। ञि धृषा प्रागल्भ्ये से क्विन्प्रत्ययान्त निपातन किया है। कुत्व के असिद्ध होने से झलां जशोऽन्ते (८।४।५३) से ष् को 'ड्' ततः कुत्व से ग्। तब अवसान में वैकल्पिक चर्त्व (ट्)—दधृक्—ग्।

दधृष् (धृष्णु, प्रगल्भ)

प्र०	दधृक्—ग्	दधृषौ	दधृषः
सं० प्र०	,, ,,	,,	,,
द्वि०	दधृषम्	,,	,,
तृ०	दधृषा	दधृग्भ्याम्	दधृग्भिः
च०	दधृषे	,,	दधृग्भ्यः
पं०	दधृषः	,,	,,
ष०	,,	दधृषोः	दधृषाम्
स०	दधृषि	,,	दधृक्षु

दधृष्—सुप्। यहाँ कुत्व के असिद्ध होने से जश्त्व से ड्, इस ड् को कुत्व से ग्, ग् को खरि च (८।४।५५) से क्। क् (कवर्ग) से परे प्रत्यय के स् को ष्। क् ष् के संयोग से क्ष्।

मनस् (नपुं०)

प्र०	मनः	मनसी	मनांसि
सं० प्र०	"	"	"
द्वि०	"	"	"

शेष वेधस् (पुं०) की तरह। मनस्—शि। (२२) से नुम्। (६३) से सान्त संयोग के नकार की उपधा को दीर्घ।

इसी प्रकार निम्नलिखित सान्त नपुंसक लिंग शब्दों के रूप जानें—

नभस् (आकाश), पयस् (दूध, जल), तपस्, तेजस्, रजस् (धूलि), शिरस्, सरस्, यशस्, आगस् (अपराध), एनस् (पाप), अम्भस् (जल), अर्णस् (जल), यादस् (जलजन्तु), रेतस् (वीर्य), वयस् (बाल्यादि शरीरावस्था, पक्षी) रक्षस् (राक्षस), वासस् (वस्त्र), वचस् (वचन), वर्चस् (तेज), छन्दस् (वेद, वृत्त), श्रवस् (कर्ण), स्रोतस् (सोत, चश्मा), अयस् (लोहा), महस् (तेज), सदस्।

प्रक्रिया—वेत्तीति विद्वान् विदन् वा। विद् से परे शतृ प्रत्यय के स्थान में वसु (वस्) आदेश विकल्प से विधान किया है। 'विद्वस्' में वसु प्रत्यय उगित् है। तो विद्वस् उगिदन्त हुआ। उगिदन्त होने से सर्वनामस्थान परे रहते (८३) से नुम् होगा। वि द्व न् स् सु। विद्वन् स् (सुलोप)। विद्वन् संयोगान्तलोप)। प्रत्ययलक्षण से सर्वनामस्थान 'सु' परे मानकर (२३) से नान्त अंग की उपधा को दीर्घ—विद्वान् (जानता हुआ)। संयोगान्त लोप के असिद्ध होने से (४५) से न्-लोप नहीं हुआ। वि द्व न् स् औ। (६३) से सान्त संयोग के नकार की उपधा को दीर्घ। विद्वान् स् औ। अपदान्त न् को झल् परे रहते अनुस्वार—विद्वांसौ। विद्वांसः। विद्वांसम्। विद्वांसौ।

१२३ (क)—भ-संज्ञक वसुप्रत्ययान्त को सम्प्रसारण होता है। सम्प्रसारण (व् को उ) होकर पूर्वरूप—विदु स् अस्। विदुषः। प्रत्यय का 'स्' होने से इण् (उ) से परे होने के कारण 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व। सूत्र में 'वसु' से क्वसु का भी ग्रहण होता है।

१२३ (ख)—सान्त वस्वन्त, स्रंस्, ध्वंस् तथा अनडुह् को पदान्त विषय में 'द्' होता है। अलोऽन्त्यस्य। अन्त्य को दकार होगा। विद्वस्-भ्याम्।

---

१२३ (क). वसोः सम्प्रसारणम् (६।४।१३१)।

१२३ (ख). वसु-स्रंसु-ध्वंस्वनडुहां दः (८।२।७२)।

विद्वद्भ्याम् । विद्वस्-सुप् । विद्वत्सु । पदान्त 'स्' को द् होगा, उसे खरि च से चर्त्व (त्) होकर इष्ट रूप सिद्ध हो जाएगा । सूत्र में 'वसु' से 'क्वसु' का भी ग्रहण होता है ।

विद्वस्

प्र०	विद्वान्	विद्वांसौ	विद्वांसः
स० प्र०	विद्वन्	"	"
द्वि०	विद्वांसम्	"	विदुषः
तृ०	विदुषा	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भिः
च०	विदुषे	"	विद्वद्भ्यः
पं०	विदुषः	"	"
ष०	"	विदुषोः	विदुषाम्
स०	विदुषि	"	विद्वत्सु

इसी प्रकार ईयिवस्, उपेयिवस्, सेदिवस्, जग्मिवस्, जगन्वस्, तस्थिवस्, अनाश्वस्, शुश्रुवस् आदि क्वसु-प्रत्ययान्त कृदन्त प्रातिपदिकों के रूप होते हैं— ईयिवान् । ईयिवांसम् । ईयुषः । ईयिवद्भ्याम् । उपेयिवान् । उपेयिवांसम् । उपेयुषः । उपेयिवद्भ्याम् । सेदिवान् । सेदिवांसम् । सेदुषः । सेदिवद्भ्याम् । जग्मिवान् । जग्मिवांसम् । जग्मुषः । जग्मिवद्भ्याम् । जगन्वान् । जगन्वांसम् । मान्त धातु के 'म्' को नकारादेश हो जाता है म्, व् परे होने पर । म्वोश्च (८।२।६५)। शस् परे रहते 'वस्' को सम्प्रसारण होने से परे 'व्' नहीं रहता, अतः 'म्' को 'न्' नहीं होता—जग्मुषः । जगन्वद्भ्याम् । तस्थिवान् । तस्थिवांसम् । तस्थुषः । तस्थिवद्भ्याम् । अनाश्वान् । अनाश्वांसम् । अनाशुषः । अनाश्वद्भ्याम् । शुश्रुवांसम् । शुश्रुवुषः (उवङ्) । शुश्रुवद्भ्याम् ।

यहाँ इतना और जानना चाहिए कि सेदुषः आदि में इट् की निवृत्ति कैसे होती है । सद् क्वसु शस् । सद् सद् वस् अस् । सेद् वस् अस् । एत्वाभ्यास-लोप । अब वस्वेकाजाद्घसाम् (७।२।६७) से इट् प्राप्त होता है और वसोः सम्प्रसारणम् (६।४।१३१) से वस् को सम्प्रसारण भी । इट् अन्तरंग है और सम्प्रसारण बाह्यनिमित्तापेक्ष होने से बहिरंग । तो भी यह देखकर कि भावी सम्प्रसारण से इट् का निमित्त वलादित्व नष्ट हो जायगा, पाणिनीय लोग पहले से ही इट् नहीं करते । इस अर्थ को कहने वाली यह परिभाषा पढ़ते हैं—अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः । अकृतो व्यूहो यैस्तेऽकृतव्यूहाः । विशिष्ट ऊहः

=विनाशोन्मुखनिमित्तकं कार्यम्। कृतमपि शास्त्रं निवर्तयन्ति ऐसी अन्य परिभाषा भी है, अर्थात् किए हुए इट् आदि अन्तरंग कार्य को हटा देते हैं जब यह देखते हैं कि उसका निमित्त नष्ट हो रहा है। ईयिवस् के विषय में इतना विशेष ज्ञातव्य है कि उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च (३।२।१०९) से वलादिलक्षण इट् का प्रतिप्रसव (प्रतिषिद्ध का अभ्यनुज्ञान) किया है, इट् का अपूर्व विधान नहीं किया, अतः सम्प्रसारण विषय में इट् नहीं होता।

स्रस्

प्र०	स्रत्—द्	स्रसौ	स्रसः
सं० प्र०	"	"	"
द्वि०	स्रसम्	"	"
तृ०	स्रसा	स्रद्भ्याम्	स्रद्भिः
च०	स्रसे	"	स्रद्भ्यः
पं०	स्रसः	"	"
ष०	"	स्रसोः	स्रसाम्
स०	स्रसि	"	स्रत्सु

यहाँ (१२३ ख) से पदान्त विषय में अन्त्य स् को 'द्' हुआ है। स्रंसु ध्वंसु—ये उगित् पढ़ी हैं। सर्वनामस्थान परे होने पर इन्हें नुम् नहीं होता, कारण कि उगिदचां—(८३) सूत्र में अञ्चु धातु का ग्रहण नियमार्थ माना जाता है। धातु को यदि उगित्--कार्य हो तो अञ्च् को ही हो, अन्य धातु को नहीं। ध्वस् के भी ठीक स्रस् की तरह रूप होते हैं।

श्रेयस्, ज्यायस्, कनीयस्, आदि ईयसुन्प्रत्ययान्त हैं, अतः उगिदन्त हैं। इन्हें (८३) से सर्वनामस्थान परे रहते नुम् होगा और (९३) से सान्त संयोग के न् की उपधा को दीर्घ। श्रेयस्—भ्याम्। पदान्त स् को (रु)। रु को हश् परे होने से 'उ'। गुणसन्धि। श्रेयोभ्याम्।

श्रेयस् (पुं०)

प्र०	श्रेयान्	श्रेयांसौ	श्रेयांसः
सं० प्र०	श्रेयन्	"	श्रेयांसः
द्वि०	श्रेयांसम्	"	श्रेयसः
तृ०	श्रेयसा	श्रेयोभ्याम्	श्रेयोभिः

च०	श्रेयसे	श्रेयोभ्याम्	श्रेयोभ्यः
पं०	श्रेयसः	,,	,,
ष०	,,	श्रेयसोः	श्रेयसाम्
स०	श्रेयसि	,,	श्रेयःसु—श्रेयस्सु

स्त्रीलिङ्ग में उगित् होने से ङीप् होकर श्रेयसी, कनीयसी आदि रूप होते हैं। इनके 'नदी' की तरह रूप होते हैं।

नपुंसक लिङ्ग में सुट् (सु—औट्) की सर्वनामस्थान संज्ञा नहीं है, अतः 'सु' आदि परे नुम् की प्राप्ति नहीं, नुम् के अभाव में उपधादीर्घ की सुतरां प्राप्ति नहीं। 'सु' वा 'अम्' का लुक् हो जाने पर स् को रुत्व-विसर्ग—श्रेयः (कुलम्)। श्रेयसी (कुले)। 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा है, अतः यहाँ नुम् तथा उपधा-दीर्घ होंगे—श्रेयांसि।

प्र०	श्रेयः	श्रेयसी	श्रेयांसि
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	,,	,,	,,

शेष पुंल्लिङ्ग की तरह।

१२४—पुम्स् को असुङ् आदेश होता है सर्वनामस्थान की विवक्षा होने पर। पाते र्डुम्सुन् इस उणादि सूत्र से पा धातु से डुम्सुन् प्रत्यय करके पुम्स् शब्द निष्पन्न होता है। अतः औणादिक प्रत्यय के कारण पुम्स् उगिदन्त है। सूत्र में असुङ् में 'उ' उच्चारणार्थ है। ङित् होने से अनेकाल् असुङ् (अस्) अन्त्य (स्) के स्थान में होता है। ङिच्च। पुम्स्-सु। पुमस् स्। पुम न् स् स्। (८३)। पुम न् स् (२५)। पुमान् स्। (६३)। पुमान्। पुमांसौ। पुमांसः। पुम्स्—शस्। पुंसः। अपदान्त 'म्' को अनुस्वार। सर्वनाम-स्थान न होने से असुङ् अन्तादेश नहीं हुआ। पुम्स्—भ्याम् ।यहाँ 'पुम्स्' की पदसंज्ञा होने से संयोगान्तलोप होकर पुम् भ्याम् इस अवस्था में 'म्' को अनुस्वार होकर पुंभ्याम्—यह रूप होगा। पदान्त विषय में अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण करके पक्ष में पुम्भ्याम्—यह भी। पुम्स्-सुप्। पुंस् सु। पुंसु।। संयोगान्त लोप (स् का लोप)। नुम्स्थानिक अनुस्वार के व्यवधान में षत्व होता है, पर यहाँ मकारस्थानिक अनुस्वार है, अतः षत्व की प्राप्ति नहीं।

---

१२४. पुंसोऽसुङ् (७।१।८९)।

पुम्स् (पुरुष)

प्र०	पुमान्	पुमांसौ	पुमांसः
सं० प्र०	पुमन्	पुमांसौ	पुमांसः
द्वि०	पुमांसम्	,,	पुंसः
तृ०	पुंसा	पुंभ्याम्-पुम्भ्याम्	पुंभिः-पुम्भिः
च०	पुंसे	,, ,,	पुंभ्यः-पुम्भ्यः
पं०	पुंसः	,, ,,	,, ,,
ष०	,,	पुंसोः	पुंसाम्
स०	पुंसि	,,	पुंसु

१२५—उशनस् को सम्बुद्धि 'सु' परे रहते भी पक्ष में अनङ् आदेश वार्तिककार चाहते हैं। (६७) से सम्बुद्धि 'सु' में अनङ् की प्राप्ति नहीं थी। (१०२) से जो 'न्'-लोप का निषेध किया है वह भी पाक्षिक होता है, नित्य नहीं। इस प्रकार सम्बुद्धि में तीन रूप होते हैं—उशनन् (अनङ् आदेश करके)। उशनः (अनङ् आदेश किए बिना)। उशन (अनङ् आदेश करके पाक्षिक न्-लोप करके)। इस व्यवस्था को श्लोक-वार्तिक में इस प्रकार रखा गया है—

संबोधन उशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्।
माध्यन्दिनिर्वष्टि, गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः।।

माध्यन्दिनिः कात्यायनः। मध्यन्दिनस्यापत्यं पुमान् माध्यन्दिनिः। इस श्लोक के चतुर्थ चरण में आचार्य वैयाघ्रपद्य का मत दिया है, जो इगन्त नपुंसकलिंगशब्दों को सम्बुद्धि में गुण चाहते हैं।

प्रक्रिया—(६७) से सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे अनङ् होकर 'सु' लोप हो जाने पर (२३) से उपधा-दीर्घ होकर उशनान् इस अवस्था में (४५) से न्-लोप हो जाता है और 'उशना' यह व्यवहार्य-रूप निष्पन्न हो जाता है। उशनस् भ्याम्। रुत्व। उत्व। गुण एकादेश। उशनोभ्याम्।

उशनस् (शुक्राचार्य)

प्र०	उशना	उशनसौ	उशनसः
सं० प्र०	उशन, उशनः, उशनन्	,,	,,

---

१२५. उशनसः सम्बुद्धौ वाऽनङ् नलोपश्च वा वाच्यः (वा०)।

द्वि०	उशनसम्	उशनसौ	उशनसः
तृ०	उशनसा	उशनोभ्याम्	उशनोभिः
च०	उशनसे	"	उशनोभ्यः
पं०	उशनसः	"	"
ष०	"	उशनसोः	उशनसाम्
स०	उशनसि	"	उशनःसु-उशनस्सु

अनेहस् यह समयवाची असुन् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक है।

नञ्याहन एह च—औणादिक सूत्र से व्युत्पन्न होता है। नाहन्ति नागच्छति (न प्रत्यावर्तते) अनेहा (६७) सम्बुद्धि भिन्न 'सु' परे अनङ्। अनेहसौ। अनेहसः। अनेहोभ्याम्।

अनेहस् पुं०

प्र०	अनेहा	अनेहसौ	अनेहसः
सं० प्र०	अनेहः	"	"
द्वि०	अनेहसम्	"	"
तृ०	अनेहसा	अनेहोभ्याम्	अनेहोभिः
च०	अनेहसे	"	अनेहोभ्यः
पं०	अनेहसः	"	"
ष०	"	अनेहसोः	अनेहसाम्
स०	अनेहसि	"	अनेहःसु-अनेहस्सु

१२६—ह् को ढ आदेश होता है झल् परे रहते तथा पदान्त विषय में। लिह आस्वादने, क्विप्—लेढीति लिट्। मधु लेढीति मधुलिट्। मधुलिड्।

मधुलिह् (भ्रमर)

प्र०	मधुलिट्-ड्	मधुलिहौ	मधुलिहः
सं० प्र०	" "	"	"
द्वि०	मधुलिहम्	"	"
तृ०	मधुलिहा	मधुलिड्भ्याम्	मधुलिड्भिः
च०	मधुलिहे	"	मधुलिड्भ्यः
पं०	मधुलिहः	"	"

---

१२६. हो ढः (८।२।३१)।

ष०	मधुलिहः	मधुलिहोः	मधुलिहाम्
स०	मधुलिहि	"	मधुलिट्सु—मधुलिट्त्सु

प्रक्रिया—मधुलिह्—सुप्। मधुलिढ्—सु। चर्त्व के असिद्ध होने से, उससे पहले जश्त्व से ढ् को ड्। तब डः सि धुट् (८।३।२९) से धुट् (ध्)। चर्त्व से ड् को ट् और ध् को त्। पदान्त टवर्ग से परे तवर्ग को टवर्ग नहीं होता—न पदान्ताट्टोरनाम् (८।४।४२)। अतः धुट् के 'त्' को ट् नहीं हुआ।

१२७—उपदेशावस्था में दकारादि धातु के ह् को घ् आदेश होता है झल् परे रहते तथा पदान्त विषय में। उपदेश में दकारादि कहने से अधोक् (दुह्—लङ् तिप्) में ह् को घ् हो गया।

गां दोग्धीति गोधुक् (गवाला)।

१२८—धात्ववयव जो एकाच् झषन्त उसके अवयव-भूत बश् को भष् हो जाता है सकार अथवा 'ध्व' शब्द परे होने पर अथवा पदान्त विषय में। गोदुह् सु। गोदुघ् (सु लोप, ह् को घ)। अब यहाँ धातु का अवयव एकाच् झषन्त नहीं, किन्तर्हि समस्त धातु ही एकाच् झषन्त है। तो सूत्र की प्रवृत्ति कैसे हुई? व्यपदेशिवद्भावेन। व्यपदेश=विशिष्ट अपदेश, मुख्य व्यवहार (नाम)। व्यपदेशोऽस्त्यस्येति व्यपदेशी, मुख्यव्यवहारवान्, तेन तुल्यम् व्यपदेशिवत्। मुख्य रूप से धातु का अवयव न होने पर भी धातु का अवयव मानकर कार्य होता है। गोधुघ् (१२८)। जश्त्व से गोधुग्। अवसान में वैकल्पिक चर्त्व से गोधुक्।

गोदुह् (गवाला)

प्र०	गोधुक्-ग्	गोदुहौ	गोदुहः
सं० प्र०	" "	"	"
द्वि०	गोदुहम्	"	"
तृ०	गोदुहा	गोधुग्भ्याम्	गोधुग्भिः
च०	गोदुहे	"	गोधुग्भ्यः
पं०	गोदुहः	"	"
ष०	"	गोदुहोः	गोदुहाम्
स०	गोदुहि	"	गोधुक्षु

---

१२७. दादेर्धातोर्घः ८।२।३२)।

१२८. एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (८।२।३७)।

१२९—द्रुह्, मुह्, स्नुह्, स्निह् के ह् को 'घ्' आदेश विकल्प से होता है, पक्ष में (१२६) से ढ् होगा।

द्रुह् के ह् को घ् अथवा ढ् हो जाने से बश् द् को भष् ध् हो जाता है—

प्र०	मित्रध्रुक्-ग् मित्रध्रुट्-ड्	मित्रद्रुहौ	मित्रद्रुहः
सं० प्र०	मित्रध्रुक्-ग् मित्रध्रुट्-ड्	"	"
द्वि०	मित्रद्रुहम्	मित्रद्रुहौ	मित्रद्रुहः
तृ०	मित्रद्रुहा	मित्रध्रुग्भ्याम् मित्रध्रुड्भ्याम्	मित्रध्रुग्भिः मित्रध्रुड्भिः
च०	मित्रद्रुहे	मित्रध्रुग्भ्याम् मित्रध्रुड्भ्याम्	मित्रध्रुग्भ्यः मित्रध्रुड्भ्यः
पं०	मित्रद्रुहः	"	"
ष०	"	मित्रद्रुहोः	मित्रद्रुहाम्
स०	मित्रद्रुहि	"	मित्रध्रुक्षु मित्रध्रुट्सु मित्रध्रुट्त्सु

१३०—साड्-रूपापन्न सह् धातु के स् को मूर्धन्य (ष्) हो जाता है। तुरं सहते शीघ्रमभिभवति इति तुराषाट् (इन्द्रः)। ण्विः प्रत्ययः। ण्वि छन्दस् (वेद) में ही होता है (छन्दसि सहः), लोक में नहीं, लोक में तो णिजन्त साहि से विच् प्रत्यय समझना चाहिए। (१२६) से पदान्त विषय में ह् को ढ् होगा।

तुरासाह् (इन्द्र)

प्र०	तुराषाट्-ड्	तुरासाहौ	तुरासाहः
सं० प्र०	तुराषाट्-ड्	"	"
द्वि०	तुरासाहम्	"	"
तृ०	तुरासाहा	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भिः
च०	तुरासाहे	"	तुराषाड्भ्यः
पं०	तुरासाहः	"	"

१२९. वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् (८।२।३३)।
१३०. सहेः साडः सः (८।३।५६)।

ष०	तुरासाहः	तुरासाहोः	तुरासाहाम्
स०	तुरासाहि	,,	तुराषाड्सु तुराषाट्त्सु

अनः शकटं वहतीति अनड्वान् (बोझा ढोने वाला बैल, छकड़े को खींचने वाला बैल)। अनस् उपपद होने पर वह् से क्विप्। अनस् के स् को ड्। यजादि होने से वह् को सम्प्रसारण। अनस् (नपुं०) का वेद में बहुल प्रयोग है।

१३१—चतुर् तथा अनडुह् को सर्वनामस्थान परे आम् (आगम) होता है और वह उदात्त होता है। आगम प्रायः अनुदात्त होते हैं, अतः यह विशेष विधान कर दिया है। मित् होने से आम् चतुर् वा अनडुह् के अन्त्य अच् से परे होगा।

१३२—अनडुह् को नुम् हो 'सु' परे। शङ्का—आम् सामान्यविहित है, सर्वनामस्थानमात्र परे होने पर विहित किया है। नुम् सर्वनामस्थानविशेष 'सु' परे रहते विहित किया है। विशेषविहित होने से 'नुम्' को 'आम्' का बाधक होना चाहिए। उत्तर—ठीक है, पर आच्छीनद्योर्नुम्(७।१।८०)से आत् की अनुवृत्ति आ रही है। जिससे अन्त्य अवर्ण से परे नुम् होगा। आम् अन्त्य अच् (उ) से परे होगा और आम् के 'आ' को नुम्। इस तरह विषय-भेद होने से नुम् आम् का बाधक नहीं होता। नुम्विधान के सामर्थ्य से (नुम् विधि अनर्थक न हो जाए इसलिए) (१२३ ख) से नुम् (न्) को द् नहीं होता। नुम्-विधान की सार्थकता यही है कि नुम् अपने अविकृत रूप में रहे।

१३३—सम्बुद्धि 'सु' परे रहते अनडुह् (तथा चतुर्) के अन्त्य अच् से परे अम् होता है। यह 'आम्' का अपवाद है।

प्रक्रिया—अनडुह् सु। अनडु आम् ह् सु। अनडु आ ह् सु। अनड्वा नुम् ह् सु। अनड्वान् ह्। अनड्वान्। संयोगान्तलोप (ह् का लोप) के असिद्ध होने से (४५) से न्-लोप नहीं हुआ। अनड्वाहौ। अनड्वाहः। अनडुह्—सु (सम्बुद्धि)। अनडु अम् ह् सु। अनड्व नुम् ह्। अनड्वन् ह् (सुलोप)। अनड्वन् (संयोगान्त लोप)। अनडुह्-भ्याम्। अनडुद्भ्याम् (१२३ ख) से ह् को द्।

---

१३१. चतुरनडुहोरामुदात्तः (७।१।९८)।

१३२. सावनडुहः (७।१।८२)।

१३३. अम्सम्बुद्धौ (७।१।९९)।

अनडुह् (पुं०)

प्र०	अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनड्वाहः
सं० प्र०	अनड्वन्	,,	,,
द्वि०	अनड्वाहम्	,,	अनडुहः
तृ०	अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भिः
च०	अनडुहे	,,	अनडुद्भ्यः
पं०	अनडुहः	,,	,,
ष०	,,	अनडुहोः	अनडुहाम्
स०	अनडुहि	,,	अनडुत्सु

शोभना अनड्वाहोत्र कुले स्वनडुत् कुलम् । स्वनडुही कुले । स्वनड्वांहि कुलानि । शि परे रहते परत्वात् पहले आम् हो जाता है । (१३१), तब पुनः प्रसङ्ग होने से अजन्तलक्षण नुम् भी हो जाता है ।

१३४—भ-संज्ञक वाह् को ऊठ् (ऊ) होता है जिसकी सम्प्रसारण संज्ञा होती है ।

विश्वं वहतीति विश्ववाट् । वहश्च (३।२।६४) से ण्वि प्रत्यय । छन्दसि सहः (३।२।६३) से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आ रही है अतः छन्दस् (वेद) में ही ण्वि होगा । लोक में ण्यन्त वाहि से विच् प्रत्यय हो जायगा ।

प्रक्रिया—विश्ववाह्—सु । विश्ववाट्—ड् । हो ढः । जश्त्व । चर्त्व । विश्ववाह—शस् । असर्वनामस्थान अजादि विभक्ति शस् (अस्) परे रहते पूर्व की "भ" संज्ञा होने से वाह् के व् को ऊठ् (ऊ) सम्प्रसारण । एकादेश । विश्व ऊ अस् । एजादि इण्, एध् तथा ऊठ् परे रहते पूर्व अवर्ण तथा एध् आदि के ए तथा ऊ (ठ्) के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है—विश्वौहः । इसी प्रकार शस् से परे की सभी अजादि विभक्तियों में जानें—विश्वौहा । विश्वौहे । विश्वौहाम् । विश्ववाह् भ्याम्—विश्ववाड्भ्याम् । यहाँ पदान्त विषय में हलादि विभक्ति परे रहते ह् को ढ्, उसे जश्त्व से ड् ।

विश्ववाह् पुं० (विधाता)

प्र०	विश्ववाट्—ड्	विश्ववाहौ	विश्ववाहः
सं० प्र०	,, ,,	,,	,,
द्वि०	विश्ववाहम्	,,	विश्वौहः

---

१३४. वाह ऊठ् (६।४।१३२) ।

तृ०	विश्वौहा	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भिः
च०	विश्वौहे	,,	विश्ववाड्भ्यः
पं०	विश्वौहः	,,	,,
ष०	,,	विश्वौहोः	विश्वौहाम्
स०	विश्वौहि	,,	विश्ववाट्सु } विश्ववाट्त्सु }

१३५—नह् धातु के ह् को 'ध्' होता है झल् परे रहते तथा पदान्त विषय में। यह (१२६) का अपवाद है।

उपपूर्वक् नह् से सम्पद् आदि होने से क्विप्। (सम्पदादिभ्यो भावे क्विप्)। नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ (६।३।११६) से पूर्वपद को दीर्घ। उप समीपे नह्यते बध्यत इत्युपानत्। उप नह्-सु। उप नह्। सुलोप। उप न ध् (१३५)। उपनद्-त्। जश्त्व। चर्त्व। उपानत् (पूर्वपद को दीर्घ।

उपानह् (स्त्री०) जूता

प्र०	उपानत्—द्	उपानहौ	उपानहः
सं० प्र०	,, ,,	,,	,,
द्वि०	उपानहम्	,,	,,
तृ०	उपानहा	उपानद्भ्याम्	उपानद्भिः
च०	उपानहे	,,	उपानद्भ्यः
पं०	उपानहः	,,	,,
ष०	,,	उपानहोः	उपानहाम्
स०	उपानहि	,,	उपानत्सु

उपानह् का द्विवचन में प्रयोग होता है। दाएँ पाओं के जूते को पूर्वा उपानत् कहते हैं और बाएँ पाओं के जूते को अपरा उपानत्।

उत्पूर्व स्निह् से क्विन् प्रत्यय करके ऋत्विग्दधृक्—(३।२।५९) सूत्र से उष्णिह् निपातन किया है। उष्णिह् छन्दोविशेष का नाम है। यह स्वभाव से स्त्रीलिङ्ग है। क्विन्प्रत्ययान्त होने से पदान्त विषय में ह् को कुत्व (घ्) होकर जश्त्व (ग्) तथा खर् परे रहते चर् (क्) होता है।

---

१३५. नहो धः (८।२।३४)।

उष्णिह् (स्त्री०)

प्र०	उष्णिक्—ग्	उष्णिहौ	उष्णिहः
सं० प्र०	,, ,,	,,	,,
द्वि०	उष्णिहम्	,,	,,
तृ०	उष्णिहा	उष्णिग्भ्याम्	उष्णिग्भिः
च०	उष्णिहे	,,	उष्णिग्भ्यः
पं०	उष्णिहः	,,	,,
ष०	,,	उष्णिहोः	उष्णिहाम्
स०	उष्णिहि	,,	उष्णिक्षु

इति हलन्त-सुबन्त-शब्दा गताः ।

अथ तृतीयो वर्गः—सर्वनामशब्दाः ।

कुछ ऐसे शब्द हैं जो किसी एक के नाम न होकर सामान्येन सब के नाम हैं, जैसे सर्व (सब, हर एक), तद् (वह), इदम्, एतद्, (यह), युष्मद् (तू, तुम), अस्मद् (मैं, हम), यद् (जो), किम् (कौन), भवत् (आप) । इन्हें 'सर्वनाम' कहते हैं । यह अन्वर्थ संज्ञा है—**सर्वेषां नामानीति सर्वनामानि** । सूत्रकार इन्हें एक गण में पढ़ते हैं, उसे **सर्वादिगण** कहते हैं और शास्त्रव्यवहार के लिये इन सर्वादिगणस्थ शब्दों की 'सर्वनाम' संज्ञा करते हैं—**सर्वादीनि सर्वनामानि** (१।१।२७)। 'सर्वनाम' संज्ञा है और संज्ञा में पूर्वपदस्थ निमित्त (जो गकार से व्यवहित न हो) के कारण उत्तरपदस्थ 'न्' को णत्व प्राप्त था (पूर्वपदात्संज्ञायामगः ८।४।३) । निपातन से नहीं हुआ । सर्वादिगण में ये सर्वनाम पढ़े हैं—

सर्व । विश्व । उभ । उभय । डतर । डतम । इतर । अन्य । अन्यतर । त्व । त्वत् । नेम । सम । सिम । पूर्व । पर । अवर । दक्षिण । उत्तर । अपर । अधर । स्व । अन्तर । त्यद् । तद् । यद् । एतद् । इदम् । अदस् । एक । द्वि । युष्मद् । अस्मद् । भवत् । किम् ।

सर्वाद्यन्त प्रातिपदिकों की भी सर्वनाम संज्ञा होती है—**परमसर्वे** (परमाश्च ते सर्वे च) ।

'सर्व' जब सब का नाम न होकर किसी एक का नाम होगा, **सर्वो नाम कश्चित्** तब इसकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी—**सर्वाय देहि** । 'विश्व' समस्तवाची होता हुआ ही लोक, भुवन को कहता है, अतः सर्वनाम ही रहता है, इसके साथ पदान्तर विश्व शब्द प्रयुक्त नहीं होता, कारण कि जगद्वाची 'विश्व' नाम है ही नहीं—**अस्मिन्विश्वस्मिन्**, इस जगत् में । 'उभ' शब्द नित्य द्विवचनान्त प्रयुक्त होता है । इसे सर्वादिगण में क्यों पढ़ा गया ? अकच् के लिये । उभकौ । उभय शब्द का एकवचन तथा बहुवचन में ही प्रयोग होता है, द्विवचन में नहीं—**उभयस्मिन्पक्षे** । **उभये प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च** । डतर, डतम प्रत्यय हैं । इनसे प्रत्ययान्तों का ग्रहण होता है—**कतर** । **कतम** । **यतर** । **यतम** । **ततर** । **ततम** । **अन्य** (कोई दूसरा) । **अन्यतर** (दो में

से कोई एक) । यह अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है, डतरप्रत्ययान्त नहीं। अन्यतम (बहुतों में से कोई एक)की सर्वनाम संज्ञा नहीं—अन्यतमाय च्छात्राय देहि। त्व। त्वत् दोनों अनुदात्त हैं। 'त्व' उदात्त भी है। त्व, त्वत्=अन्य, एक। नेम=अर्ध, आधा। सम=सर्व। तुल्य अर्थ में सर्वनाम नहीं—यथा-संख्यमनुदेशः समानाम् (१।३।१०) सिम=सब। पूर्वादि अधर पर्यन्त शब्द असंज्ञा होते हुए व्यवस्था को कहते हुए ही सर्वनाम-संज्ञक होते हैं, अन्यथा नहीं। व्यवस्था क्या पदार्थ है? स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था। पूर्वो ग्रामः उत्तरो ग्रामः, इत्यादि में पूर्वादि शब्द का अभिधेय 'ग्राम' है। यह अवश्यम्भाव रूप से किसी की आकाङ्क्षा रखता है, किसी ग्रामान्तर से यह पूर्व दिशा में होगा, किसी दूसरे से उत्तर में होगा। मुख्य, प्रथम अर्थ में पूर्व आदि सर्वनाम नहीं होंगे। व्यवस्था के लक्षण में अवधि दोनों प्रकार की ली जाती है—दिक्कृत व काल-कृत। उत्तराः कुरवः। यह संज्ञा है, देश-विशेष का नाम है, अतः जस् को 'शी' नहीं हुआ। 'स्व' के चार अर्थ हैं—ज्ञाति(बन्धु), धन, आत्मा, आत्मीय। पिछले दो अर्थों में यह सर्वनाम है। अमर इसे—

अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये।
छिद्रात्मीयविनाबहिरवसरमध्येऽन्तरात्मनि च॥

अवकाश (स्थान, आकाश), अवधि (सीमा), परिधान (शाटकादि), अन्तर्धि (ओट, छिपाना), भेद, तादर्थ्य (उसके लिए होना), छिद्र (छेद), आत्मीय (अपना), बिना, बहिस्, (बाहिर), अवसर, मध्य, अन्तरात्मन्—इन अर्थों में पढ़ता है। त्यद् (वह), तद् (वह), यद् (जो), एतद् (यह), अदस् (वह, सामने दूर,) एक, द्वि (दो), युष्मद्, अस्मद्, भवत् (आप), किम् (क्या, कौन)। 'एक' का एकवचन तथा बहुवचन में ही प्रयोग होता है। 'द्वि' का द्विवचन में ही।

१३६—अदन्त सर्वनाम अङ्ग से परे जस् के स्थान में शी आदेश होता है। सूत्र में जो दीर्घोच्चारण किया है वह उत्तरार्थ है, नपुंसकाच्च (७।१।१९) सूत्र में अनुवृत्ति द्वारा मधुनी, जतुनी आदि रूपों की सिद्धि के लिये है। अनेकाल् होने से शी सारे जस् के स्थान में होगा। शित्व होने से नहीं। जब तक आदेश नहीं होता, तब तक स्थानिवद्भाव से प्रत्ययत्व नहीं आता, और प्रत्य-

---

१३६. जसः शी (७।१।१७)।

यत्व के बिना लशक्वतद्धिते (१।३।८) से प्रत्यय के आदिभूत श् की इत्संज्ञा नहीं होती। अतः जब तक अनुबन्ध नहीं बनता तब तक नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती और 'शी' अनेकाल् रहता है।

१३७—अदन्त सर्वनाम से परे ङे को 'स्मै' आदेश होता है।

१३८—अदन्त सर्वनाम से ङसि और ङि के स्थान में क्रम से स्मात्, स्मिन् आदेश होते हैं।

१३९—अवर्णान्त सर्वनाम से परे षष्ठी विभक्ति 'आम्' को सुट् (स्) आगम होता है। टित् होने से यह आगम आम् का आदि अवयव बनता है। **आद्यन्तौ टकितौ।**

प्रक्रिया—सर्व—जस्। सर्व—शी। सर्व—ई। सर्वे। गुण एकादेश ए।

सर्व—शस्। सर्वास्। (१) से पूर्व सवर्ण दीर्घ। सर्वान्। पदान्त न् को णत्व का निषेध। सर्व-टा। सर्व इन। सर्वेण। गुण एकादेश ए, तथा अट् (व् ए) का व्यवधान होने पर भी रेफ-निमित्तक णत्व। न् के पदान्त न होने से णत्व का निषेध नहीं। सर्व-ङे। सर्वस्मै। सर्व ङसि।—सर्वस्मात्। सर्व आम्। सर्व स् आम् (१३)। बहुवचन झलादि विभक्ति परे होने पर अदन्त अङ्ग को एत्व। सर्वेषाम्। प्रत्यय के स् को षत्व इण् से परे होने के कारण। सुट् (आगम) का 'स्' प्रत्यय का आदि 'स्' कैसे है? उत्तर—यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते, आगम आगमी का अङ्ग बन जाते हैं, सुट् सहित आम् (साम्) प्रत्यय ही है। सुट् उसका आदि है। सर्व—ङि। सर्वस्मिन्। शेष कार्य (अदन्त) राम की तरह होता है।

सर्व (पुं०) सब, हर कोई

प्र०	सर्वः	सर्वौ	सर्वे
द्वि०	सर्वम्	,,	सर्वान्
तृ०	सर्वेण	सर्वाभ्याम्	सर्वैः
च०	सर्वस्मै	,,	सर्वेभ्यः
पं०	सर्वस्मात्	,,	,,
ष०	सर्वस्य	सर्वयोः	सर्वेषाम्
स०	सर्वस्मिन्	,,	सर्वेषु

---

१३७. सर्वनाम्नः स्मै (७।१।१४)।
१३८. ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (७।१।१५)।
१३९. आमि सर्वनाम्नः सुट् (७।१।५२)।

सर्वः कान्तमात्मीयं पश्यति। सर्वः स्वार्थं समीहते। सर्वो रिक्तो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय इत्यादि में एकवचनान्त प्रयोग प्रसिद्ध है। द्विवचन में प्रयोग अन्वेष्य है। बहुवचन में बहुत प्रयोग हैं—सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते इत्यादि में।

प्रक्रिया—सर्वा टावन्त स्त्रीलिङ्ग शब्द है। इसके सुबन्त रूपों में दूसरे टाबन्त नामों की अपेक्षा कुछ थोड़ा ही कार्यविशेष होता है। उसे कहते हैं—

१४०—टाबन्त सर्वनाम से परे ङित् विभक्तियों को स्याट् आगम होता है जो टित होने से उनका आदि अवयव वन जाता है, साथ ही टाबन्त अङ्ग को ह्रस्व हो जाता है—सर्वा ङे। सर्वा—ए। सर्वा स्या (ट्) ए। सर्व स्या ए। सर्वस्यै (वृद्धि एकादेश)। सर्वा स्याट् ङसि। सर्वस्या अस्। सर्वस्याः। सर्वा—ङि। सर्वा—आम् (२९)। सर्वस्या आम्। सर्वस्याम्। सर्वा सुट् आम् (षष्ठी वहु०)। सर्वासाम्।

सर्वा स्त्री०

प्र०	सर्वा	सर्वे	सर्वाः
द्वि०	सर्वाम्	,,	,,
तृ०	सर्वया	सर्वाभ्याम्	सर्वाभिः
च०	सर्वस्यै	,,	सर्वाभ्यः
पं०	सर्वस्याः	,,	,,
ष०	,,	सर्वयोः	सर्वासाम्
स०	सर्वस्याम्	,,	सर्वासु

सर्व नपुं०

प्र०	सर्वम्	सर्वे	सर्वाणि
द्वि०	,,	,,	,,

यहाँ अदन्त ज्ञान (नपुं०) की तरह ही रूप चलते हैं, केवल णत्व का निमित्त होने से 'सर्वाणि'—यहाँ णत्व होता है। तृतीयादि विभक्तियों में पुं० सर्व की तरह।

'विश्व' के रूप तीनों लिङ्गों में सर्व के समान होते हैं।

'उभ' का द्विवचनान्त ही प्रयोग होता है—उभौ। उभौ। उभाभ्याम्। उभाभ्याम्। उभाभ्याम्। उभयोः। उभयोः। स्त्रीलिङ्ग में—उभे। उभे।

---

१४०. सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च (७।३।११४)।

टाप् होकर 'औ' के स्थान में शी (ई)। गुण एकादेश। 'उभय' का एकवचन में तथा बहुवचन में ही प्रयोग होता है, द्विवचन में नहीं।

उभयः। उभये। उभयम्। उभयान्। उभयेन। उभयैः। उभयस्मै। उभयेभ्यः। उभयस्मात्। उभयेभ्यः। उभयस्य। उभयेषाम्। उभयस्मिन्। उभयेषु।

स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होकर उभयी रूप होगा। टिड्ढाणञ्—सूत्र में तयप् प्रत्यय का ग्रहण किया है। उभ शब्द से तयप् के स्थान में अयच् आदेश होता है।—उभादुदात्तो नित्यम् (५।२।४४)। 'उभयी' के नदी की तरह रूप होंगे, कारण कि स्याट् आगम आबन्त से होता है (और औङ्=औ, औट्) के स्थान में शी भी आबन्त से ही होता है)। इसका भी द्विवचन में प्रयोग नहीं होता।

उभयी (स्त्री०)

प्र०	उभयी	उभय्यः (बहु०)
द्वि०	उभयीम्	उभयीः
तृ०	उभय्या	उभयीभिः
च०	उभय्यै	उभयीभ्यः
पं०	उभय्याः	"
ष०	"	उभयीनाम्
स०	उभय्याम्	उभयीषु

पुरोभयीनां स्त्रीणां वेदाध्ययनमप्यन्वज्ञायत सद्योवधूनां च ब्रह्मवादिनीनां चेत्येके।

नपुं० में उभयम्। उभयानि (प्र० व द्वि०)। शेष पुं० की तरह।

कतर (डतरप्रत्ययान्त), पुं०

प्र०	कतरः	कतरौ	कतरे
द्वि०	कतरम्	"	कतरान्
तृ०	कतरेण	कतराभ्याम्	कतरैः
च०	कतरस्मै	"	कतरेभ्यः
पं०	कतरस्मात्	"	"
ष०	कतरस्य	कतरयोः	कतरेषाम्
स०	कतरस्मिन्	"	कतरेषु

कतरा (स्त्री०)

प्र०	कतरा	कतरे	कतराः
द्वि०	कतराम्	,,	,,
तृ०	कतरया	कतराभ्याम्	कतराभिः
च०	कतरस्यै	,,	कतराभ्यः
पं०	कतरस्याः	,,	,,
ष०	,,	कतरयोः	कतरासाम्
स०	कतरस्याम्	,,	कतरासु

कतर (नपुं०)

प्र०	कतरत्—द्	कतरे	कतराणि
सं० प्र०	,, ,,	,,	,,
द्वि०	,,	,,	,,

१४१—डतर—डतमप्रत्ययान्त से तथा इतर, अन्य, अन्यतर से परे नपुं० की 'सु' व 'अम्' विभक्तियों को अद्ड् (अद्) आदेश होता है। डित्व-सामर्थ्य से अङ्ग के टि-भाग का लोप हो जाता है।

एकतर शब्द भी डतरप्रत्ययान्त है, इससे भी नपुं० विभक्ति 'सु' व अम् के स्थान में अद्ड् आदेश प्राप्त होता है उसका वार्तिककार वक्ष्यमाण वार्तिक से निषेध करते हैं—

१४२—एकतर शब्द से 'सु' व 'अम्' को अद्ड् नहीं होता—एकतरम्। न हि युगपदुभे पुस्तके अपेक्षसे, एकतरं मे देहि, निरूढकार्यः प्रत्यर्पयिष्ये। एक ही समय दोनों पुस्तकें तुम्हें नहीं चाहियें। एक मुझे दे दो। उपयोग कर लौटा दूंगा। शेष तीनों लिङ्गों में 'कतर' की तरह।

कतम (डतम-प्रत्ययान्त) पुं०

प्र०	कतमः	कतमौ	कतमे
सं० प्र०	कतम	,,	,,
द्वि०	कतमम्	,,	कतमान्

---

१४१. अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः (७।१।२५)।
१४२. एकतरात्प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०)।

तृ०	कतमेन	कतमाभ्याम्	कतमैः
च०	कतमस्मै	,,	कतमेभ्यः
पं०	कतमस्मात्	,,	कतमेभ्यः
ष०	कतमस्य	कतमयोः	कतमेषाम्
स०	कतमस्मिन्	,,	कतमेषु

कतमा स्त्री०

प्र०	कतमा	कतमे	कतमाः
सं० प्र०	कतमे	,,	,,
द्वि०	कतमाम्	,,	,,
तृ०	कतमया	कतमाभ्याम्	कतमाभिः
च०	कतमस्यै	,,	कतमाभ्यः
पं०	कतमस्याः	,,	,,
ष०	,,	कतमयोः	कतमासाम्
स०	कतमस्याम्	,,	कतमासु

कतम (नपुं०)

प्र०	कतमत्	कतमे	कतमानि
सं० प्र०	,,	,,	,,
द्वि०	कतमत्	,,	,,

'एकतम' से भी 'सु' व 'अम्' के स्थान में अद्ड् आदेश होता है—

एकतमत् एकतमे एकतमानि

'कतर' की तरह इतर, अन्यतर के तीनों लिङ्गों में रूप जानें। 'अन्यतम' की सर्वनाम संज्ञा नहीं, गण में पाठ न होने से। इसके पुं० में 'राम' की तरह रूप होंगे, स्त्रीलिङ्ग में टाप् होकर 'रमा' के समान और नपुंसक लिङ्ग में 'ज्ञान' के समान। नपुं० प्रथमा द्वितीया एकवचन में 'अन्यतमम्' ऐसा रूप होगा, अद्ड् आदेश का प्रसङ्ग न होने से, 'अन्यतमत्' कभी नहीं।

त्व, त्वत्—ये दोनों अन्यवाची सर्वनाम छन्दोमात्र-गोचर हैं, लोक में इनका प्रयोग नहीं होता। उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः (ऋ० १०।७१।५)। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे (ऋ०।१०।७१।४)। ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् (ऋ० १०।७२।११)। आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे (ऋ० १०।७१।७)।

नेम अर्धवाची सर्वनाम लोक में बहुलतया प्रयुक्त होता है। गण-पठित होने से सर्वनाम संज्ञा सर्वत्र प्राप्त थी पर वक्ष्यमाण सूत्र से जस् परे विकल्प कर दिया है—

१४३—प्रथम, चरम, तयप्प्रत्ययान्त, अर्ध, कतिपय, नेम—इनकी जस् विभक्ति परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। नेम' की नित्य प्राप्त थी, शेष प्रथमादि की अत्यन्त अप्राप्त थी। सो यह उभयत्र विभाषा है।

नेम (अर्ध) पुं०

प्र०	नेमः	नेमौ	नेमे—नेमाः
सं० प्र०	नेम	,,	,, ,,
द्वि०	नेमम्	,,	नेमान्
तृ०	नेमेन	नेमाभ्याम्	नेमैः
च०	नेमस्मै	,,	नेमेभ्यः
पं०	नेमस्मात्	,,	,,
ष०	नेमस्य	नेमयोः	नेमेषाम्
स०	नेमस्मिन्	,,	नेमेषु

प्रथम—प्रथमे। प्रथमाः। चरमे। चरमाः। चतुष्टये। चतुष्टयाः। अल्पे। अल्पाः। अर्धे। अर्धाः। कतिपये। कतिपयाः।

सम (सब)

प्र०	समः	समौ	समे
द्वि०	समम्	,,	समान्
तृ०	समेन	समाभ्याम्	समैः
च०	समस्मै	,,	समेभ्यः
पं०	समस्मात्	,,	,,
ष०	समस्य	समयोः	समेषाम्
स०	समस्मिन्	,,	समेषु

सिम (सब)

प्र०	सिमः	सिमौ	सिमे
द्वि०	सिमम्	,,	सिमान्

१४३. प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च (१।१।३३)।

तृ०	सिमेन	सिमाभ्याम्	सिमैः
च०	सिमस्मै	,,	सिमेभ्यः
पं०	सिमस्मात्	,,	,,
ष०	सिमस्य	सिमयोः	सिमेषाम्
स०	सिमस्मिन्	,,	सिमेषु

सिम का प्रयोग लोक में विरल है। वेद में मिलता है—यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद् रात्री वासस्तनुते सिमस्मै (ऋ० १।११५।४)।

१४३—पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्, स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्, अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः—ये तीन सूत्र गण में भी पढ़े हैं और अष्टाध्यायी सूत्रपाठ में भी। गण में पूर्वादि की नित्य सर्वनाम संज्ञा के लिये और अष्टाध्यायी में जस् परे वैकल्पिक संज्ञा के लिये।

१४४—पूर्वादि नौ सर्वनामों से पञ्चमी एक० (ङसि) तथा सप्तमी एक० (ङि) को स्मात्, स्मिन् विकल्प से होते हैं।

पूर्व (पुं०)

प्र०	पूर्वः	पूर्वौ	पूर्वे—पूर्वाः
द्वि०	पूर्वम्	,,	पूर्वान्
तृ०	पूर्वेण	पूर्वाभ्याम्	पूर्वैः
च०	पूर्वस्मै	,,	पूर्वेभ्यः
पं०	पूर्वस्मात्—पूर्वात्	,,	,,
ष०	पूर्वस्य	पूर्वयोः	पूर्वेषाम्
स०	पूर्वस्मिन्—पूर्वे	,,	पूर्वेषु

इसी प्रकार पर-प्रभृति अन्तर-पर्यन्त यहाँ पढ़े हुए सर्वनामों के रूप जानें। स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् (योग० १।२६) यहाँ कालकृत अवधि नियम से विवक्षित है, अतः पूर्वशब्द व्यवस्था को कह रहा है। श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः (रघु० ३।२१)। यहाँ 'पर'

---

१४३. पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् (१।१।३४)। स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् (१।१।३५)। अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः (१।१।३६)।

१४४. पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा (।७।१।१६)।

का परदेशस्थ मुख्य अर्थ है, शत्रु तो आर्थिक अर्थ है, उस अर्थ से लभ्य दूसरा अर्थ है। दक्षिणा गाथकाः, कुशला इत्यर्थः। यहाँ भी दूसरे गाथकों की अपेक्षा प्रतीत होती है, अतः सर्वनाम-संज्ञा होकर 'दक्षिणे गाथकाः' होना चाहिये। नहीं। यहाँ अपेक्षा का अवश्यम्भाव(नियम)नहीं, किसी दूसरे की अपेक्षा न करते हुए भी सामान्य रूप से कहा जासकता है कि ये गाथक(गायक)गाने में कुशल हैं। इसी प्रकार **अधरे ताम्बूलरागः**– यहाँ भी किस से अधर इसकी आकाङ्क्षा नहीं होती, अतः अवधि-नियम के न होने से सर्वनामता नहीं। 'स्व' आत्मा, आत्मीय (अपना) अर्थों में ही सर्वनाम है—**पापकृत्स्वस्मादपि बिभेति किमुत परस्मात्,** पापी अपने आप से भी डरता है, दूसरे से तो और अधिक डरता है। **एष स्वस्य** (=आत्मनः) **कर्मणां विपाकः, स्वेषां वा** (=आत्मीयानां वा)। **सा निन्दन्ती स्वानि** (=आत्मीयानि) **भाग्यानि बाला** (शाकुन्तल)। **सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः** (मनु० १।८)। (१४४) से सर्वनाम संज्ञा होने पर भी विकल्प से स्मात् का विधान किया है, यहाँ तदभाव में रूप है। धन अर्थ में 'स्व' की सर्वनाम संज्ञा नहीं—**प्रभूताः स्वा न दीयन्ते। प्रभूताः स्वा न भुज्यन्ते।** धनवाची 'स्व' पुंनपुंसक है। ज्ञाति (बन्धु) अर्थ में भी 'स्व' की सर्वनाम संज्ञा नहीं है—**निःस्वोपि स्वानां प्रियो भवति प्रियंवदो जनः।** दरिद्र जन भी यदि प्रियवक्ता हो तो अपने बन्धुओं का प्यारा होता है। 'अन्तर' बाह्य तथा उपसंव्यान (परिधानीय) अर्थों में सर्वनाम है—**अन्तरे अन्तरा वा चण्डालगृहाः** (प्राकाराद् बाह्याः)। जस् परे विभाषा सर्वनाम संज्ञा होने से पक्ष में 'अन्तराः' यह रूप भी होता है। **अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः।** शरीर के उत्तरार्ध में जो चादर आदि ओढ़ी जाती है उसे संव्यान, उत्तरीय आदि कहते हैं। अधोंशुक, निचले भाग में पहनने योग्य शाटक आदि को अन्तरीय, परिधान, उपसंव्यान नामों से कहते हैं। पुर् (स्त्री० नगरी) अभिधेय हो तो 'अन्तर' सर्वनाम नहीं होता—**अन्तरायां पुरि** (बाह्यायां नगर्याम्)।

१४५—त्यद् आदि सर्वनाम शब्दों के अन्त्य के स्थान में 'अ' आदेश होता है विभक्ति परे होने पर। गण में पढ़े 'द्वि' तक के प्रातिपदिकों को ही यह कार्य होता है। युष्मद् अस्मद् के विषय में शेषे लोपः (७।२।९०) यह लोपविधान इसमें ज्ञापक है।

· त्यदादीनामः। (७।२।१०२)।

१४६—त्यदादि सर्वनाम शब्दों के अनन्त्य (जो अन्त में न हों) तकार, दकार को 'स्' हो जाता 'सु' परे होने पर। यह कार्य भी द्वि-पर्यन्तों को ही होता है।

प्रक्रिया—त्यद् (वह) प्रायः वेद में प्रयुक्त मिलता है—उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति (ऋ० ४।४०।४)। लोक में इसका विरल प्रयोग है। त्यद्-सु। त्य अ-सु (१४५)। त्य-सु (पररूप एकादेश)। स्य-सु (१४६)। स्यः। रुत्व विसर्ग। त्यद्—औ। त्य अ—औ। (२) से पूर्व-सवर्ण-दीर्घ का निषेध होकर 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश होकर 'त्यौ'—यह व्यवहार्य रूप सिद्ध हुआ। त्यद्—शस्। त्य अ—अस्। त्य अस्। पररूप एकादेश। त्यास्। पूर्वसवर्ण दीर्घ। त्यान्। (७) से शस् के 'स्' को 'न्'। त्यद्—भ्याम्। त्य अ भ्याम्। त्य भ्याम्। त्याभ्याम् (१०)। त्यद् आम्। त्य आम्। त्य सुट् आम्। त्ये साम् (१३)। त्येषाम्। प्रत्यय के स् को ष्।

त्यद् पुं०

प्र०	स्यः	त्यौ	त्ये
द्वि०	त्यम्	,,	त्यान्
तृ०	त्येन	त्याभ्याम्	त्यैः
च०	त्यस्मै	,,	त्येभ्यः
पं०	त्यस्मात्	,,	,,
ष०	त्यस्य	त्ययोः	त्येषाम्
स०	त्यस्मिन्	,,	त्येषु

त्यद् की तरह ही तद् के रूप होते हैं—

प्र०	सः	तौ	ते
द्वि०	तम्	,,	तान्
तृ०	तेन	ताभ्याम्	तैः
च०	तस्मै	,,	तेभ्यः
पं०	तस्मात्	,,	,,
ष०	तस्य	तयोः	तेषाम्
स०	तस्मिन्	,,	तेषु

पूर्व कह आये हैं कि त्यदाद्यन्त की भी सर्वनाम संज्ञा होती है, अतः परम-तद् के परमसः, परमतौ, परमते इत्यादि रूप होंगे। नञ्समास में यह संज्ञा

---

१४६. तदोः सः सावनन्त्ययोः (७।२।१०६)।

बनी रहती है—असः। अतौ। अते इत्यादि। असः शिवः, यं लोकः शिवं मन्यते, शिव वह नहीं जिसे लोग शिव समझते हैं। पर त्यद् आदि के गुणी-भूत होने पर सर्वनाम संज्ञा नहीं रहती। त्यमतिक्रान्तः अतित्यद्। यहाँ न अत्व हुआ और न सत्व। अतित्यदौ। अतित्यदः।

तद् (स्त्री०)

तद् सु। (१४५) से अ और (४) से पररूप। त—सु। अब स्त्रीत्व विवक्षा में टाप्। ता—सु। सा (१४६)। शेष सभी रूप 'सर्वा' की तरह होंगे—

प्र०	सा	ते	ताः
द्वि०	ताम्	"	"
तृ०	तया	ताभ्याम्	ताभिः
च०	तस्यै	"	ताभ्यः
पं०	तस्याः	"	"
ष०	"	तयोः	तासाम्
स०	तस्याम्	"	तासु

नपुंसक लिङ्ग में (४९) से सु और अम् का लुक् हो जाने से विभक्ति परे न रहने से तद् को न तो 'अ' होता है और न इसके अनन्त्य त्, द् को 'स्' होता है। जस् के स्थान में 'शि' होकर अत्व होने पर (२२) से अजन्त होने से नुम् (न्) आगम होता है और (२३) से नान्त की उपधा को दीर्घ होता है—तद् शि। त इ। त न् इ। तानि।

तद् (नपुं०)

प्र०	तद्	ते	तानि
द्वि०	"	"	"

शेष पुंल्लिङ्ग की तरह।

यद् के तीनों लिङ्गों में 'तद्' की तरह रूप होंगे—

पुं०	प्र०	यः	यौ	ये
	द्वि०	यम्	"	यान्
स्त्री०	प्र०	या	ये	याः
	द्वि०	याम्	"	"
नपुं०	प्र० द्वि०	यद्	ये	यानि

एतद् (यह) के रूपों में तद् के रूपों से कुछ भी भेद नहीं, केवल आदेश-भूत स् को इण् (ए) से परे होने के कारण ष् हो जाता है—एषः । एतौ । एते । यहाँ (१४६) से द् को 'स्' आदेश हुआ है, उस 'स्' को इण् (ए) से परे होने के कारण 'ष्' हो गया है ।

एतद् पुं०

प्र०	एषः	एतौ	एते
द्वि०	एतम्	,,	एतान्
तृ०	एतेन	एताभ्याम्	एतैः
च०	एतस्मै	,,	एतेभ्यः

इत्यादि ।

जब किसी के विषय में कुछ कहने के लिये शब्द का उच्चारण किया जाता है उसे प्रथमादेश कहते हैं । जब कुछ और कहने के लिये पुनः उसी शब्द का उच्चारण किया जाता है उसे अन्वादेश कहते हैं । एकस्यैवाभिधेयस्य पूर्वं शब्देन प्रतिपादितस्य द्वितीयं प्रतिपादनमन्वादेशः, न तु पश्चादुच्चारणमात्रम् (काशिका)। किं चित्कार्यं विधातुम् । (=अपूर्वं बोधयितुम्) उपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः (दीक्षित) ।

१४७—अन्वादेश विषय में इदम् और एतद् शब्दों को 'एन' आदेश होता है द्वितीया, टा, तथा ओस् परे रहते ।

एतद् (अन्वादेश विषयक) पुं०

प्र०	एषः	एतौ	एते
द्वि	एनम्	एनौ	एनान्
तृ०	एनेन	एताभ्याम्	एतैः
च०	एतस्मै	,,	एतेभ्यः
पं	एतस्मात्	,,	,,
ष०	एतस्य	एनयोः	एतेषाम्
स०	एतस्मिन्	,,	एतेषु

एतं छात्रं छन्दोऽध्यापय (प्रथमादेश) । अथो एनं व्याकरणमध्यापय (अन्वादेश) । एतेन च्छात्रेण रात्रिरधीता (प्रथमादेश) । अथो एनेनाहरप्यधीतम् (अन्वादेश) । इस छात्र ने रात भर पढ़ा, और इसने दिन भर भी पढ़ा ।

---

१४७. द्वितीया-टौस्स्वेनः (२।४।३४) ।

एतयोश्छात्रयोः शोभनं शीलम् (प्रथमादेश) । अथो एनयोः प्रभूतं स्वम् (अन्वादेश) । इन दो छात्रों का सुन्दर स्वभाव है और इन का धन बहुत है । एष दण्डो हरैतेन—यहाँ 'टा' परे रहते 'एन' आदेश क्यों नहीं हुआ ? जहाँ कुछ विधान करके वाक्यान्तर से कुछ और विधान किया जाता है वह अन्वादेश होता है । यहाँ तो पूर्ववाक्यद्वारा वस्तुनिर्देशमात्र किया है, विधान कुछ भी नहीं, अतः वाक्यान्तर 'हरैतेन' अन्वादेश नहीं ।

एतद् (अन्वादेशे) स्त्री०

प्र०	एषा	एते	एताः
द्वि०	एनाम्	एने	एनाः
तृ०	एतया	एताभ्याम्	एताभिः
च०	एतस्यै	"	एताभ्यः
पं०	एतस्याः	"	"
ष०	"	एनयोः	एतासाम्
स०	एतस्याम्	"	एतासु

१४८—इदम् तथा एतद् को नपुंसकलिङ्ग एक० में एनद् आदेश हता है अन्वादेश विषय में—

एनद्—त्	एते	एतानि
एनद्—त्	"	"

१४९—इदम् (यह) के म् को म् आदेश होता है 'सु' परे होने पर । यह आदेश-विधान (१४५) से जो 'अ' अन्तादेश विधान किया है, उसके बाधन के लिये है ।

१५०—इदम् के दकार के स्थान में मकार आदेश होता है विभक्ति परे होने पर ।

१५१—पुंल्लिङ्ग इदम् के इद् भाग को 'अय्' आदेश होता है 'सु' परे रहते ।

---

१४८. एनद् इति नपुंसकैकवचने वक्तव्यम् (वा०) ।
१४९. इदमो मः (७।२।१०८) ।
१५०. दश्च (७।२।१०९) ।
१५१. इदोऽय् पुंसि (७।२।१११) ।

१५२—ककार-रहित (जिसे अकच् नहीं हुआ) इदम् के इद् भाग के स्थान में अन् आदेश होता है आप् विभक्ति परे होने पर। आप् यह प्रत्याहार है। टा के 'आ' से लेकर सुप् के प् तक।

१५३—आप् जो हलादि विभक्ति है उसके परे रहते ककार-रहित इदम् के इद् भाग का लोप हो जाता है। 'इद्' सारे का लोप होता है, कारण कि इदम् (सार्थक) का इद् भाग अनर्थक है और अनर्थक में अलोन्त्य विधि होती नहीं—**नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे**—ऐसी परिभाषा है।

१५४—ककार-रहित इदम् व अदस् से परे भिस् को ऐस् नहीं होता।

प्रक्रिया—इदम्-सु। अय् अम् सु (१५१)। विशेष विहित होने से यह (१५०) को बाध लेता है। (२५) से सुलोप। अयम्। इदम्—औ। अकार अन्तादेश, तथा पररूप। इम—औ (१५०)। इमौ (वृद्धि)। इदम्—जस्। इदम्—शी। इद—ई। (१४५)। इम—ई (१५०)। इमे (गुण एकादेश)। इदम्—अम्। इद—अम् (१४५)। इम—अम् (१५०)। इमम् (१ ख)। पूर्वरूप एकादेश। इदम्—टा। इद—टा (१४५)। अन् अ—इन (१५२)। अनेन। इदम्—भ्याम्। इद—भ्याम् (१४५)। अ—भ्याम् (१५३)। आभ्याम्। (१०) से अदन्त अङ्ग को यञादि सुप् परे रहते दीर्घ होता है, पर यहाँ अत् (अ) ही अङ्ग है, अदन्त नहीं, तो दीर्घ कैसे होता है? **आद्यन्तवदेकस्मिन्** (१।१।२१)। आदाविव अन्त इव एकस्मिन्नपि कार्यं स्यात्, अकेले को भी तदादि और तदन्त मानकर कार्य होता है। देवदत्त का एक ही पुत्र है, वही ज्येष्ठ है, वही कनिष्ठ है। देवदत्तस्यैकः पुत्रः स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठः। जब कहा जाय कि देवदत्त के ज्येष्ठ पुत्र को यह पारितोषिक दिया जाय, तो मुख्य रूप से ज्येष्ठ (बहुतों में बड़ा) न होने पर भी उस अकेले को ज्येष्ठ मान कर पारितोषिक दिया जाता है। ऐसे ही अकेले 'अ' को भी अदन्त मान लिया जाता है और उसे दीर्घ होता है। इदम्—भिस्। इद—भिस्। अ-भिस् (१५३)। यहाँ भी 'अ' को अदन्त मान कर (११) से भिस् के स्थान में ऐस् प्राप्त होता है, उसका (१५४) से निषेध कर दिया है। (१३) से झलादि बहुवचन विभक्ति परे रहते 'अ' को ए—एभिः। इदम्—ङे। इदम्—स्मै।

---

१५२. अनाप्यकः (७।२।११२)।

१५३. हलि लोपः (७।२।११३)।

१५४. नेदमदसोरकोः (७।१।११)।

इद—स्मै (१४५) । अस्मै (१५३) । इदम्—ओस् । इद—ओस् (१४५) । अन् अ—ओस् (१५२) । अन् ए ओस् (१४) । अनयोः । 'ए' को अय् । इदम्—आम् । इद—आम् (१४५) इद—सुट् आम् (१३९) । इद—साम् । अ—साम् (१५३) । ए साम् । (१३) । एषाम् । प्रत्यय के स् को ष् ।

इदम् (पुं०)

प्र०	अयम्	इमौ	इमे
द्वि०	इमम्	,,	इमान्
तृ०	अनेन	आभ्याम्	एभिः
च०	अस्मै	,,	एभ्यः
पं०	अस्मात्	,,	,,
ष०	अस्य	अनयोः	एषाम्
स०	अस्मिन्	,,	एषु

'इदम्' सर्वनाम है । सर्वनाम को अकच् (अक) आगम होता है स्वार्थ में और वह टि-भाग से पूर्व होता है, अर्थात् इदम् के इद् से परे होगा ('अम्' टि है) । अकच् होने पर भी इदकम् इदम् ही है, तद्भिन्न नहीं—**तन्मध्य-पतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते** । अतः १४५, १४९, १५०, १५१ की प्रवृत्ति यहाँ भी होगी । हाँ १५२, १५३, १५४ की नहीं होगी, क्योंकि इन की प्रवृत्ति ककार-रहित इदम् के विषय में होती है । अतः ककार-सहित 'इदकम्' के ऐसे रूप होंगे—

इदकम् (पुं०)

प्र०	अयकम्	इमकौ	इमके
द्वि०	इमकम्	,,	इमकान्
तृ०	इमकेन	इमकाभ्याम्	इमकैः
च०	इमकस्मै	,,	इमकेभ्यः
पं०	इमकस्मात्	,,	,,
ष०	इमकस्य	इमकयोः	इमकेषाम्
स०	इमकस्मिन्	,,	इमकेषु

१५५—अन्वादेश विषय में इदम् को अश् (अ) आदेश होता है तृतीयादि विभक्ति परे होने पर । (१५३) से हलादि विभक्ति भ्याम् आदि के परे रहते

१५५. इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ (२।४।३२) ।

त्यदादीनामः (१४५) से अ अन्तादेश होजाने पर और पररूप एकादेश होने पर इद् भाग का लोप कहा है। लोप होने पर 'अ' शेष रहता है, तो अन्वादेश में अश् विधान व्यर्थ है। नहीं। अकच् सहित इदम् को शित् होने से सर्वदेश 'अ' हो इसलिये यह विधान किया है। भाष्यकार तो अन्वादेश में अकच् मानते ही नहीं, उनका कहना है—**विचित्रास्तद्धितवृत्तयः, नान्वादेशेऽकजुत्पद्यते।** यदि ऐसा है तो उत्तर सूत्र में अश् अवश्य कर्तव्य है, स्पष्टता के लिये उसे यहीं पढ़ दिया है, ऐसा समझना चाहिए।

इदम् (अन्वादेशे) पुं०

प्र०	अयम्	इमौ	इमे
द्वि०	एनम् (१४७)	एनौ	एनान्
तृ०	एनेन (१४७)	आभ्याम्	एभिः
च०	अस्मै	"	एभ्यः
पं०	अस्मात्	"	"
ष०	अस्य	एनयोः (१४७)	एषाम्
स०	अस्मिन्	"	एषु

१५६—'इदम्' के 'द्' को 'य्' आदेश होता है स्त्रीलिङ्ग में 'सु' विभक्ति परे होने पर। सूत्र में पुं० वा स्त्री० कुछ नहीं कहा, पर उत्तर सूत्र इदोऽय् पुंसि—में पुँल्लिङ्ग का ग्रहण होने से इस सूत्र (यः सौ) में स्त्रीत्व में विधि विवक्षित है ऐसा अवगत होता है।

प्रक्रिया—इदम् (स्त्री०)—सु। इयम् (१४६, १५६)। इदम्—औ। इद—औ (१४५)। इदा—औ (स्त्रीत्वविवक्षा में टाप्)। इदा—शी (२६)। इमा—ई। (१५०)। इमे (गुण एकादेश)। इदम्—जस्। इद—अस्। स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् होकर इदा—अस्। (१५०) से द् को म् होकर 'इमाः' यह व्यवहार्य रूप सिद्ध हुआ। इदम्—टा। इद—टा। स्त्रीत्वविवक्षा में टाप्—इदा—टा। अन् आ—टा। अने—आ (२७ क)। अनया ('ए' को अय्)। इदम्—ङे। इद—ए। (१४५)। स्त्रीत्वविवक्षा में टाप्—इदा-ए। इद—स्या (ट्)- ए (१४०)। अ—स्या ए (१५३)। अस्यै (वृद्धि एकादेश)। इदम्—आम् (षष्ठी बहु०)। इद—आम् (१४५)। इदा—सुट्—आम्। आसाम्। (१५३)।

---

१५६. यः सौ (७।२।११०)।

इदम् (स्त्री०)

प्र०	इयम्	इमे	इमाः
द्वि०	इमाम्	,,	,,
तृ०	अनया	आभ्याम्	आभिः
च०	अस्यै	,,	आभ्यः
पं०	अस्याः	,,	आभ्यः
ष०	,,	अनयोः	आसाम्
स०	अस्याम्	,,	आसु

इदम् (नपुं०)

प्र०	इदम्	इमे	इमानि
द्वि०	,,	,,	,,

प्रथमा व द्वितीया एकवचन सु, अम् का (४९) से लुक् हो जाने पर परे विभक्ति के न होने से न तो (१४९) की प्रवृत्ति हुई और न (१५०) की। 'इमे' में द् को (१५०) से 'म्' हुआ। इदम्—जस्। इदम्—शि। इद—इ। (१४५)। इम—इ। (१५०)। इम न् इ (२२)। से नुम्। इमानि (२३) से नान्त की उपधा को दीर्घ।

तद् आदि के प्रयोग के विषय में पूर्व विवरणकार ऐसा कहते हैं—

इदमस्तु संनिकृष्टं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात्॥

'इदम्' का प्रयोग समीप के लिये होता है। एतद् का समीपतर के लिये, अदस् का दूरवर्ती के लिये और तद् का परोक्ष वस्तु के लिये।

अदस् (वह सामने दूर) के सर्वनाम होने से सामान्य विभक्ति-कार्य होगा—त्यदादीनामः (१४५) से 'अ' अन्तादेश, तदोः सः सावनन्त्ययोः (१४६) से अनन्त्य द् को स् होगा। कुछ विशेष कार्य होता है उसे कहते हैं—

१५७—अदस् को औकार अन्तादेश होता है 'सु' परे रहते और 'सु' का लोप हो जाता है। यह (१४५) का अपवाद है। अदस्—सु। अदौ। असौ (१४६)।

१५८—असान्त अदस् के दकार से परे के वर्ण को 'उ' आदेश होता है

---

१५७. अदस औ सुलोपश्च (७।२।१०७)।
१५८. अदसोऽसेर्दादु दो मः (८।२।८०)।

और द् को म् । (१४५) से विभक्ति परे रहते 'स्' को अ, पररूप । अद —औ । इस अवस्था में वृद्धि एकादेश होकर अदौ । अव यह अदस् असान्त बन चुका है । इस के द् से परे औ (दीर्घ) है, सो 'औ' के स्थान में दीर्घ ऊ होता है और द् को म् । यहाँ आन्तरतम्य से ह्रस्व व व्यञ्जन के स्थान में ह्रस्व 'उ' और दीर्घ स्वर के स्थान में दीर्घ 'ऊ' आदेश होता है । यह मुत्व पूर्वत्रासिद्धीय है, अतः इसके असिद्ध होने से पहले विभक्ति कार्य होता है, पश्चात् मत्व तथा उत्व ।

अदस्—टा । अद—आ । अमु—ना । अमुना । मुत्व पूर्वत्रासिद्धीय है (८।२।८०) । आङ् (=टा) का 'ना' आदेश विधायक शास्त्र 'आङो नाऽस्त्रियाम्' सप्तम अध्याय का है (७।३।१२०) । इसकी दृष्टि में 'मुत्व' हुआ ही नहीं, तो इस की प्राप्ति ही नहीं । इस पर सूत्रकार कहते हैं—

१५९—'ना' आदेश की कर्तव्यता में मुत्व असिद्ध नहीं होता । सूत्र में 'ने' यह 'ना' की सप्तमी है ।

१६०—अदस् के द् से परे जव 'ए' हो तो उसे ई' हो जाता है और द् को म् ।

अदस्—शी । अद—ई (१४५) । अदे । गुण एकादेश । 'ए' को ई, द् को म् होकर अमी । अदस्—भिस् । अद—भिस् । (११) से भिस् को ऐस् आदेश का निषेध । अदे भिस् (१३) । अमीभिः (१६०) । अदस्—आम् । अद आम् (१४५) । अद-सुट्—आम् । अदे साम् (१३) । अमी—साम् (१६०) । अमीषाम् । प्रत्यय के स् को ष् । अदस्—सु । अद—सु (१४५) । अदे—सु । अमीषु (१६०) ।

अदस् (पुं०)

प्र०	असौ	अमू	अमी
द्वि०	अमुम्	,,	अमून्
तृ०	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः
च०	अमुष्मै	,,	अमीभ्यः
पं०	अमुष्मात्	,,	,,

---

१५९. न मु ने (८।२।३) ।

१६०. एत ईद् बहुवचने (८।२।८१) ।

ष०	अमुष्य	अमुयोः	अमीषाम्
स०	अमुष्मिन्	,,	अमीषु

१६१—अकच्-सहित अदस् (अदकस्) से 'सु' परे होने पर अदस् को औ नहीं भी होता, (१४६) से बने 'स्' से परे के वर्ण को उत्व होता है। प्रतिषेध के साथ ही उत्व का विधान है। प्रतिषेधाभाव में, अर्थात् 'औ' अन्तादेश होने पर उत्व नहीं होगा—असकौ। असुकः।

अदकस् (अकच्सहित अदस्)

प्र०	असकौ / असुकः	अमुकौ	अमुके
द्वि	अमुकम्	,,	अमुकान्
तृ०	अमुकेन	अमुकाभ्याम्	अमुकैः
च०	अमुकस्मै	,,	अमुकेभ्यः
पं०	अमुकस्मात्	,,	,,
ष०	अमुकस्य	अमुकयोः	अमुकेषाम्
स०	अमुकस्मिन्	,,	अमुकेषु

अदस् स्त्री० की सुवन्त-रूप-सिद्धि में कोई विशेष कार्य नहीं होता, तो भी इसकी ऐसी रूपान्तर निष्पत्ति होती है—

प्रक्रिया—अदस्—सु। अदौ (१५७)। असौ (१४६)। अदस्—औ। अद—औ। अदा—शी। स्त्रीत्वविवक्षा में टाप्। आवन्त से औ को शी (ई)। अदे। गुण एकादेश। अमू (१५८)। अदस्—जस्। अद—अस्। अदा—अस्। स्त्रीत्वविवक्षा में टाप्। अदास्। सवर्ण-दीर्घ। अमूः (१५८)। अदस्—अम्। अद—अम्। अदा—अम्। अदाम्। अमि पूर्वः। अमूम्। (१५८) से द् को म्, और द् से परे दीर्घ 'आ' को दीर्घ ऊ। अदस्—शस्। अद—अस्। अदा—अस्। अदास् (पूर्व सवर्ण दीर्घ)। अमूः (१५८)। पूर्वसवर्ण दीर्घ होने पर स्त्रीलिङ्ग होने से शस् के स् को 'न्' नहीं हुआ। अदस्—टा। अद—आ। स्त्रीत्वविवक्षा में टाप्। अदे—आ (२७ क)। अदया (ए को अय्)। अमुया—(१५८)। ह्रस्व 'अ' को ह्रस्व 'उ', द् को म्। अदस्—भिस्। अद—भिस्। अदा—भिस्। अमूभिः। (१५८) से द् को म्। दीर्घ 'आ' के स्थान में दीर्घ ऊ। अदस्—ङे। अदा—ङे। अद् स्याट्—ए। अद—स्यै। अमुष्यै।

---

१६१. औत्वप्रतिषेधः साकच्कस्य वा वक्तव्य सादुत्वं च (वा)।

अदस् (स्त्री०)

प्र०	असौ	अमू	अमूः
द्वि०	अमूम्	,,	,,
तृ०	अमुया	अमूभ्याम्	अमूभिः
च०	अमुष्यै	,,	अमूभ्यः
पं०	अमुष्याः	,,	,,
ष०	,,	अमुयोः	अमूषाम्
स०	अमुष्याम्	,,	अमूषु

अदस् (नपुं०) में (४६) से 'सु' का लुक् होने से (१४५) की प्रवृत्ति नहीं होती। अदस् सान्त ही रहता है। लुक् होने से औ अन्तादेश भी नहीं होता। सान्त रहने से (१५८) की प्रवृत्ति भी नहीं होती। रुत्व, विसर्ग होकर 'अदः' यह परिनिष्ठित रूप सिद्ध होता है। अदस्—औ। अद—शी। अद नुम्—ई। अमु—नुम् (न्) ई। अजन्त होने से (२२) से नुम्। अमुनी। अदस्—जस्। अदस्—शि। अद—इ। अद—नुम्—इ। (२२) से अजन्त को नुम्। अमु न् इ (१५८)। अमूनि। (२३) से नान्त की उपधा को दीर्घ।

अदस् (नपुं०)

प्र०	अदः	अमुनी	अमूनि
द्वि०	,,	,,	,,

शेष पुंल्लिङ्ग की तरह।

एक शब्द गणपठित होने से सर्वनाम है। एक के नानार्थ हैं। 'एक' अकेले को भी कहते हैं—एकाकी त्वेक एककः (अमर)। 'एक' मुख्य, अन्य, केवल का भी नाम है। सभी अर्थों में इसे गणपठित होने से सर्वनाम कार्य होता है। एक, अकेले अर्थ में यह एकवचन में ही प्रयुक्त होता है, 'अन्य' अर्थ में बहुवचन में भी।

एक (पुं०)

एक०　एकः। एकम्। एकेन। एकस्मै। एकस्मात्। एकस्य। एकस्मिन्।
बहु०　एके। एकान्। एकैः। एकेभ्यः। एकेभ्यः। एकेषाम्। एकेषु।

स्त्रीलिंग में टाप् करके 'सर्वा' की तरह एकवचन व बहुवचन में रूप होंगे—एका। एकाम्। एकया। एकस्यै। एकस्याः। एकस्याः। एकस्याम्।

बहु० एकाः । एकाः । एकाभिः । एकाभ्यः । एकाभ्यः । एकासाम् । एकासु ।

नपुं० एकम् एकानि

" "

शेष पुंवत् ।

'द्वि' भी गणपठित होने से सर्वनाम है । द्वित्वविशिष्ट पदार्थ को कहने से यह नित्य द्विवचनान्त ही प्रयुक्त होता है । त्यदादीनामः (१४५) की प्रवृत्ति 'द्वि' तक मानी जाती है, अतः विभक्ति परे रहते 'द्वि' को 'अ' अन्तादेश होगा—

द्वि—औ । द्व—औ । (२) से पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध होने से वृद्धि एकादेश होगा—द्वौ । द्वौ । द्वाभ्याम् । (१४५) से 'अ' अन्तादेश और (१०) से दीर्घ । द्वाभ्याम् । द्वाभ्याम् । द्वयोः । द्वयोः । (१४५) से 'अ' अन्तादेश होकर (१४) से अदन्त अंग को ए । 'ए' को अय् आदेश ।

स्त्रीलिङ्ग में भी (१४५) से 'अ' अन्तादेश होने पर स्त्रीत्वविवक्षा में टाप्—द्वा—शी । द्वा—ई । द्वे । (२) से पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध होजाने से गुण एकादेश । द्वाभ्याम् । द्वाभ्याम् । द्वाभ्याम् । द्वयोः । द्वयोः । द्वा—ओस् । (२७ क) से आबन्त के 'आ' को ए । 'ए' को अय् ।

नपुंसक लिङ्ग में भी स्त्रीलिङ्ग के समान ही रूप होंगे—द्वे । द्वे । इत्यादि ।

युष्मद् और अस्मद् को सुप् विभक्ति परे रहते नाना आदेश कहे हैं । वे सभी आदेश म्-पर्यन्त-भाग को होते हैं । इसके लिए मपर्यन्तस्य (७।२।९१) यह अधिकार सूत्र पढ़ा है । पीछे कह आए हैं कि त्यदादीनामः (१४५) की प्रवृत्ति द्विपर्यन्त गणपठित प्रातिपदिकों के विषय में ही होती है । अतः युष्मद् व अस्मद् के विषय में नहीं होगी ।

१६२—युष्मद् व अस्मद् से परे ङे के स्थान में तथा प्रथमा व द्वितीया के स्थान में 'अम्' आदेश होता है ।

१६३—युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त भाग को क्रम से त्व, अह आदेश होते हैं 'सु' परे रहते ।

---

१६२. ङे-प्रथमयोरम् (७।१।२८) ।

१६३. त्वाहौ सौ (७।२।९४) ।

१६४—शेष विभक्ति (जो वक्ष्यमाण आत्व अथवा यत्व का निमित्त नहीं, ऐसी विभक्ति—यहाँ शेष शब्द से विवक्षित है) परे होने पर युष्मद् और अस्मद् के अन्त्य का लोप होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त्य को कार्य होता है।

प्रक्रिया—युष्मद्—सु। अस्मद्—सु। युष्मद्—अम्(१६२)। अस्मद्—अम् (१६२)। स्थानिवद्भाव से यह 'अम्' 'सु' ही है, अतः (१६३) से म-पर्यन्त भाग को त्व, अह आदेश होकर त्व अद् अम्। अह-अद्-अम्। अह अ अम्(१६४)। त्व अ अम्। त्व अम्। (अतो गुणे पररूप)। अह अम् (अतो गुणे पररूप)। त्वम्। (अमि पूर्वः)। अहम् (अमि पूर्वः)। पूर्वरूप एकादेश। यह पूर्वरूप यद्यपि पर है, पर लिङ्गापेक्ष टाप् अन्तरङ्ग है, कारण कि शब्द से स्वार्थ (जाति), द्रव्य (व्यक्ति), लिङ्ग, संख्या, कारक की क्रम से प्रतीति होती है। संख्या-कारक की अपेक्षा करने वाली विभक्ति पूर्वरूप का निमित्त है। अतः पूर्वरूप बहिरङ्ग है। अतः स्त्रीत्व में पूर्वरूप को बाधकर टाप् होना चाहिए। ऐसा क्यों नहीं होता? उत्तर—अलिङ्गे युष्मदस्मदी—युष्मद् और अस्मद् के प्रयोग में स्त्रीत्वादि की प्रतीति नहीं होती। यदि होती है ऐसा आग्रह है तो सूत्र में शेषे यह स्थानषष्ठी के अर्थ में अधिकरणत्वविवक्षा में सप्तमी समझनी चाहिए। तब मपर्यन्त से आगे जो अवशिष्ट रहा (मपर्यन्ताद्योऽन्यः स शेषः) अर्थात् 'अद्', उसका लोप हो जाता है, ऐसा सूत्रार्थ होगा। त्व अद् अम्। अह अद् अम्। विभक्ति-सापेक्ष होने से लोप बहिरङ्ग है. अतो गुणे अन्तरङ्ग है। अतः पर होने पर भी अन्तरङ्ग 'अतो गुणे पररूप' के हो जाने पर ही होता है। पररूप हो जाने पर त्वद् अम्, अहद् अम् इस अवस्था में 'अद्' का लोप होने से त्व् अम्, अह् अम् इस स्थिति में प्रातिपदिक के अदन्त न होने से टाप् की प्राप्ति ही नहीं रहती।

लोप आङ्ग कार्य है और अतो गुणे पररूप वार्ण (वर्ण-सम्बन्धी) कार्य है। वार्णादाङ्गं बलीयः, ऐसी परिभाषा है, तो लोप पहले होना चाहिये। ऐसा क्यों नहीं होता? उत्तर—जहाँ आङ्ग तथा वार्ण विधियाँ समानाश्रय हों वहीं यह परिभाषा प्रवृत्त होती है, जैसे कृ—ण्वुल्—यहाँ ऋ को आङ्ग कार्य-वृद्धि प्राप्त होती है, प्रत्यय के णित् होने से, और इसी ऋ को वार्ण कार्य यण् (र्) भी प्राप्त होता है। आङ्गकार्य वृद्धि होती है। प्रकृत में तो शेषे लोप की तो विभक्ति निमित्त है और पररूप का 'अ', अतः व्याश्रय(भिन्न-आश्रय) होने से इस परिभाषा की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती।

---

१६४. शेषे लोपः (७।२।९०)।

१६५—दो को कहना हो (अर्थात् द्वित्वविशिष्ट युष्मद् अस्मदर्थ को कहना हो) तो युष्मद्, अस्मद् के म्-पर्यन्तभाग को युव, आव ये क्रम से आदेश होते हैं विभक्ति परे होने पर। सूत्र में द्विवचने (प्रथमा द्वि०) 'युष्मदस्मदी' का विशेषण है। अतः युष्मद्, अस्मद् के एकत्व व बहुत्व के वाचक होने पर और समासार्थ के द्वित्व के वाचक होने पर युव, आव, आदेश नहीं होंगे।

१६६—दो को कहना हो तो भाषा में (लोकभाषा संस्कृत में, वेद में नहीं) युष्मद् अस्मद् को आकार अन्तादेश होता है प्रथमा व द्वितीया विभक्ति परे होने पर। अष्टन आ विभक्तौ (७।२।८४) से 'आ' की अनुवृत्ति आ रही है।

युष्मद्—औ। अस्मद्—औ। युष्मद्—अम् (१६२)। अस्मद्—अम्। युव—अद्—अम्। आव—अद्—अम्। पररूप होकर युवद् अम्। आवद् अम्। (१६६) से आकार अन्तादेश होकर युवा अम्। आवा अम्। इस अवस्था में अमि पूर्वः (१ ख) से पूर्वरूप होकर **युवाम्, आवाम्**—ये प्र० द्वि० में परि-निष्ठित रूप सिद्ध हुए।

१६७—जस् परे रहते युष्मद्, अस्मद् के म् पर्यन्त-भाग को क्रम से यूय, वय आदेश होते हैं। यूय अद् अम्। वय अद् अम्। 'अतो गुणे' से पररूप—यूयद् अम्। वयद् अम्। (१६४) से अन्त्य (द्) का लोप। **यूयम्। वयम्।** अन्त्य का लोप होने पर अदन्त अङ्ग से जस् के स्थान में 'शी' प्राप्त होता है। **अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिर्निष्ठितस्य,** इस परिभाषा से रुक जाता है। अङ्गा-धिकारीय शास्त्र के प्रवृत्त होने पर पुनः अन्य अङ्गाधिकारीय शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती, जब पूर्वप्रवृत्त हुए अङ्गाधिकारीय शास्त्र से परिनिष्ठित (व्यवहार्य) रूप सिद्ध होता हो। ङे प्रथमयोरम् (७।१।२८) अङ्गाधिकारीय है और जसः शी (७।१।१७) भी। ङेप्रथमयोः—की प्रवृत्ति से यूयम् वयम्—ये परिनिष्ठित रूप सिद्ध हो चुके हैं। अब यहाँ 'जसः शी' यह अङ्गाधिकारीय शास्त्र प्रवृत्त नहीं होता, व्यर्थ होने से।

१६८—एकत्वविशिष्ट युष्मद् अस्मद् के म्-पर्यन्त भाग को त्व, म होते हैं विभक्ति परे होने पर।

---

१६५. युवावौ द्विवचने (७।२।९२)।
१६६. प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्। (७।२।८८)।
१६७. यूयवयौ जसि (७।२।९३)।
१६८. त्वमावेकवचने (७।२।९७)।

१६९—द्वितीया विभक्ति परे रहते भी युष्मद्, अस्मद् को आकार अन्तादेश होता है। युष्मद्—अम् (१६२)। अस्मद्—अम्। त्व अद् अम् (१६८)। म अद् अम्। अतो गुणे। त्वद् अम्। मद् अम्। त्वा अम् (१६९)। मा अम्। अमि पूर्वः से पूर्वरूप—त्वाम्। माम्।

यह सूत्र आदेशार्थ है। वक्ष्यमाण (१७२) से अनादिष्ट हलादि विभक्ति परे रहते आत्व कहेंगे।

१७०—बहुत्व की उक्ति में द्वितीया विभक्ति शस् होती है, (१६२) से अम् नहीं। इस सूत्र से शस् के 'अ' को न् आदेश होता है। युष्मद्—शस्। अस्मद्—शस्। यहाँ युष्मद् अस्मद् को कोई आदेशान्तर नहीं विधान किया है, केवल (१६९) से आकार अन्तादेश होता है—युष्मा अस्। अस्मा अस्। युष्मान्स्। (१७०)। अस्मान्स् (१७०)। संयोगान्त लोप होकर युष्मान्, अस्मान्—ये व्यवहार्य रूप सिद्ध होते हैं।

सूत्र में 'न' अविभक्तिक निर्देश है। नकार अर्थ है, प्रतिषेधार्थीय नञ् नहीं।

१७१—युष्मद्, अस्मद् के अन्त्य को 'य्' आदेश होता है अनादिष्ट अजादि विभक्ति परे होने पर। युष्मद्—(टा) आ। अस्मद्—टा (आ)। यहाँ विभक्ति 'टा' अनादिष्ट रूप में है, इसे कोई आदेश नहीं हुआ। एकत्व-विवक्षा में मपर्यन्त भाग को क्रम से त्व, म आदेश होते हैं (१६८)। त्व अद् आ। म अद् आ। 'अतो गुणे' से पररूप होने पर त्वद् आ, मद् आ, इस अवस्था में युष्मद् (त्वद्), अस्मद् (मद्) के अन्त्य (द्) को य् आदेश होता है—त्वया। मया।

१७२—अनादिष्ट हलादि विभक्ति परे होने पर युष्मद्, अस्मद् को आकार अन्तादेश होता है। युष्मद्—भ्याम्। अस्मद्-भ्याम्। युव अद्—भ्याम्। आव अद् भ्याम् (१६५)। 'अतो गुणे' से पररूप—युवद्-भ्याम्। आवद्-भ्याम्। (१७२) से आकार अन्तादेश। सवर्ण दीर्घ—युवाभ्याम्। आवाभ्याम्। युष्माभिः। अस्माभिः। यहाँ अनादिष्ट विभक्ति भिस् परे रहते

---

१६९. द्वितीयायां च (७।२।८७)।
१७०. शसो न (७।१।२९)।
१७१. योऽचि (७।२।८९)।
१७२. युष्मदस्मदोरनादेशे (७।२।८३)।

युष्मद् अस्मद् को आकार अन्तादेश होता है। इसके अतिरिक्त प्रकृत्याश्रय व प्रत्ययाश्रय कुछ भी कार्यविशेष नहीं।

१७३—युष्मद्, अस्मद् के म्-पर्यन्त भाग को तुभ्य, मह्य आदेश होते हैं ङे परे होने पर। (१६२) से ङे के स्थान में अम् आदेश होता है। तुभ्य—अद्—अम्। मह्य अद् अम्। तुभ्यद् अम्। मह्यद् अम्। पररूप। 'शेषे लोपः' से द् का लोप। **तुभ्यम्। मह्यम्।**

१७४—युष्मद्, अस्मद् से परे भ्यस् को भ्यम् आदेश होता है—**युष्मभ्यम्। अस्मभ्यम्।** यहाँ विभक्ति अनादिष्ट नहीं, अतः आकार अन्तादेश का प्रसङ्ग नहीं। 'शेषे लोपः'। युष्मद्, अस्मद् के द् का लोप। अदन्त अङ्ग होने पर अङ्गवृत्तपरिभाषा से बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३) की प्रवृत्ति नहीं होती।

१७५—युष्मद्, अस्मद् से परे ङसि के स्थान में अत् आदेश होता है। 'त्' की हलन्त्यम् (१।३।३) से इत्संज्ञा नहीं होती। **न विभक्तौ तुस्माः** (१।३।४)। विभक्तिस्थ तवर्ग, स्, म् की इत्संज्ञा नहीं होती। युष्मद्—ङसि, अस्मद्—ङसि। युष्मद् अत्। अस्मद् अत्। त्व अद् अत्। म अद् अत्। पर-रूप होकर 'शेषे लोपः' से द् का लोप। **त्वत्। मत्।**

१७६—पञ्चमी विभक्ति भ्यस् को अत् आदेश होता है। युष्मद्-अत्। अस्मद्-अत्। 'शेषे लोपः' से 'द्' का लोप। पररूप। **युष्मत्। अस्मत्।**

१७७—युष्मद्, अस्मद् के म्-पर्यन्त भाग को तव, मम—ये आदेश होते हैं ङस् परे रहते। अन्त्य 'द्' का 'शेषे लोपः' से लोप।

१७८—युष्मद् अस्मद् से परे ङस् (षष्ठ्येकवचन) के स्थान में अश् (अ) आदेश होता है। शित्करण, आदेश सारे के स्थान में हो, इसलिए किया है। 'अतो गुणे' से पररूप। **तव। मम।**

---

१७३. तुभ्यमह्यौ ङयि (७।२।९५)।
१७४. भ्यसो भ्यम् (७।१।३०)।
१७५. एकवचनस्य च (७।१।३२)।
१७६. पञ्चम्या अत् (७।१।३१)।
१७७. तवममौ ङसि (७।२।९६)।
१७८. युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् (७।१।२७)।

१७९—युष्मद्, अस्मद् से परे सुट्-सहित आम् (साम्) के स्थान में 'आकम्' आदेश होता है। 'शेषे लोपः' से अन्त्य (द्) का लोप होने पर अङ्ग के अवर्णान्त हो जाने पर सुट् आगम होगा। उस भावी सुट् को स्थान्यन्तर्गत निर्देश करके साम आकम्, ऐसा सूत्रन्यास किया है। **सामः**—यह षष्ठ्येक-वचन है। **युष्माकम्। अस्माकम्।**

युष्मद्—ङि। अस्मद्—ङि। त्वद्—इ। (१६८)। मद्—इ। **त्वयि** (१७१)। **मयि**। युष्मद्—सु। अस्मद्—सु। **युष्मासु** (१७२)। **अस्मासु**।

अष्टम अध्याय में युष्मद् अस्मद् के षष्ठ्यन्त, चतुर्थ्यन्त, द्वितीयान्त रूपों (पदों) के स्थान में कुछ आदेश विधान किये हैं। ये आदेश पद के स्थान में होने से स्वयं पद-रूप हैं और ये अनुदात्त होते हैं। इनका प्रयोग पाद (श्लोक-चरण) के आदि में नहीं होता है और जहाँ पाद-व्यवस्था नहीं है (अर्थात् गद्य सन्दर्भ में) वहाँ भी पद से परे ही इनका प्रयोग होता है, अर्थात् वाक्य के आदि में कभी नहीं। इसके लिये आचार्य तीन अधिकार सूत्र पढ़ते हैं—**पदस्य** (८।१।१६)। **पदात्** (८।१।१७)। **अनुदात्तं सर्वमपादादौ** (८।१।१८)। वार्तिककार का यह भी कहना है कि **समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः**, ये युष्मद् अस्मद् के आदेश समानवाक्य में ही होते हैं, भिन्न वाक्य-स्थ होने से 'तव' के स्थान में 'ते' और 'मम' के स्थान में 'मे' नहीं होता।

१८०—द्विवचनान्त युष्मद् के षष्ठ्यन्त, चतुर्थ्यन्त तथा द्वितीयान्त के स्थान में क्रम से वाम्, नौ—ये आदेश होते हैं—**ग्रामो वां स्वम्। ग्रामो नौ स्वम्।** ग्राम तुम दोनों का स्व है। ग्राम हम दोनों का स्व है। **ग्रामो वां दीयते। ग्रामो नौ दीयते।** ग्राम तुम दोनों को दिया जाता है। ग्राम हम दोनों को दिया जाता है। **वरुणो राजा वां पश्यति। वरुणो राजा नौ पश्यति।** सूत्र में 'स्थ' ग्रहण श्रूयमाण विभक्ति के लिये किया है। युष्मत्पुत्रः, यहाँ विभक्ति का लुक् हो चुका है, अतः युष्मद् (षष्ठ्यन्त) के स्थान में 'वाम्' आदेश नहीं हुआ।

१८१—बहुवचनान्त युष्मद् के षष्ठ्यन्त, चतुर्थ्यन्त, द्वितीयान्त के स्थान में वस्, नस् आदेश होते हैं—**ग्रामो वः स्वम्। ग्रामो नः स्वम्।**

---

१७९. साम आकम् (७।१।३३)।

१८०. युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ (८।१।२०)।

१८१. बहुवचनस्य वस्नसौ (८।१।२१)।

१८२—एकवचनान्त युष्मद् अस्मद् की षष्ठी, चतुर्थी में जो रूप निष्पन्न होते हैं उन के स्थान में 'ते', 'मे'—ये प्रयुक्त होते हैं। इदं ते पुस्तकम्। इदं मे पुस्तकम्। नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु। द्वितीयास्थ युष्मद् अस्मद् को वक्ष्यमाण आदेश कहे हैं, अतः इस सूत्र में द्वितीयास्थ के स्थान में आदेश विधान नहीं है। पद से परे ये पदस्थानिक आदेश-भूत पद प्रयुक्त होते हैं—पदात्पदस्य।

१८३—एकवचनान्त द्वितीयास्थ युष्मद् अस्मद् के स्थान में त्वा, मा आदेश होते हैं—अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि, मा शुचः (गीता)। मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् (वा० स० ३६।१८)।

१८४—इन वाम्, नौ आदि आदेशों के विषय में इतना और अवधेय है कि च, वा, ह, अह के साथ योग होने पर इनका प्रयोग नहीं होता—इदं मम च तव च धनम्, ऐसा कहेंगे। इदं मे च ते च धनम्, नहीं कह सकते। मा मंस्था इदं पारितोषिकं त एव दास्यते—ऐसा नहीं कह सकते। 'तुभ्यमेव' ऐसा ही कहना होगा।

१८५—इतना और भी स्मर्तव्य है—अचाक्षुष ज्ञानार्थक धातुओं के योग में ये वाम्, नौ आदि आदेश नहीं होते—ध्यानावस्थितेन चेतसा पश्यन्ति त्वां योगिनः।

१८६—ये वाम्, नौ आदि आदेश अन्वादेश में तो नित्य होते हैं, अन्वादेश के अभाव में विकल्प से—ऐसा वार्तिककार कहते हैं।

युष्मद्

प्र०	त्वम्	युवाम्	यूयम्
द्वि०	त्वाम्—त्वा	युवाम्—वाम्	युष्मान्—वः
तृ०	त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः

---

१८२. तेमयावेकवचनस्य (८।१।२२)।
१८३. त्वामौ द्वितीयायाः (८।१।२३)।
१८४. न चवाहाहैवयुक्ते (८।१।२४)।
१८५. पश्यार्थैश्चानालोचने (८।१।२५)।
१८६. एते वांनावादय आदेशा अनन्वादेशे वा वक्तव्याः (वा०)।

च०	तुभ्यम्—ते	युवाभ्याम्—वाम्	युष्मभ्यम्—वः
पं०	त्वत्	,,	युष्मत्
ष०	तव—ते	युवयोः—वाम्	युष्माकम्—वः
स०	त्वयि	युवयोः	युष्मासु

अस्मद्

प्र०	अहम्	आवाम्	वयम्
द्वि०	माम्—मा	आवाम्—नौ	अस्मान्—नः
तृ०	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
च०	मह्यम्—मे	आवाभ्याम्—नौ	अस्मभ्यम्—नः
पं०	मत्	आवाभ्याम्	अस्मत्
ष०	मम—मे	आवयोः—नौ	अस्माकम्—नः
स०	मयि	आवयोः	अस्मासु

त्व, अह आदि कार्य अङ्गाधिकारीय हैं, अतः केवल युष्मद् अस्मद् को भी होते हैं और तदन्त युष्मदन्त, अस्मदन्त को भी। परमाहम्। परमत्वम्। परश्चासौ त्वं च। युवां युष्मान् वा अतिक्रान्तः=अतित्वम्। यहाँ युष्मदर्थ के गौण होने पर भी म्-पर्यन्त युष्मद् को त्वाहौ सौ (१६३) से 'त्व' आदेश हो गया।

जब समास में युष्मद् अस्मद् द्वित्वावच्छिन्न अर्थ को कहते हैं, समासार्थ चाहे एकत्व अथवा बहुत्ववाचक हो, तो भी युव और आव आदेश होते हैं—अतिक्रान्तं (द्वितीयान्त) युवाम् अतियुवां पश्य। अतिक्रान्तमावाम् अत्यावां पश्य। यहाँ समासार्थ एकत्ववाची है। जो युष्मद् अस्मद्रूप अर्थ को अतिक्रान्त कर गया है। युष्मद् अस्मद् तो द्वित्व (द्व्यर्थ) के अभिधायक हैं। युष्मद् अस्मद् के म्-पर्यन्त भाग को युव आव होकर पररूप होने पर (१६९) 'द्' को आकार होकर अमि पूर्वः से पूर्वरूप होता है—अति युष्मद्—अम् (१६२)। अति युव अद् अम्। अति युवद् अम्। अति युवा अम् (१६९)। अतियुवाम्। अतिक्रान्तान् युवाम् अतियुवान् पश्य। अतिक्रान्तान् आवाम् अत्यावान्पश्य। यहाँ पूर्ववत् युव और आव आदेश, (१६९) से युष्मद् अस्मद् के 'द्' को 'आ' और (१७०) से शस् के 'अ' को न्। अतिक्रान्तेन युवाम् अतिक्रान्तेन आवां कृतमिदम् अतियुवया, अत्यावया। (१७१) से अन्त्य 'द्' को 'य्'। अतिक्रान्तैर्युवाम्, अतिक्रान्तैरावाम्—अतियुवाभिः,

अत्यावाभिः कृतम् । यहाँ (१७२) से अनादिष्ट हलादि विभक्ति परे होने पर युष्मद् अस्मद् को आकार अन्तादेश । अतिक्रान्तेभ्यो युवां देहि । अतिक्रान्तेभ्य आवां देहि—**अतियुवभ्यम्** । **अत्यावभ्यम्** । अतिक्रान्ताद् युवाम् **अतियुवत्** । अतिक्रान्ताद् आवाम् **अत्यावत्**आगतः । ङसि को अत् । अतिक्रान्तेभ्यो युवाम् **अतियुवत्** । अतिक्रान्तेभ्य आवाम् **अत्यावत्** । अतिक्रान्तानां युवाम् **अतियुवाकम्** । अतिक्रान्तानाम् आवाम् **अत्यावाकं** स्वम् । यहाँ सुट्—सहित आम् को आकम् आदेश । अतिक्रान्ते **युवामतियुवयि** । अतिक्रान्ते आवाम् **अत्यावयि** (निधेहि धनम्) । (१७२) । से युव आव आदेश होने पर युवद्, आवद् के 'द्' को य् । अतिक्रान्तेषु युवाम्, अतिक्रान्तेषु आवाम् (निधेहि धनम्) । **अतियुवासु** । **अत्यावासु** । यहाँ (१७२) से अन्त्य द् को आकार आदेश होता है ।

त्व, अह आदि आदेशों के प्रसङ्ग में त्व, अह आदि ही होते हैं विप्रतिषेध से—अतिक्रान्तो युवाम् **अतित्वम्** । यहाँ युव आदेश नहीं हुआ किन्तु (१६३) से मपर्यन्त को 'त्व' हुआ है । अतिक्रान्ता युवाम् **अतियूयम्** 'यूय' हुआ है ।

जब युष्मद् अस्मद् समास में एकत्व अथवा बहुत्व के वाचक हों और समासार्थ द्वित्वविशिष्ट हो तब भी युव, आव आदेश नहीं होते—अतिक्रान्तौ त्वाम् **अतित्वाम्** । अतिक्रान्तौ युष्मान् **अतियुष्मान्** । अतिक्रान्तावस्मान् **अत्यस्मान्** । इत्यादि ।

युष्मद् अस्मद् को जो अकच् होता है उसकी ऐसी व्यवस्था है—ओकार-सकार-भकारादि विभक्ति परे होने पर सर्वनाम के 'टि' से पूर्व अकच् होता है, अन्यत्र सुबन्त के 'टि' से पूर्व ।

अकच्सहित युष्मद्

त्वकम्	युवकाम्	यूयकम्
त्वकाम्	,,	युष्मकान्
त्वयका	युवकाभ्याम्	युष्मकाभिः
तुभ्यकम्	,,	युष्मकभ्यम्
त्वकत्	,,	युष्मकत्
तवक	युवकयोः	युष्माककम्
त्वयकि	,,	युष्मकासु

अकच्सहित अस्मद्

अहकम्	आवकाम्	वयकम्

मकाम्	आवकाम्	अस्मकान्
मयका	आवकाभ्याम्	अस्मकाभिः
मह्यकम्	,,	अस्मकभ्यम्
मकत्	,,	अस्मकत्
ममक	आवकयोः	अस्माककम्
मयकि	,,	अस्मकासु

१८७—किम् को 'क' आदेश होता है विभक्ति परे रहते।
क आदेश होने पर 'सर्व' की तरह रूप होते हैं—

किम् (पुं०)

प्र०	कः	कौ	के
द्वि०	कम्	,,	कान्
तृ०	केन	काभ्याम्	कैः
च०	कस्मै	,,	केभ्यः
पं०	कस्मात्	,,	,,
ष०	कस्य	कयोः	केषाम्
स०	कस्मिन्	,,	केषु

किम् (स्त्री०)

प्र०	का	के	काः
द्वि०	काम्	,,	,,
तृ०	कया	काभ्याम्	काभिः
च०	कस्यै	,,	काभ्यः
पं०	कस्याः	,,	,,
ष०	,,	कयोः	कासाम्
स०	कस्याम्	,,	कासु

किम्—सु। क—सु। स्त्रीत्वविवक्षा में अदन्त 'क' से टाप्—का।

किम् (नपुं०)

किम्	के	कानि
,,	,,	,,

---

१८७. किमः कः (७।२।१०३)।

शेष पुंवत् । किम् से परे आये सु और अम् का लुक् । विभक्ति परे न होने से (लुक् से प्रत्ययलक्षण न होने से) किम् को 'क' नहीं होता ।

भवत्—यह सर्वादिगण में पठित होने से सर्वनाम है । भवत् डवतु प्रत्ययान्त है—भा—डवतु । उगित् होने से सर्वनामस्थान परे नुम् । अत्वन्त होने से (९४) से सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान परे रहते उपधा-दीर्घ । नुम् पर है और नित्य है, तो भी जो उपधा को दीर्घ-विधान किया है उसके सामर्थ्य से नुम् को बाधकर पहले उपधा-दीर्घ होगा । नुम् के पूर्व होने पर तो उपधा नकार होगी, अच् नहीं, तो दीर्घ न हो सकेगा और दीर्घविधान व्यर्थ हो जायगा । व्यर्थ मत हो, इसलिये पहले उपधा-दीर्घ होता है—

भवत्—सु । भवात्—सु । भवान्त् सु । भवान्त् । सुलोप । भवान् । संयोगान्त लोप । इसके असिद्ध होने से 'न्' का (न-लोपः प्रातिपदिकान्तस्य से) लोप नहीं होता है ।

भवत् पुं०

प्र०	भवान्	भवन्तौ	भवन्तः
द्वि०	भवन्तम्	"	भवतः
तृ०	भवता	भवद्भ्याम्	भवद्भिः
च०	भवते	"	भवद्भ्यः
पं०	भवतः	"	"
ष०	"	भवतोः	भवताम्
स०	भवति	"	भवत्सु

स्त्रीलिङ्ग में 'उगितश्च' से ङीप् होकर 'भवती' रूप होगा और 'नदी' की तरह सुबन्त रूप होंगे ।

गणपाठ से सर्वादि की सर्वनाम संज्ञा की है । गण में संज्ञा और उपसर्जनीभूत सर्वादियों का संनिवेश नहीं है । सर्वो नाम कश्चित्, तस्मै देहि सर्वाय देहि । कः=प्रजापतिः, तस्मै काय । अतिक्रान्तः सर्वम् अतिसर्वः, तस्मै अतिसर्वाय ।

१८८—बहुव्रीहिसमासार्थं अलौकिक विग्रहवाक्य में ही सर्वादियों की सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो जाता है । त्वकं पिता यस्य स त्वत्कपितृकः । अहकं पिता यस्य स मत्कपितृकः । यह लौकिक विग्रह है । अन्यथा जैसे यहाँ

१८८. न बहुव्रीहौ (१।१।२७) ।

अकच् होता है वैसे ही अलौकिक प्रक्रिया-वाक्य में भी अकच् हो जायगा और वह समास में भी सुनेगा। यहाँ समास में तो 'क' हुआ है। भाष्यकार तो त्वकत्पितृकः, मकत्पितृकः इन रूपों को (जिन में अकच् हुआ है) इष्ट मान कर इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हैं। **यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्।**

१८९—तृतीयासमास में तथा तृतीयासमासार्थ विग्रहवाक्य में भी सर्वादियों की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती—**मासपूर्वाय देहि। मासेन पूर्वाय देहि।** जो एक महीना भर बड़ा है, उसे दो।

१९०—द्वन्द्व समास में सर्वादियों की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। **आर्याश्च इतरे च, तेषाम् आर्येतराणाम्। आर्येभ्य इतरे, तेषामार्येतरेषाम्**—यहाँ सर्वनाम संज्ञा अवस्थित रहती है।

१९१—जस् को 'शी' की कर्तव्यता में द्वन्द्व समास में भी सर्वादियों की सर्वनाम संज्ञा विकल्प से होती है—**वर्णाश्रमेतरे। वर्णाश्रमेतराः।** शीभाव के विषय में ही विकल्प कहा है अतः कार्यान्तर की कर्तव्यता में निषेध ही रहेगा। सर्वनाम संज्ञा का निषेध होने से **वर्णाश्रमेतरकाः**—यहाँ क प्रत्यय हुआ है, अकच् नहीं।

१९२—बहुव्रीहि समास में सर्वादियों की सर्वनाम संज्ञा का निषेध कहा है (१८८)। अब विषयविशेष में विकल्प कहते हैं—दिग्वाची शब्दों के बहुव्रीहि समास में सर्वादियों की सर्वनामसंज्ञा विकल्प से होती है—**पूर्वस्या उत्तरस्याश्चान्तरालं दिक् पूर्वोत्तरा, तस्यै पूर्वोत्तरस्यै, पूर्वोत्तरायै वा।** सूत्र में 'दिक्समासे' शब्द से प्रतिपदोक्त दिङ्नामान्यन्तराले (२।२।२६) से जो बहुव्रीहि समास विधान किया है, उस का ग्रहण है, अतः **या पूर्वा सा उत्तरा यस्या उन्मुग्धायास्तस्यै पूर्वोत्तरायै**—यहाँ विकल्प नहीं होगा, निषेध ही रहेगा।

१९३—तीयप्रत्ययान्तों की ङित् विभक्तियों के परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है—**द्वितीयस्मै। द्वितीयाय। द्वितीयस्यै। द्वितीयायै।**

इति सुबन्तेषु सर्वनामानि गतानि।

---

१८९. तृतीयासमासे (१।१।३०)।
१९०. द्वन्द्वे च (१।१।३२)।
१९१. विभाषा जसि (१।२।३२)।
१९२. विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ (१।२।२८)।
१९३. वा तीयस्य ङित्सूपसंख्यानम् (वा०)।

अथ चतुर्थो वर्गः—संख्यावचनाः ।

यहाँ हम संख्यावचनों की सुबन्तरूपावलि देने से पूर्व संख्यावाची शब्दों का क्रमबद्ध निर्देश करते हैं । इन संख्यावाची शब्दों की प्रक्रिया इस ग्रन्थ के (द्वितीय खण्ड में) तद्धित-प्रकरण में बतलाई जा चुकी है ।

संख्यावाचक	पूरणप्रत्ययान्त
१ एक	प्रथम, अग्रिम
२ द्वि	द्वितीय
३ त्रि	तृतीय
४ चतुर्	चतुर्थ, तुर्य
५ पञ्चन्	पञ्चम
६ षष्	षष्ठ
७ सप्तन्	सप्तम
८ अष्टन्	अष्टम
९ नवन्	नवम
१० दशन्	दशम
११ एकादशन्	एकादश
१२ द्वादशन्	द्वादश
१३ त्रयोदशन्	त्रयोदश
१४ चतुर्दशन्	चतुर्दश
१५ पञ्चदशन्	पञ्चदश
१६ षोडशन्	षोडश
१७ सप्तदशन्	सप्तदश
१८ अष्टादशन्	अष्टादश
१९ नवदशन्	नवदश
एकोनविंशति	एकोनविंश
ऊनविंशति	ऊनविंश
एकान्नविंशति	एकान्नविंश
एकाद्नविंशति	एकाद्नविंश
२० विंशति	विंश, विंशतितम
२१ एकविंशति	एकविंश, एकविंशतितम
२२ द्वाविंशति	द्वाविंश, द्वाविंशतितम
२३ त्रयोविंशति	त्रयोविंश, त्रयोविंशतितम
२४ चतुर्विंशति	चतुर्विंश, चतुर्विंशतितम
२५ पञ्चविंशति	पञ्चविंश, पञ्चविंशतितम
२६ षड्विंशति	षड्विंश, षड्विंशतितम
२७ सप्तविंशति	सप्तविंश, सप्तविंशतितम
२८ अष्टाविंशति	अष्टाविंश, अष्टाविंशतितम
२९ नवविंशति	नवविंश, नवविंशतितम
एकोनत्रिंशत्	एकोनत्रिंश, एकोनत्रिंशत्तम
एकान्नत्रिंशत्	एकान्नत्रिंश, एकान्नत्रिंशत्तम
३० त्रिंशत्	त्रिंश, त्रिंशत्तम
३१ एकत्रिंशत्	एकत्रिंश एकत्रिंशत्तम

संख्यावाचक	पूरणप्रत्ययान्त
३२ द्वात्रिंशत्	द्वात्रिंश, द्वात्रिंशत्तम
३३ त्रयस्त्रिंशत्	त्रयस्त्रिंश, त्रयस्त्रिंशत्तम
३४ चतुस्त्रिंशत्	चतुस्त्रिंश, चतुस्त्रिंशत्तम
३५ पञ्चत्रिंशत्	पञ्चत्रिंश, पञ्चत्रिंशत्तम
३६ षड्त्रिंशत्	षट्त्रिंशत्तम
३७ सप्तत्रिंशत्	सप्तत्रिंश, सप्तत्रिंशत्तम
३८ अष्टात्रिंशत्	अष्टात्रिंश, अष्टात्रिंशत्तम
३९ नवत्रिंशत्	नवत्रिंश, नवत्रिंशत्तम
एकोनचत्वारिंशत्	एकोनचत्वारिंश एकोनचत्वारिंशत्तम
एकान्नचत्वारिंशत्	एकान्नचत्वारिंश एकान्नचत्वारिंशत्तम
४० चत्वारिंशत्	चत्वारिंश, चत्वारिंशत्तम
४१ एकचत्वारिंशत्	एकचत्वारिंश, एकचत्वारिंशत्तम
४२ द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत्	द्विचत्वारिंश, द्विचत्वारिंशत्तम, द्वाचत्वारिंश, द्वाचत्वारिंशत्तम
४३ त्रिचत्वारिंशत्, त्रयश्चत्वारिंशत्	त्रिचत्वारिंश, त्रिचत्वारिंशत्तम, त्रयश्चत्वारिंश, त्रयश्चत्वारिंशत्तम
४४ चतुश्चत्वारिंशत्	चतुश्चत्वारिंश, चतुश्चत्वारिंशत्तम
४५ पञ्चचत्वारिंशत्	पञ्चचत्वारिंश, पञ्चचत्वारिंशत्तम
४६ षट्चत्वारिंशत्	षट्चत्वारिंश, षट्चत्वारिंशत्तम
४७ सप्तचत्वारिंशत्	सप्तचत्वारिंश, सप्तचत्वारिंशत्तम
४८ अष्टचत्वारिंशत्, अष्टाचत्वारिंशत्	अष्टचत्वारिंश, अष्टचत्वारिंशत्तम, अष्टाचत्वारिंश, अष्टाचत्वारिंशत्तम
४९ नवचत्वारिंशत्	नवचत्वारिंश, नवचत्वारिंशत्तम
एकोनपञ्चाशत्	एकोनपञ्चाश, एकोनपञ्चाशत्तम
५० पञ्चाशत्	पञ्चाश, पञ्चाशत्तम
५१ एकपञ्चाशत्	एकपञ्चाश एकपञ्चाशत्तम
५२ द्विपञ्चाशत्, द्वापञ्चाशत्	द्विपञ्चाश, द्विपञ्चाशत्तम, द्वापञ्चाश, द्वापञ्चाशत्तम

५३ त्रिपञ्चाशत् } त्रिपञ्चाश, त्रिपञ्चाशत्तम
त्रयः पञ्चाशत् } त्रयः पञ्चाश, त्रयः पञ्चाशत्तम

५४ चतुष्पञ्चाशत् चतुष्पञ्चाश, चतुष्पञ्चाशत्तम

५५ पञ्चपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाश, पञ्चपञ्चाशत्तम

५६ षट्पञ्चाशत् षट्पञ्चाश, षट्पञ्चाशत्तम

५७ सप्तपञ्चाशत् सप्तपञ्चाश, सप्तपञ्चाशत्तम

५८ अष्टपञ्चाशत् } अष्टपञ्चाश, अष्टपञ्चाशत्तम
अष्टापञ्चाशत् } अष्टापञ्चाश, अष्टापञ्चाशत्तम

५९ नवपञ्चाशत् } नवपञ्चाश, नवपञ्चाशत्तम
एकोनषष्टि } एकोनषष्ट, एकोनषष्टितम
एकान्नषष्टि } एकान्नषष्ट, एकान्नषष्टितम

६० षष्टि षष्टितम

६१ एकषष्टि एकषष्ट, एकषष्टितम

६२ द्विषष्टि } द्विषष्ट, द्विषष्टितम
द्वाषष्टि } द्वाषष्ट, द्वाषष्टितम

६३ त्रिषष्टि } त्रिषष्ट, त्रिषष्टितम
त्रयः षष्टि } त्रयःषष्ट, त्रयःषष्टितम

६४ चतुः षष्टि चतुः षष्ट, चतुः षष्टितम

६५ पञ्चषष्टि पञ्चषष्ट, पञ्चषष्टितम

६६ षट्षष्टि षट्षष्ट, षट्षष्टितम
सप्तषष्टि सप्तषष्ट, सप्तषष्टितम

६७ सप्तषष्टि सप्तषष्ट सप्तषष्टितम

६८ अष्टषष्टि } अष्टषष्ट, अष्टषष्टितम
अष्टाषष्टि } अष्टाषष्ट, अष्टाषष्टितम

६९ नवषष्टि, नवषष्ट, नवषष्टितम
एकोनसप्तति एकोनसप्तत, एकोनसप्ततितम
एकान्नसप्तति एकान्नसप्तत, एकान्नसप्ततितम

७० सप्तति सप्ततितम

७१ एकसप्तति एकसप्तत एकसप्ततितम

७२ द्विसप्तति } द्विसप्तत द्विसप्ततितम
द्वासप्तति } द्वासप्तत द्वासप्ततितम

७३ त्रिसप्तति } त्रिसप्तत त्रिसप्ततितम
त्रयः सप्तति } त्रयः सप्तत त्रयःसप्ततितम

७४ चतुः सप्तति चतुः सप्तत चतुः सप्ततितम

७५ पञ्चसप्तति पञ्चसप्तत पञ्चसप्ततितम

७६ षट्सप्तति षट्सप्तत षट्सप्ततितम

संख्यावाचक	पूरणप्रत्ययान्त
७७ सप्तसप्तति	सप्तसप्तत सप्तसप्ततितम
७८ अष्टसप्तति	अष्टसप्तत अष्टसप्ततितम
अष्टासप्तति	अष्टासप्तत अष्टासप्ततितम
७९ नवसप्तति	नवसप्तत नवसप्ततितम
एकोनाशीति	एकोनाशीत एकोनाशीतितम
एकान्नाशीति	एकान्नाशीत एकान्नाशीतितम
८० अशीति	अशीतितम
८१ एकाशीति	एकाशीत एकाशीतितम
८२ द्व्यशीति	द्व्यशीत द्व्यशीतितम
८३ त्र्यशीति	त्र्यशीत त्र्यशीतितम
८४ चतुरशीति	चतुरशीत चतुरशीतितम
८५ पञ्चाशीति	पञ्चाशीत पञ्चाशीतितम
८६ षडशीति	षडशीत षडशीतितम
८७ सप्ताशीति	सप्ताशीत सप्ताशीतितम
८८ अष्टाशीति	अष्टाशीत अष्टाशीतितम
८९ नवाशीति	नवाशीत नवाशीतितम
एकोननवति	एकोननवत एकोननवतितम
एकान्ननवति	एकान्ननवत एकान्ननवतितम
९० नवति	नवतितम
९१ एकनवति	एकनवत एकनवतितम
९२ द्विनवति	द्विनवत द्विनवतितम
द्वानवति	द्वानवत द्वानवतितम
९३ त्रिनवति	त्रिनवत त्रिनवतितम
त्रयोनवति	त्रयोनवत त्रयोनवतितम
९४ चतुर्नवति	चतुर्नवत चतुर्नवतितम
९५ पञ्चनवति	पञ्चनवत पञ्चनवतितम
९६ षण्णवति	षण्णवत षण्णवतितम
९७ सप्तनवति	सप्तनवत सप्तनवतितम
९८ अष्टनवति	अष्टनवत अष्टनवतितम
अष्टानवति	अष्टानवत अष्टानवतितम
९९ नवनवति	नवनवत नवनवतितम
एकोनशत	एकोनशततम
१०० शत	शततम
१०१ एकशत	एकशततम
१०२ द्विशत	द्विशततम
१०३ त्रिशत	त्रिशततम
१०४ चतुःशत	चतुःशततम
१११ एकादशशत	एकादशशततम

इत्यादि ।

१००० सहस्र	हजार	१००००००००० अब्ज	अर्ब
१०००० अयुत	दस हजार	१०००००००००० खर्व	खर्व
१००००० लक्ष	लाख	१००००००००००० निखर्व	निखर्व
१०००००० प्रयुत	दस लाख		
१००००००० कोटि	करोड़		
१०००००००० अर्बुद	दस करोड़		

इनसे परे पूर्व से उत्तर प्रत्येक संख्या दसगुणा है—महापद्म, शङ्कु, जलधि, अन्त्य, मध्य, परार्ध ।

एक, द्वि, त्रि, चतुर् का तीनों लिङ्गों में प्रयोग होता है, जो संख्येय का लिङ्ग होगा वही इनका । त्रि से नवदशन् केवल संख्येय को कहते हैं, केवल संख्या को नहीं, अतः स्वभाव से बहुवचन में प्रयुक्त होते है । त्रयः पुरुषाः । तिस्रः स्त्रियः । त्रीणि पुस्तकानि । चत्वारः पुरुषाः । चतस्रः स्त्रियः । चत्वारि पुस्तकानि । पञ्चन् से नवदशन् तक संख्येय में प्रयुक्त होते हैं, पर त्रिलिङ्ग होने पर न षट्स्वस्रादिभ्यः (४।१।१०) से ङीप् प्रत्यय का निषेध हो जाने से तीनों लिङ्गों में समानरूप रहते हैं—पञ्च पुरुषाः । पञ्च स्त्रियः । पञ्च पुस्तकानि । संख्येयमात्र में प्रयुक्त होने से 'पुरुषाणां पञ्च' इत्यादि नहीं कह सकते । अस्य पुस्तकस्य रूप्यकाणां दश मूल्यम् इत्यादि प्रयोग व्यवहारविरुद्ध हैं, अतः विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्य हैं । विंशति से लेकर नवनवति तक संख्या और संख्येय दोनों को कहते है और नित्य स्त्रीलिङ्ग हैं । संख्येय के वाचक होते हुए ये एकवचनान्त ही प्रयुक्त होते हैं, संख्येय के अनुसार इन से बहुवचन नहीं आता । हाँ संख्यामात्र को कहते हुए ये विवक्षा के अनुसार तीनों वचनों में प्रयुक्त होते हैं—इमे विंशतिश्छात्राः । इमान् विंशतिं छात्रान्व्याकरणमध्यापय । एभ्यो विंशतये च्छात्रेभ्यः संस्कृते वैचक्षण्यस्य कृते पारितोषिकाणि वितरीष्यन्ते । विंशतिं दिनानि श्राम्यतामेषां का भृतिरिति जिज्ञासे । संख्या में तो—एकैव विंशतिः पात्राणां त्रपुलेपमर्हति, न तु द्वे विंशती (लेपमर्हतः), न वा तिस्रो विंशतयः (लेपमर्हन्ति) । अस्य पुस्तकस्य विंशती रूप्यकाणां मूल्यमिति दुष्क्रयमिदं भवति च्छात्रैः । इस पुस्तक का २० रुपये मूल्य है, अतः छात्रों के लिये इसे खरीदना कठिन है ।

शत, सहस्र, अयुत, प्रयुत, लक्ष प्रभृति परार्ध तक एकवचनान्त ही प्रयुक्त होते हैं । जब एक सो, एक हजार इत्यादि अर्थ हो—शतं पुरुषाः । शतं स्त्रियः । शतं पुस्तकानि । सहस्रं पुरुषाः । सहस्रं स्त्रियः । सहस्रं पुस्तकानि ।

कोटिः पुरुषाः । कोटिः स्त्रियः । कोटिः पुस्तकानि । लक्षं पुरुषाः । लक्षं स्त्रियः । लक्षं पुस्तकानि । शतादि संख्यावचनों में शत, सहस्र, अयुत, प्रयुत, लक्ष, अर्बुद, अब्ज, अन्त्य, मध्य परार्ध नपुंसक लिङ्ग हैं । 'लक्षा' स्त्रीलिङ्ग भी है । 'कोटि' केवल स्त्रीलिङ्ग है । खर्व, निखर्व, महापद्म, शङ्कु, जलधि—ये पुंल्लिङ्ग हैं । नाना शत, नाना सहस्र आदि कहना हो तो बहुवचन में प्रयोग होगा—**पञ्च शतानि पुरुषाः,** पाँच सौ पुरुषः । **षट् सहस्राणि स्त्रियः,** छह हजार स्त्रियाँ । **एकशतम् अध्वर्युशाखाः,** एक सौ एक यजुर्वेद की शाखायें हैं । 'एकशत' का अर्थ 'एक सौ एक' है, सौ नहीं । 'द्विशतम्' का 'एक सौ दो' अर्थ है, दो सौ नहीं । **स वर्षषोडशशतमजीवत्,** वह एक सौ सोलह वरस जीया, ऐसा अर्थ है, न कि वह सोलह सौ बरस जीया— ऐसा ।

शत प्रभृति संख्यावचन संख्या तथा संख्येय में प्रयुक्त होते हैं और अपने अपने लिङ्ग को नहीं छोड़ते । संख्या में—**त्वं जीव शरदां शतम् । शिराः शतानि सप्तैव**(यहाँ संख्येय में)**नव स्नायुशतानि च । धमनीनां शते द्वे तु पञ्च पेशीशतानि च**(याज्ञ० ३।१००)**॥ यथा गवां सहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् । तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति** (रघु० ५।२२) । 'लक्ष' पुंल्लिङ्ग में भी देखा जाता है—**त्रयो लक्षास्तु विज्ञेयाः श्मश्रुकेशाः शरीरिणाम्** (याज्ञ० ३।२०१) । यहाँ लक्ष शब्द संख्येय में वर्तमान है । शतादि के संख्येय में उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं ।

एकादशशतम् (१११), द्वादशशतम् (११२)आदि जो (जो मध्यमपदलोपी समास हैं—एकादशाधिकं शतम् एकादशशतम्) के स्थान में **एकादशं शतम्, द्वादशं शतम्** इत्यादि कहने की भी रीति है । यहाँ एकादश अधिका अस्मिञ्शते इत्येकादशं शतम्—ऐसा विग्रह जानें । इस अर्थ में एकादश, द्वादश आदि शब्द ड-प्रत्ययान्त हैं—तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड् डः (१।२।४५) ।

१६४—'त्रि' को 'त्रय' (अदन्त) आदेश होता है आम् परे रहते ।

प्रक्रिया—'त्रि' बहुत्व का वाचक है, अतः इसका बहुवचनान्त ही प्रयोग होता है । त्रि—जस् । त्रे अस् । (३५) से गुण । त्रयः । त्रि—शस् । त्री अस् (१ क) से पूर्वसवर्ण दीर्घ । **त्रीन्** (७) से शस् के स् को 'न्' । (८) से पदान्त 'न्' को णत्वनिषेध । त्रि-आम् । त्रय आम् (१६४) । त्रय न् आम् (२५ क) । त्रयानाम् (१६) से दीर्घ । **त्रयाणाम्** । णत्व ।

---

१६४. त्रेस्त्रयः (७।१।५३) ।

त्रि पुं०

प्रथमा—त्रयः । द्वितीया—त्रीन् । तृतीया—त्रिभिः । चतुर्थी—त्रिभ्यः । पञ्चमी—त्रिभ्यः । षष्ठी—त्रयाणाम् । सप्तमी—त्रिषु ।

प्रियास्त्रयो यस्य प्रियाणि वा त्रीणि यस्य स प्रियत्रिः । त्रिशब्द के गुणीभूत होने पर भी 'त्रि' को 'त्रय' आदेश होगा—प्रियत्रयाणाम् । कुछ लोग ऐसा नहीं मानते । 'त्रि-शब्द-सम्बन्धी 'आम्' परे होने पर' ऐसा व्याख्यान करने से गुणीभूत 'त्रि' शब्द सम्बन्धी आम् न मिलने से 'त्रय' आदेश नहीं होगा—प्रियत्रीणाम् । अर्थप्राधान्य बोधक बहुवचन के न पढ़े होने से (सूत्र में त्रि को बहुवचनान्त न पढ़ने से) गौणता में 'त्रय' आदेश निर्बाध होगा । प्रधानता में तो होगा ही—परमत्रयाणाम् । त्रेस्त्रयः (७।१।५३) । अङ्गाधिकारीय है, अतः तदन्तविधि होगी ।

प्रियत्रि

प्र०	प्रियत्रिः	प्रियत्री	प्रियत्रयः
द्वि०	प्रियत्रिम्	,,	प्रियत्रीन्
तृ०	प्रियत्रिणा	त्रियत्रिभ्याम्	प्रियत्रिभिः
च०	प्रियत्रये	,,	प्रियत्रिभ्यः
पं०	प्रियत्रेः	,,	,,
ष०	प्रियत्रेः	प्रियत्र्योः	प्रियत्रयाणाम्
स०	प्रियत्रौ	,,	प्रियत्रिषु
सं०	हे प्रियत्रे	प्रियत्री	प्रियत्रयः

प्रियास्तिस्रो यस्य स प्रियतिसा । यहाँ वक्ष्यमाण (१९५) से त्रि को 'तिसृ' आदेश होगा । (६७) से ऋ को अन् (अनङ्) । प्रियतिस्रौ पुरुषौ । प्रियतिस्रः पुरुषाः । (१९६) से गुण का अपवाद ऋ-स्थानिक रेफ । प्रियतिस्रं कदर्थितं जनं पश्य । तीन प्रियाओं वाले इस दुःखी पुरुष को देख ।

१९५—स्त्रीत्वविवक्षा में त्रि व चतुर् को तिसृ व चतसृ आदेश होते हैं विभक्ति परे होने पर ।

---

१९५. त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ (७।२।९९) ।

१९६—तिसृ, चतसृ के ऋ को रेफ (र्) आदेश होता है अच् परे रहते। यह गुण, दीर्घ, उत्व का अपवाद है। तिसृ-जस्। चतसृ-जस्। (३५) से गुण प्राप्त था।

१९७—तिसृ, चतसृ को नाम् परे रहते दीर्घ नहीं होता। (३६) से ह्रस्वान्त को दीर्घ प्राप्त था।

प्र०—तिस्रः। द्वि०—तिस्रः। तृ०—तिसृभिः। च०—तिसृभ्यः। पं०—तिसृभ्यः। ष०—तिसृणाम् (१९७)। स०—तिसृषु।

प्रियास्त्रयस्त्रीणि वा प्रियाणि यस्याः सा प्रियत्रिः। सूत्र में स्त्रियाम् जो पढ़ा है वह त्रि चतुर् का विशेषण है, साक्षात् श्रुत होने से, अङ्ग का नहीं। स्त्रीत्व के वाचक जो त्रि व चतुर् उन्हें तिसृ, चतसृ आदेश होते हैं। प्रकृत में स्त्रीत्व का वाचक 'प्रियत्रि' है, 'त्रि' नहीं, अतः तिसृ आदेश नहीं हुआ।

त्रि नपुं०

प्र०—त्रीणि। द्वि०—त्रीणि। (२२) से नुम्। (२३) से नान्त की उपधा को दीर्घ।

प्रियास्तिस्रो यस्य तत्कुलं प्रियत्रि। सु व अम् का (४९) से लुक् होने से प्रत्यय-लक्षण के अभाव में (१९५) से तिसृ आदेश नहीं होता। न लुमताङ्गस्य (१।१।६३) के अनित्य होने से लुमान् शब्द (लुक्) से लुप्त होने पर भी प्रत्यय-लक्षण से विभक्ति-निमित्तक कार्य (त्रि को तिसृ) आदेश हो जायगा—प्रियतिसृ कुलम्। प्रिय तिसृ शी। अचि र (१९६) को बाध कर पूर्वविप्रतिषेध से नुम्।—प्रियतिसृणी। शि परे रहते—प्रियतिसृणि। उपधा-दीर्घ।

तृ० ए०—प्रियतिस्रा। प्रियतिसृणा। भाषितपुंस्क होने से (५१) से पुंवद्भाव-विकल्प। आङ् (टा) को 'ना' के अभाव में 'तिसृ' के 'ऋ' को (१९६) से रेफ।

च० ए०—प्रियतिस्रे। प्रियतिसृणे। पं०—प्रियतिस्रः। प्रियतिसृणः। ष० ए०—प्रियतिस्रः। प्रियतिसृणः। ष० बहु०—प्रियतिसृणां कुलानाम्। 'र्' आदेश को बाधकर नुम् प्राप्त हुआ, उसे पूर्वविप्रतिषेध से नुट् होने पर (२६) से दीर्घ।

---

१९६. अचि र ऋतः (७।१।१००)।

१९७. न तिसृचतसृ (६।४।४)।

१९८—षकारान्त, नकारान्त संख्यावाचकों की षट् संज्ञा की है।

१९९—षट्-संज्ञकों से तथा चतुर् शब्द से परे आम् को नुट् आगम हो जाता है। ह्रस्वान्त, नद्यन्त व आबन्त न होने से नुट् प्राप्त नहीं था, अतः विशेष विधान कर दिया है।

प्रक्रिया—सर्वनामस्थान विभक्ति जस् परे होने पर (१३) से चतुर् को 'आम्' आगम होता है। मित् होने से यह अन्त्य अच् चतुर् के 'उ' के अनन्तर होगा—चतु आ र् जस्। चत्वारः। यण्। रुत्व। विसर्जनीय। ष० बहु०—चतुर् आम्। चतुर् नुट् आम्, चतुर्णाम्। णत्व हो जाने पर 'अचो रहाभ्यां द्वे' (८।४।४६) से पाक्षिक द्विर्वचन—चतुर्ण्णाम् ऐसा भी रूप होगा। पूर्वत्रासिद्धीय-मद्विर्वचने—इस परिभाषा का अर्थ है—द्विर्वचन की कर्तव्यता में अन्य कार्य असिद्ध नहीं होता, द्विर्वचन तो असिद्ध हो सकता है। सो यहाँ णत्व (पूर्वत्रा-सिद्धीयकार्य) की दृष्टि में द्वित्व असिद्ध है, अतः पूर्व णत्व होता है, पश्चात् द्वित्व। चतुर्—सु। (२२) से 'रु' के रेफ को ही विसर्ग हो ऐसा नियम होने से चतुर्षु में 'र्' को (जो 'रु' का नहीं) विसर्ग नहीं हुआ। इण् (र्) से परे होने के कारण प्रत्यय के स् को ष्।

चतुर् पुं०

प्र०—चत्वारः। द्वि०—चतुरः। तृ०—चतुर्भिः। च०—चतुर्भ्यः। पं०—चतुर्भ्यः। ष०—चतुर्णाम् (चतुर्ण्णाम्)। स०—चतुर्षु।

प्रियाश्चत्वारश्चत्वारि वा प्रियाणि यस्य स प्रियचत्वाः। आम्। सुलोप। रेफ को विसर्जनीय। आम् विधि के आङ्ग (अङ्गाधिकारीय) होने से तदन्त को भी आम्। सूत्र में (षट् चतुर्भ्यश्च में) चतुर् से जो बहुवचन निर्देश किया है उससे अर्थप्राधान्य विवक्षित है। अतः परमचतुर्णाम् (परमाश्च ते चत्वारश्च, तेषाम्) में नुट् होगा, और चतुर् अर्थ के गौण होने से 'प्रियचतुराम्' (बहुव्रीहि)—यहाँ नहीं होगा।

प्रियचतुर् (पुं०)

प्र०	प्रियचत्वाः	प्रियचत्वारौ	प्रियचत्वारः
द्वि०	प्रियचत्वारम्	"	प्रियचतुरः

---

१९८. ष्णान्ता षट् (१।१।२४)।

१९९. षट्चतुर्भ्यश्च (७।१।५५)।

तृ०	प्रियचतुरा	प्रियचतुर्भ्याम्	प्रियचतुर्भिः
च०	प्रियचतुरे	,,	प्रियचतुर्भ्यः
पं०	प्रियचतुरः	,,	,,
ष०	,,	प्रियचतुरोः	प्रियचतुराम्
स०	प्रियचतुरि	,,	प्रियचतुर्षु
सं०	प्रियचत्वः	प्रियचत्वारौ	प्रियचत्वारः

सम्बुद्धि में (१३३) से 'अम्' होता है, आम् नहीं।

स्त्रीत्ववाचक चतुर् को 'चतसृ' आदेश होता है विभक्ति परे रहते (१९५)। 'तिसृ' की तरह रूप होंगे—

चतसृ

प्र०—चतस्रः। द्वि०—चतस्रः। तृ०—चतसृभिः। च०—चतसृभ्यः। पं०—चतसृभ्यः। ष०—चतसृणाम्। स०—चतसृषु।

२००—नान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ होता है 'नाम्' परे होने पर।

२०१—षट्-संज्ञकों से परे जस् तथा शस् का लुक् हो जाता है।

चतुर् (नपुं०)

प्र० चत्वारि द्वि० चत्वारि शेष पुंवत्।

'शि' सर्वनामस्थान है, अतः आम् आगम हुआ।

पञ्चन्

प्र०—पञ्च। द्वि०—पञ्च। (२०१) से जस् तथा शस् का लुक होने पर (४५) से न्-लोप। तृ०—पञ्चभिः। हलादि असर्वनामस्थान परे रहते पूर्व की पद-संज्ञा होने से (४५) से न् का लोप। च०—पञ्चभ्यः। पं०—पञ्चभ्यः। ष०—पञ्चानाम्। पञ्चन्—आम्। पञ्चन् नुट् आम्। पञ्चन् नाम्। 'नाम्' से पूर्व की पद-संज्ञा होने से (४५) से न्-लोप। पञ्च-नाम्। (२००) से दीर्घ होकर 'पञ्चानाम्' यह परिनिष्ठित रूप सिद्ध हुआ। पञ्चन्—सु। पञ्चसु। न्-लोप के असिद्ध होने से (१३) से चकारोत्तरवर्ती 'अ' को एत्व नहीं हुआ।

लुक्-नुट् विधायक दोनों शास्त्रों षड्भ्यो लुक्, षट्चतुर्भ्यश्च में बहुवचन का निर्देश होने से जहां अर्थ-प्राधान्य हो वहीं लुक्, नुट् होते हैं, गौणता होने पर नहीं—परमपञ्च। (परमाश्च ते पञ्च च)। परमपञ्चानाम्। गौणता में—

२००—नोपधायाः (६।४।७)।

२०१—षड्भ्यो लुक् (७।१।२२)।

प्रियपञ्चा। प्रियपञ्चानौ। प्रियपञ्चानः। प्रियपञ्चनाम्। अल्लोपोऽनः से अन् के 'अ' का लोप। लोप होने पर चकार नकार का योग उत्पन्न हो जाता है, जिस से श्चुत्व विधि से 'न्' को ञ्।

पञ्चन् की तरह सप्तन्, नवन्, दशन् के रूप होंगे।

षष् षकारान्त है, अतः षट्-संज्ञक है। (१०१) से जस्, शस् का लुक् हो जाने पर जश्त्व और पाक्षिक चर्त्व होकर षट्-ड् रूप होगा। तृ०—षड्भिः (जश्त्व)। च०—षड्भ्यः। पं०—षड्भ्यः। ष०—षण्णाम्। षष्—आम्। षष् नुट् आम् (१९९)। षष् नाम्। षड्-नाम् (जश्त्व)। असर्वनामस्थान हलादि विभक्ति परे होने पर पूर्व की 'पद' संज्ञा है। न पदान्ताट्टोरनाम् में 'नाम्' का पर्युदास होने से ष्टुत्व से षड् णाम्। प्रत्यये भाषायां नित्यम् से ड् को नित्य अनुनासिक—षण्णाम्। षष्—सु। षट्—सु। षट्त्सु (धुट् आगम)।

२०२—'अष्टन्' को आकार अन्तादेश होता है हलादि विभक्ति परे होने पर। यद्यपि सूत्र में विकल्प-विधायक कोई शब्द नहीं, तो भी यह विकल्प-विधि है ऐसा हम ज्ञापक से जानते हैं। अष्टनो दीर्घात् (६।१।१७२)—इस स्वरसूत्र में दीर्घ ग्रहण ज्ञापक है। दीर्घान्त जो अष्टन् उससे परे असर्वनाम-स्थान विभक्ति उदात्त होती है। इससे ज्ञापित होता है कि अष्टन् अदीर्घान्त भी रहता है।

२०३—अष्टन् से परे जस्, शस् के स्थान में औश् (औ) आदेश होता है। शित् होने से यह आदेश सारे जस् व शस् के स्थान में होता है। अनेकाल्-शित्सर्वस्य (१।१।५५)। सूत्र में अष्टाभ्यः में आत्व निर्देश ज्ञापक है कि हलादि विभक्ति न होने पर भी जस्, शस् परे वैकल्पिक 'आत्व' होता है। अन्यथा लाघव के लिए 'अष्टभ्यः' ऐसा पढ़ते। आत्वं यत्र तु तत्रौश्त्वं तथा ह्यस्य ग्रहः कृतः ऐसा श्लोकवार्तिक है। जहाँ 'आत्व' वहाँ औश्त्व।

अष्टन्

प्र०—अष्ट—अष्टौ। द्वि०—अष्ट—अष्टौ। तृ०—अष्टभिः—अष्टाभिः। च०—अष्टभ्यः—अष्टाभ्यः। पं०—अष्टभ्यः—अष्टाभ्यः। ष०—अष्टानाम्। स०—अष्टसु—अष्टासु।

---

२०२. अष्टन आ विभक्तौ (७।२।८४)।

२०३. अष्टाभ्य औश् (७।१।२१)।

प्रिया अष्टौ यस्य स प्रियाष्टा । प्रियाष्टानौ । अष्टन् अर्थ की गौणता में आत्व नहीं होता—**प्रियाष्टानः** । राजन् की तरह रूप होंगे । शस् परे रहते **प्रियाष्ट्नः** ऐसा रूप होगा । अचः परस्मिन्पूर्वविधौ (१।१।५७) इस सूत्र में पूर्वविधि का पूर्वस्माद् विधिः यह अर्थ भी माना जाता है । प्रियाष्टन्—शस् । अल्लोप, जो पर=शस्-निमित्तक है स्थानिवत् हो जाता है पूर्व (ट्) के कारण जो परविधि(न् को ष्टुत्व)उसकी कर्तव्यता में । अतः व्यवधान होने से टवर्ग और तवर्ग का योग न होने से ष्टुत्व नहीं होता । प्रियाष्ट्नः । पूर्वाचार्यों के अनुसार कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् इस पक्ष में त्रैपादिक अन्तरङ्ग कार्य (प्रकृत में ष्टुत्व) की कर्तव्यता में भी बहिरङ्ग परिभाषा (जो षाष्ठी है) प्रवृत्त होती है, उससे बहिरङ्ग कार्य (शस् को मानकर अल्लोप) असिद्ध रहता है, अतः ष्टुत्व नहीं होता । ननु **पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्** इसी वचन से पूर्वत्रासिद्धीय कार्य ष्टुत्व की कर्तव्यता में अल्लोप स्थानिवत् नहीं होगा । नहीं । **तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु**— इस वचन से स्थानिवद्भाव रहेगा । टा-प्रभृति परे रहते प्रियाष्ट्ना, प्रियाष्ट्ने इत्यादि ।

वस्तुतः प्रियाष्टन् आदि शब्द शिष्टाप्रयुक्त हैं और व्याकरण शास्त्र शिष्ट-प्रयुक्त शब्दों का अन्वाख्यानमात्र है, अतः **'यथालक्षणमप्रयुक्ते'** इस वार्तिक के अनुसार अप्रयुक्त शब्दों में लक्षण की अप्रवृत्ति की योग्यता है । **लक्षण-स्याभावोऽलक्षणम् । तस्य योग्यता यथाऽलक्षणम्** (अव्ययीभावः), यही व्याख्या अधिक मान्य है । इसलिये प्रियाष्टन् आदि का अनभिधान होने से इनके विषय में आत्वादि-प्रवृत्ति-विचार व्यर्थ है, यही निष्कर्ष है ।

शास्त्र में डतिप्रत्ययान्त की संख्या संज्ञा की है—**बहुगणवतुडति संख्या** (१।१।२३) । और डतिप्रत्ययान्त की षट्संज्ञा भी की है—**डति च** (१।१।२५)। कति (कितने), यति (जितने), तति (तितने) डतिप्रत्ययान्त हैं, अतः (२०१) से जस् व शस् का लुक् होगा—**कति यूयं स्थ?** तुम कितने हो? **यति यूयं तत्यहं सर्वान्वेद,** जितने हो, तुम सब को जानता हूँ । **यति पुरुषास्तति स्त्रियस्तत्र संनि-हिताः,** जितने पुरुष उतनी स्त्रियाँ वहाँ उपस्थित हुईं । कति आदि से स्त्रीत्व-विवक्षा में किसी भी स्त्रीप्रत्यय की प्राप्ति नहीं । अतः ये स्वरूप से ही यथा-विवक्षम् स्त्रीत्व को कहते हैं । नपुंसकलिङ्ग में भी जस्, शस् का लुक् होने से 'शि' आदेश नहीं होता और पुं० की तरह रूप होते हैं—**कति ते पुस्तकानि ?** तेरे पास कितनी पुस्तकें हैं ? **यति ते पुस्तकानि,** जितनी तेरे पास हैं । **कति**

वर्षाणि तत्र विवत्ससि ? तू वहाँ कितने बरस रहना चाहता है? **यति वर्षाणि ते विवत्सा तत्येव मे,** जितने बरसों तक तेरे (वहाँ) रहने की इच्छा है, उतने ही बरस तक मेरी रहने की इच्छा है।

प्र०—**कति** । द्वि०—**कति** । तृ०—**कतिभिः** । च०—**कतिभ्यः** । पं०—**कतिभ्यः** । ष०—**कतीनाम्** । स०—**कतिषु** । इसी प्रकार यति, तति के रूप जानें।

विंशति, एकविंशति इत्यादि त्यन्त स्त्रीलिङ्ग संख्यावचनों के रूप 'मति' की तरह होंगे—**विंशतिः** । **विंशती** । **विंशतयः** इत्यादि । त्रिंशत्, एकत्रिंशत् आदि शदन्त स्त्रीलिङ्ग संख्यावचनों के रूप हलन्त सरित् (स्त्री०) की तरह जानें—**त्रिंशत्** । **त्रिंशतौ** । **त्रिंशतः** । **त्रिंशतम्** । **त्रिंशतौ** । **त्रिंशतः** इत्यादि ।

स्मरण रहे संख्येय को कहते हुए त्रिंशत् आदि नवनवति पर्यन्त एकवचन में ही प्रयुक्त होते हैं। **त्वं मे विंशतिं मुद्रा धारयसि, अर्थवानपि किं न विगणयसि,** तू ने मेरे २०) देने हैं, पैसा होते हुए भी क्यों नहीं चुकाते ? **अत्र विद्याशाले प्रथमायां कक्षायां नवनवतिश्छात्राः सन्तीतीदं क्षिप्रं वर्धिष्यते,** इस विद्यालय में प्रथम कक्षा में ९९ छात्र हैं, अतः यह जल्दी बढ़ेगा।

इति सुबन्तेषु सङ्ख्यावचनानि व्याकृतानि ।

सुबन्तरूप-प्रक्रिया यहाँ परिसमाप्त होती है। अब इन सुबन्तों को प्रयोगस्थ दिखाने के लिये और तत्तद्विभक्त्यन्त रूपों के व्यक्ततर परिचय के लिये साहित्योद्धृत कुछ सन्दर्भ दिये जाते हैं—

मामनु प्र ते मनः पथा वारिव धावतु (ऋ० १०।१४५।६), तेरा मन मेरी ओर ऐसे दौड़े जैसे (निम्न) मार्ग से जल।

याच्ञादैन्यपराञ्चि यस्य कलहायन्ते मिथस्त्वं वृणु
त्वं वृण्वित्यभितो मुखानि स दशग्रीवः कथं कथ्यताम् ।

(मुरारि)

उस दशग्रीव (रावण) से कैसे कहा जाय जिसके दीनता तथा प्रार्थना से पराङ्मुख मुख, तू माँग, तू माँग, इस प्रकार परस्पर झगड़ते हैं।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

प्रजापति ने इन्द्रियों के गोलक बाहिर को खुलते हुए काटे हैं, अतः पुरुष (स्वभाव से) बाहिर को देखता है, अन्तरात्मा में दृष्टि नहीं डालता।

पराचः कामाननुयन्ति बाला-
स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशान् । (कठ० ३०२।१।२)

अज्ञानी लोग बाह्य अभिलषित पदार्थों के पीछे भागते हैं, वे सर्वत्र व्यापी मृत्यु के फाँसों में बन्ध जाते हैं ।

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया (अथर्व० ३।३०।३) ।

संगत होकर, समानकर्मा होकर कल्याणी वाणी बोलो ।

विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके ।
उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः ।। (विवेकचूडामणि)

कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय—इन दोनों का विषयों से हटाकर जो अपने-अपने गोलक में नियन्त्रित करना है, इसे 'दम' कहते हैं ।

यद्वात्मानं सकलवपुषामेकमन्तर्बहिस्थं
दृष्ट्वा पूर्णं खमिव सततं सर्वभाण्डस्थमेकम् ।
नान्यत्कार्यं किमपि च ततः कारणाद् भिन्नरूपं
निस्त्रैगुण्ये पथि विहरतां को विधिः को निषेधः ।।

अथवा आत्मा को सकल शरीरों के भीतर बाहिर ऐसे पूर्ण देखकर जैसे एक अखण्ड आकाश सर्वदा सर्व पात्रों में विद्यमान होता है, कारण (ब्रह्म) से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ कार्यरूप नहीं रहा, इस अवस्था में त्रिगुणातीत मार्ग में विचरण करने वाले हम लोगों के लिए विधि क्या और निषेध क्या ?

अन्ये साम प्रशंसन्ति व्यायामपरे जनाः (भा० १२।६२१) । कुछ लोग शान्ति की प्रशंसा करते हैं, दूसरे युद्ध की ।

एभिर्भूतैः स्मर कति कृताः स्वान्त ! ते विप्रलम्भाः, हे मेरे मन ! याद करो कितनी बार तुझे इन भौतिक पदार्थों ने ठगा है ।

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट् (ऋ० १०।१५९।३), मेरे पुत्र शत्रुघाती हैं और मेरी पुत्री विराट् है ।

अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु (ऋ० १०।१०३।११), हमारे पुत्रादि ऊपर (=अभिभावी) हों ।

अहो वस्तुनि मात्सर्यमहो भक्तिरवस्तुनि (कथा स० २।१।४९), आश्चर्य है सार वस्तु के प्रति द्वेष और असार के प्रति भक्ति ।

आ देवो ददे बुध्न्या वसूनि
आ समुद्रादवरादा परस्मात् (ऋ० ७।६।७),

देव ऊपर और नीचे समुद्र के मूल (अन्तस्तल) में विद्यमान वस्तुओं को ग्रहण करता है।

न बोधादपरः सखा, ज्ञान को छोड़कर दूसरा साथी नहीं।

अध्वर्यो द्रावया त्वं सोमम् इन्द्रः पिपासति (ऋ० ६।४।११), हे अध्वर्यु ! सोम रस बहाओ, इन्द्र पीना चाहता है।

इमे धान्यस्य मातारश्चिरं माने प्रवृत्ता अपि न श्राम्यन्ति, ये धान के तोलने वाले चिर तक तोलते हुए भी नहीं थकते।

तयोर्यत्सत्यं यतरदृ ऋजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् (ऋ० ७।१०४।१२), उन दो में जो सत्य है और जो सरल (निश्छल) है सोम उसकी रक्षा करता है और जो मिथ्या है उसका नाश करता है।

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरे भरे (ऋ० १।१०२।४)। हम तुझ साथी के साथ घेरा डालने वाले शत्रु को जीतें। हरेक युद्ध में तू हमारे भाग की पूर्णरूप से रक्षा कर।

ते नः सन्तु युजः सदा वरुणो मित्रो अर्यमा (ऋ० ८।७२।२), वरुण मित्र तथा अर्यमा नित्य हमारे साथी हों।

इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जम् (ऋ० १०।१०२।६), वृषभ के इस साथी को देखो।

शार्दूलस्य गुहां शून्यां नीचः क्रोष्टाऽभिमर्दति (भा०१।७७५०), सिंह की सूनी गुहा को क्षुद्र गीदड़ मसल रहा है।

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम्॥ (याज्ञ० १।२००)।

केवल विद्या से अथवा तपश्चर्या से (ब्राह्मणादि की दानादि के लिये पात्रता (योग्यता) नहीं होती। जहाँ ये दोनों हों और साथ ही सदाचार भी हो, वही पात्र कहलाता है।

योगेऽन्यासां प्रजानां मनः क्षेमेऽन्यासाम् (तै० सं० ४।२।१।७), कुछ लोगों का मन योग (अप्राप्त की प्राप्ति) में लगता है, और कुछ का क्षेम (प्राप्त की रक्षा) में।

जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी (ऋ० ४।५३।६), जो चरा-चर विश्व का नियन्ता है।

जहि प्रतीचो अनूचः पराचः (ऋ० ३।३०।६)। अभिमुख आते हुए, पीछा करते हुए तथा भागते हुए शत्रुओं को मार दे।

ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः (वा० सं० १०।८, ३२।२), ऋचाएँ सीधे फैले हुए तन्तु हैं और यजु दाएँ वाएँ।

ब्रह्म वर्म ममान्तरम् (अथर्व० १।१९।४) ब्रह्म मेरा भीतरी कवच है।

देवाश्च वा असुराश्चास्पर्धन्त। नेमे देवा आसन्नेमेऽसुराः (मै० सं० २।९), देवता और असुरों में सङ्घर्ष हुआ। आधे देवता थे. आधे असुर।

दद्भिरपूपस्य नापच्छिन्द्यात् (आप० घ० १।१६।१७)। पूए का दाँतों से टुकड़ा न काटे।

वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः (याज्ञ० १।१), वर्ण आश्रम तथा संकीर्ण जात्यादियों के समस्त धर्मों का हमारे लिए व्याख्यान कीजिये।

महाप्रस्थानकाले स्वसन्तापसन्तानमाप्तहृदयेषु संचारयन्तम् अरतिपरिगृहीतम्, ईर्ष्यया इव छायया मुच्यमानम्, उद्योगमिवोपद्रवाणां सर्वास्त्रमोक्षमिव क्षामतायाः, हस्तीकृतं विहस्ततया, विषयीकृतं वैषम्येण, क्षेत्रीकृतं क्षयेण, गोचरीकृतं ग्लान्या, दष्टं दुःखासिकया, आत्मीकृतमस्वास्थ्येन, विधेयीकृतं व्याधिना, क्रोडीकृतं कालेन, लक्ष्यीकृतं दक्षिणाशया, पीतमिव पीडाभिः, जग्धमिव जागरेण, निगीर्णमिव वैवर्ण्येन, ग्रासीकृतं गात्रभङ्गेन, ह्रियमाणमिव विपद्भिः, वण्ट्यमानमिव वेदनाभिः, दत्तावकाशं क्लेशस्य, निवासं वैमनस्यस्य, समीपे कालस्य, अन्तिकेऽन्त्योच्छ्वासस्य, द्वारि दीर्घनिद्रायाः, जिह्वाग्रे जीवितेशस्य वर्तमानम्, विरलं चेतसि, विह्वलं वपुषि, क्षीणमायुषि, गृहीतचामरिकयापि निःश्वसितैरेव वीजयन्त्या आर्यपुत्र स्वपिषि इति व्याहरन्त्या देव्या यशोवत्या शिरसि वक्षसि च स्पृश्यमानं पितरमद्राक्षीत्।

इति सुबन्तप्रकरणमवसितम्।

अव्ययप्रकरणम्

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ।। (गोपथ ब्रा०)।

तीनों लिङ्गों में, सातों विभक्तियों में, सभी वचनों में जो शब्द-रूप बदलता नहीं, वह 'अव्यय' कहलाता है। व्यय नाम परिवर्तन का है। सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं, अतः सभी विनाशी हैं, केवल आत्मा अविनाशी है, अतः उसे 'अव्यय' कहते हैं। चिरकालस्थायी वस्तु को भी उपचार से अव्यय कह दिया जाता है—अकीर्ति चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् (गीता २।३४)।

१—स्वर् आदि शब्द (गणपठित) तथा निपात-संज्ञक शब्द अव्यय-संज्ञक होते हैं। स्वर् आदि सत्त्व व असत्त्व यथासंभव दोनों के वाचक होते हैं। 'च' आदि निपात केवल असत्त्वाची होते हैं, अतः दोनों का भेद से ग्रहण किया है।

२—'च' आदि की निपात संज्ञा होती है जब 'च' आदि असत्त्ववाची हों। चादयोऽसत्त्वे (१।४।५७) से अधिरीश्वरे (२।४।९७) तक के सूत्रों में पढ़े हुए 'च' आदि की निपात संज्ञा की है। इससे २२ प्र, परा आदि शब्दरूपों की निपात संज्ञा सिद्ध होती है। निपातसंज्ञक होने से उपसर्ग अव्यय हैं। इससे आगे ऊरी आदि, च्वि, डाच्, अनुकरण शब्द (जो इतिपरक न हो), आदर-अनादर-वाची सत्, असत्, भूषणार्थक अलम् आदि निपात पढ़ें हैं जिनकी क्रियायोग में गति संज्ञा की है।

३—ऐसा तद्धितान्त शब्द जिससे सारी विभक्ति (तीनों वचन) नहीं उत्पन्न होती वह अव्यय-संज्ञक होता है। सूत्र में सर्व शब्द सर्वः पटो दग्धः यहाँ की तरह अवयवकात्स्न्यं (अवयवों की सम्पूर्णता=साकल्य) को कहता

---

१. स्वरादिनिपातमव्ययम् (१।१।३७)।
२. चादयोऽसत्त्वे (१।४।६७)।
३. तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१।१।३८)।

है।—यतः। ततः। यत्र। तत्र। सर्वदा। यदा। तदा। यहाँ यतः, ततः में पञ्चम्यन्त यद्, तद् से स्वार्थिक तसिल् प्रत्यय होता है। द्वित्वादि की आकाङ्क्षा न होने से केवल प्रथमा एकवचन ही उत्पन्न होता है और वह भी औत्सर्गिक होता है, एकत्व संख्या का वाचक नहीं (एकवचन 'सु' का वक्ष्यमाण 'अव्ययादाप्सुपः' से लुक् हो जाता है)। यत्र, तत्र में सप्तम्यन्त यद्, तद् से त्रल् प्रत्यय होता है और सर्वदा, यदा, तदा में सप्तम्यन्त सर्व, यद्, तद् से 'दा' प्रत्यय होता है। इन सब में वस्तुमात्र निर्देश में औत्सर्गिक प्रथमा एकवचन के अतिरिक्त वचनान्तर का प्रसङ्ग ही नहीं।

४—जो मकारान्त कृत्प्रत्यय तथा एजन्त (एच् अन्त) कृत् प्रत्यय, तदन्त शब्दरूप की अव्यय संज्ञा होती है—स्वादुंकारं (णमुल्) भुङ्क्ते। स्मारं स्मारं (णमुल्) नमति शिवम्। वक्षे रायः। वच् से 'से' प्रत्यय। छान्दस प्रयोग है, लौकिक नहीं।

५—क्त्वा, तोसुन्, कसुन्—ये कृत्प्रत्यय हैं। प्रथम का लोक में व्यवहार है, तोसुन्, कसुन् का नहीं। ये दोनों छान्दस हैं। क्त्वाद्यन्त शब्द-रूप अव्यय होते हैं—क्त्वा—स्नात्वा भुङ्क्ते। तोसुन् (तोस्)—पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः (सूर्य के उदय होने से पूर्व अग्न्याधान करना चाहिए)। उदेतोः=उद्-इण्-तोसुन्। पुरा वत्सानामपाकर्तोः, बछड़ों को गौओं से जुदा करने से पूर्व। अपाकर्तोः =अप आङ् कृ—तोसुन्। कसुन् (अस्)—पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्। (वा० स० १।२८), हे विष्णो! नानायोध-युत युद्ध से पूर्व (सुनो)।

६—अव्ययीभाव समास अव्यय संज्ञक होता है। प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति। अग्निमभिमुखीकृत्य। अव्ययीभाव के अव्यय होने से सुप् का लुक्।

७—उपसर्गप्रतिरूपक तथा विभक्तिप्रतिरूपक शब्द-रूपों की भी अव्यय संज्ञा की है। प्रतिरूपक=सदृश। सादृश्य शब्दतः हो अथवा अर्थतः। 'अव' को उपसर्ग सदृश अनुपसर्ग मान कर 'अवदत्तम्' में 'अच उपसर्गात्तः' से 'दा' के 'आ' को 'त्' नहीं हुआ। अहंयुः। यहाँ 'अहम्' यह सुबन्तप्रतिरूपक अव्यय है।

---

४. कृन्मेजन्तः १।१।३९)।
५. क्त्वा-तोसुन्-कसुनः (१।५।८)।
६. अव्ययीभावश्च (१।१।४१)।
७. उपसर्ग-स्वर-विभक्ति-प्रतिरूपकाश्च (ग० सू०)।

त्वामस्मि वच्मि । यहाँ 'अस्मि' यह अहमर्थ में तिङन्त-प्रतिरूपक अव्यय है। अस्तिमान्=धनवान् । यहाँ भी 'अस्ति' धनवाची तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है । गेये केन विनीतौ वाम् (रा०) । यहाँ 'वाम्'—यह 'युवाम्'—के अर्थ में सुबन्तप्रतिरूपक अव्यय है ।

जैसे पूर्व कह आये हैं स्वर् आदि शब्द यथासंभव सत्त्व असत्त्व के वाचक होते हैं—स्वः पश्यति (स्वर्गं लोकं पश्यति) । स्वस्तिष्ठति (स्वर्गे लोके तिष्ठति) । इस प्रकार कर्मादि विभक्तियां देखी जाती हैं । 'स्वर्' सुखविशेष का भी वाचक है—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥

वह सुख स्वःशब्दवाच्य है जो न तो दुःखमिश्रित हो, जो (तात्कालिक दुःख से सम्पृक्त न होने पर भी) कालान्तर में दुःख से ग्रस्त (आक्रान्त) न हो और जो सहज में ही अनायास इच्छा होते ही प्राप्त हो ।

'अथ' स्वर् आदियों में भी पढ़ा है और निपातों में भी । स्वरादि पाठ से सत्त्ववाचक होने पर भी अव्यय है—

उदस्य कुम्भीरथ शातकुम्भजाश्चतुष्कचारुत्विषि वेदिकोदरे ।
यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्ध्रिवर्गः स्नपयाम्बभूव ताम् ॥
(नैषध १५।१९)

अथ स्नपयाम्बभूव । मङ्गलस्नपनं चकारेत्यर्थः ।

अब हम यहाँ प्रायेण प्रयोगावतीर्ण अव्ययों का अर्थनिर्देश करते हुए साहित्योद्धृत उदाहरणों का अनुक्रम करते है, जिससे विद्यार्थी को इनका प्रयोगविषयक निर्भ्रान्त ज्ञान तथा शिष्ट-जुष्ट वाक्सरणि के अनुसरण में यथेष्ट चातुरी प्राप्त हो सके । निपातों द्वारा अर्थाभिधान में जो लाघव (संक्षेप) तथा सौन्दर्य उपजता है वह तत्स्थानापन्न तिङन्तादि से कहाँ ? अतः निपातार्थ को सुग्रह बनाने के लिए यह प्रयत्न किया जा रहा है ।

यावत्—तावत्

अवधि अर्थ में—यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।

आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ।।
(भर्तृ० ३।७५)

जब तक यह शरीर स्वस्थ है और रोग-रहित है, जब तक वृद्धत्व दूर है, जब तक इन्द्रियों की शक्ति अक्षत है, (और) जब तक आयु क्षीण नहीं हुई (अर्थात् जीवनकाल समाप्त नहीं हुआ), तब तक प्राज्ञ पुरुष को अपने कल्याण के लिए महान् प्रयत्न करना चाहिए, घर में आग लगने पर तो कूआँ खोदने का प्रयत्न किस काम का ?

तावद् वरस्यापि कुबेरशैले तत्पूर्वपाणिग्रहणानुरूपम् ।
प्रसाधनं मातृभिरादृताभिर्न्यस्तं पुरस्तात्स्मरसाधनस्य ।
(कुमार० ७।३०)

उतने में कुबेर पर्वत पर वर द्वारा प्रथम वार किए गए पाणिग्रहण के सदृश प्रसाधन (अलंकार) को आदरयुक्त ब्राह्मी आदि दिव्य सात माताओं ने कामविजयी (भगवान् शिव) के सामने रखा ।

आ रङ्काद् भूपतिं यावदौचितीं न विदन्ति ये, जो कङ्गाल से लेकर राजा तक के प्रति व्यवहार औचित्य नहीं जानते ।

प्रथितः प्रणयवतीनां तावत्पदमातनोतु हृदि मानः ।
भवति न यावच्चन्दनतरुसुरभिर्मलयपवमानः ।। (भर्तृ०२।८५)

प्रणयिनी (प्रेमवती) ललनाओं का बढ़ा हुआ मान हृदय में भले ही तब तक घर करे जब तक चन्दन तरु से वासित मलयमारुत नहीं चलता है ।

मूलाच्छाखां यावत्प्रकाण्डः, मूल (जड़) से शाखा तक (वृक्ष का भाग) 'प्रकाण्ड' कहलाता है । सखे स्थिरप्रतिबन्धो भव, अहं तावत्स्वामिनश्चित्त-वृत्तिमनुवर्तिष्ये (शाकुन्तल), हे मित्र तुम दृढ़ता से विरोध करो, उतने में मैं स्वामी के चित्त के अनुकूल व्यवहार करूँगा । आश्रमवासिनो यावदवेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः (शाकुन्तल), जब तक मैं आश्रमवासियों को देखकर लौटता हूँ तब तक घोड़ों को पृष्ठ-स्नान कराइये ।

प्रजानां न परं चक्रे यः पितेवानुपालनम् ।
यावद् गुरुरिव ज्ञानमपि स्वयमुपादिशत् (कथास० २७।१४) ।।

उसने न केवल पिता की तरह प्रजाओं का पालन किया, बल्कि (यहाँ तक कि) गुरु की भान्ति उन्हें शिक्षा भी दी ।।

साकल्य (सम्पूर्णता) अर्थ में—तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारं...राजमार्गं प्राप (रघु० ७।४), नये पूर्णरूप से प्रसारित पुष्पादि से सत्कृत राजमार्ग को (वर) प्राप्त हुआ।

अवधारण (इयत्तानिश्चय) अर्थ में यावत्—यावदन्नं ब्राह्मणा भोज्यन्ताम्, जितने पात्र हैं उतने ही ब्राह्मणों को खिलाइए।

प्राथम्य अर्थ में तावत्—त्वमेव तावत्प्रथमो राजद्रोही (मुद्रा०), निश्चित ही तुम ही पहले राजद्रोही हो।

अचिरकर्तव्य अर्थ में यावत्—रथमुपस्थापय, यावदारोहामि, रथ लाइए, मैं अभी चढ़कर जाऊँगा।

यदा-तदा अर्थ में यावत्-तावत्—यावदुत्थाय निरीक्षते तावद्धंसोऽवलोकितः (हितोपदेश), जब उठकर इधर उधर देखता है, तब हंस दृष्टिगोचर होता है।

यथा, यथा—तथा

यद्-समानार्थक, वाक्यार्थ में—विदितं खलु ते यथा स्मरः क्षणमप्युत्सहते न मां विना (कुमार० ४।३६), तुम्हें विदित ही है कि काम मेरे विना क्षण भर भी नहीं रह सकता। अकथितोऽपि ज्ञायत एव यथायमाभोगस्तपोवनस्येति, विना बतलाए भी यह जाना जा सकता है कि यह तपोवन का विस्तार है।

प्रयोजन अर्थ में—दर्शय तं चौरसिंहं यथा व्यापादयामि (पञ्चतन्त्र), उस चोर सिंह को मुझे दिखा, जिससे (ताकि) मैं उसे मार दूँ।

हेतूपपत्ति में—यथा इतोमुखमागतैरपि कलकलः श्रुतस्तथा तर्कयामि ......(मालती०), चूँकि इधर आए हुए भी हमने यह शब्द सुना है, इससे मेरा अनुमान है......।

> सरस्यामेतस्यामुदरवलिवीचिविचलितं
> यथा लावण्याम्भो जघनपुलिनोल्लङ्घनपरम्।
> यथा दृश्यश्चायं चलनयनमीनव्यतिकर-
> स्तथा मन्ये मग्नः प्रकटकुचकुम्भः स्मरगजः॥

चूँकि इस तालाब में उदरवलिरूपी तरङ्गों से क्षुभित हुआ लावण्यरूपी जल जघनरूपी पुलिन (तट) को लाँघने को है, चूँकि चञ्चल नेत्ररूपी मीनों का यहाँ व्यतिकर (सम्बन्ध) दीख रहा है, इससे मैं समझता हूँ कि काममातङ्ग दृश्यमान कुच (वक्षोज, स्तन)—रूप कुम्भसे सनाथित, इसमें अवगाहन कर गया है।

सदृश अर्थ में—**मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वाम्** (मेघ०), अनुकूल (पृष्ठगामी) वायु धीरे-धीरे तुझे सदृशतया (भावी काल के अनुरूप) धकेल रहा है। **यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन** (बृहदा० उ० ४।५।३), (हे मैत्रेयि!) जैसे लोकयात्रार्थ साधन-सम्पन्न लोगों का जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन होगा। मोक्ष (अमरत्व) की तो धन से आशा नहीं की जा सकती। **आसीदियं दशरथस्य गृहे यथा श्रीः** (उ० रा० च०), यह (सीता) दशरथ के घर में लक्ष्मी की तरह थी।

यावत्-तावत् अर्थ में—**भारो न बाधते राजन् यथा बाधति बाधते**, हे राजन्, आप द्वारा प्रयुक्त 'बाधति' शब्द जितना कष्ट दे रहा है, उतना उठाया हुआ भार नहीं दे रहा। यहाँ 'तथा' छोड़ दिया गया है। पाठान्तर भी है—**न तथा बाधते शीतं यथा बाधति बाधते। ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा कुमुद्वतीं दिवसः** (शाकुन्तल), दिन चाँद को जितना क्षीण करता है, उतना कुमुदिनी को नहीं।

उद्देश व निर्देश अर्थ में—**तथा भव यथा तात त्रैलोक्योदरदर्पणे।**
विशेषैर्भूषितस्तैस्तैर्नित्यमात्मानमीक्षसे॥

हे प्रिय, ऐसे बन जाओ, कि त्रिलोकी-रूपी दर्पण में अपने आप को नित्य ही उस-उस विशेषता से भूषित हुए देखो। **यथा बन्धुजनशोच्या न भवति तथा निर्वाह्य** (शाकुन्तल), ऐसा निर्वाह करो कि (यह शकुन्तला) बन्धुओं द्वारा शोचनीय न हो। **तथा प्रयतेथा यथा नोपहस्यसे बन्धुजनैः** (कादम्बरी), ऐसा यत्न करो कि बन्धुजन तेरी हंसी न उड़ाएँ। **वारणावतमद्यैव यथा यासि तथा कुरु** (भा० १।४५।७), ऐसा करो जिससे तुम आज ही वारणावत जा सको।

निदर्शन (दृष्टान्त) अर्थ में—**यथा कूपस्य खनिता यथा प्रासादकारकः**, जैसे कूएँ का खोदने वाला और जैसे महल का बनाने वाला (पुरुष अपने कर्म से नीचे जाता है और ऊपर उठता है)।

यदि, तर्हि अर्थ में—**वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे।**
तथा विश्वम्भरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि॥
(रघु० १५।८१)

हे भूतधारिणी देवी ! यदि मैंने मन वाणी व कर्म से पति के विषय में व्यभिचार (स्खलन) नहीं किया है (जो कि तथ्य है), तो तू मुझे अपनी गोद में छिपा ले।

यथा-यथा

उत्तरोत्तर अर्थ में—**यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।**
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ।।
(मनु० ४।२०)

ज्यों-ज्यों पुरुष शास्त्रार्थ का ग्रहण करता है त्यों-त्यों वह विज्ञानवान् होता है और उसका विज्ञान चमकता है।

यथायथम्, यथातथम्

एक-एक करके, अपना-अपना—**असक्तमाराधयतो यथायथम्,** आसक्ति-रहित होकर एक-एक करके (जुदा-जुदा) (त्रिगण=धर्म अर्थ काम का) सेवन करते हुए इसका।

पृष्टोऽसौ सर्वं वृत्तं यथातथमुपावर्णयत्, पूछे जाने पर उसने सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक बता दिया।

तथाहि

'कारण कि', 'इस लिये' अर्थ में—**तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना ।**
तथा हि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफला गुणाः
(रघु० १।२९) ।।

निश्चय ही विधाता ने उसे (दिलीप को) पञ्च भूतों को एकत्र करके बनाया, इसी लिये तो उसके समस्त गुण दूसरों के लिये थे। **तथा ह्यसति संमोहे हृदयं सीदतीव मे** (रा० २।७१।३१), क्योंकि बिना मूर्छा के भी मेरा हृदय बैठ रहा है।

तथेति

स्वीकृति अर्थ में—**तथेति शेषामिव भर्तुराज्ञामादाय मूर्ध्ना मदनः प्रतस्थे ।**
(कुमार० ३।२२)

यह स्वीकार कर मदन (कामदेव) स्वामी की आज्ञा को माला की तरह सिर पर धारण कर चल पड़ा।

यद्—तद्

जिस कारण से, इस लिये—

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः ।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते (भर्तृ० १।२९) ।।

चूंकि अचेतन सूर्यकान्त भी सूर्य की किरणों से छुआ हुआ जलने लगता है, अतः तेजस्वी पुरुष दूसरों से किये गये तिरस्कार को कैसे सहे ॥

केवल यद् का प्रयोग—

प्रियमाचरितं लते त्वया मे गमनेऽस्याः क्षणविघ्नमाचरन्त्या ।
यदियं पुनरप्यपाङ्गनेत्रा परिवृत्तार्धमुखी मयाद्य दृष्टा ॥

(विक्रम० १।१६)

हे लते, इसके मार्ग में क्षणभर विघ्न करती हुई तू ने मेरा उपकार किया है, कारण कि आधा चेहरा इधर किये हुई तथा नेत्रप्रान्त से देखती हुई इसका आज मुझे दोबारा दर्शन प्राप्त हुआ ।

विना तद् के इसी अर्थ में बहुल प्रयोग है—**किं शेषस्य भरव्यथा न वपुषि क्ष्मां न क्षिपत्येष यत्** (मुद्रा० २।१८), क्या शेषनाग के शरीर में भार उठाने की पीड़ा नहीं होती जो यह पृथिवी को नीचे नहीं फेंकता ?

यद्वत्

प्रश्नार्थ में—**पुरोर्यद्वत् परीवादं तं कद्वद इवावदः**, क्या तू ने एक निन्दक की तरह पुरु के विषय में उस निन्दावचन को (नहीं) कहा ?

यत्सत्यम्

अमङ्गलाशंसया वो वचनस्य यत्सत्यं कम्पितमिव मे हृदयम् (वेणी० १) । सच पूछो तो आपके वचन से अमङ्गल की आशंसा से मेरा हृदय कांप उठा है।

यदपि

यद्यपि अर्थ में—**वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशाम्** (मेघ०), यद्यपि उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किये हुए तेरे लिये उज्जयिनी को जाना टेढ़ा पड़ता है ।

यतः

जिस कारण—**उवाच चैनं परमार्थतो हरं न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम्** (कुमार० ५।७५), (उमा ने) उस (ब्रह्मचारी को) कहा—तू शिव को ठीक-ठीक नहीं जानता जो तू ने मुझे ऐसा कहा है । **कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि दासजनं यतः** (विक्रम०), तू मुझ में कौन सा तनिक अपराध देखती है कि मुझ दास को छोड़ रही है ।

यतः—ततः

जिधर, उधर अर्थ में—यतो धर्मस्ततो जयः (गीता), जिधर धर्म है, उधर ही जय है।

इधर-उधर, सर्वत्र—यतस्ततः षट्चरणोऽभिवर्तते (शाकुन्तल), इधर-उधर सभी ओर भँवरा मेरी ओर मँडरा रहा है।

यतः—यतः

जहाँ-जहाँ अर्थ में—यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु (वा० सं० ३६।२२), जहाँ-जहाँ तू चाहता है वहाँ-वहाँ हमारे लिये अभय कर।

'उससे' अर्थ में—प्राप्ताः श्रियः कामदुघास्ततः किम् (भर्तृ० ३।७३)। मनोरथ पूर्ण करने वाली लक्ष्मी को प्राप्त भी कर लिया, तो उससे क्या ?

ततः—ततः

चारों ओर अर्थ में—ततो दिव्यानि माल्यानि प्रादुरासंस्ततस्ततः (भा०), तब दिव्य मालायें चारों ओर प्रकट हुईं।

'इसके पीछे क्या' अर्थ में—(नाटकादि में) ततस्ततः।

अतः

'इस से' अर्थ में—भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः (शाकुन्तल), इससे आगे भाग्याधीन है, उसे वधू के बन्धुओं को नहीं कहना है।

'इसलिये' अर्थ में—अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवानतोऽभिधास्ये (रघु० २।४३), आप प्राणियों के मनकी बात को पूरी तरह से जानते हैं, इसलिये कहूँगा।

इतः

इधर, 'इस ओर' अर्थ में—इतो वसति केशवः पुरमितस्तदीयद्विषाम्, एक ओर (समुद्र में ही) विष्णु का निवास है, एक ओर उसके शत्रु दैत्यों का।

इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम् (कुमार० २।५५), इधर से ही (मुझ से ही) इस दैत्य ने ऐश्वर्य को प्राप्त किया है, इधर से (मुझसे) ही नाश के योग्य नहीं।

अमुतः

'उस लोक में' अर्थ में—इतश्च यदमुतश्च यद् वधं वरुण यावय (अथर्व० १।२०।३), इस लोक में तथा परलोक में जो हिंसा है, उसे हे वरुण परे करो। इतश्चामुतश्चावताम् (अथर्व० १८।३।६८), तुम दोनों इस लोक व परलोक में मेरी रक्षा करो।

कुतः

'किस कारण' अर्थ में—उद्घाटितनवद्वारे पञ्जरे विहगोऽनिलः ।
यत्तिष्ठति तदाश्चर्यं प्रयाणे विस्मयः कुतः ।।

(इस) खुले हुए नौ-द्वार-वाले (देहरूपी) पिंजरे में वायु (—प्राण) रूपी पक्षी का ठहरना विस्मयजनक है, इसके प्रयाण में विस्मय कैसा ?

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।। (गीता)

हे अर्जुन ! इस संकट में यह मोह तुझे कैसे आगया, जो अनार्यों द्वारा सेवित है, जो स्वर्ग प्राप्ति में हितकर नहीं और जो अपयश करने वाला है ।

'कहाँ से' अर्थ में—कुतो भवान् ? पाटलिपुत्रात्, आप कहाँ से आए हैं? पाटलिपुत्र से ।

यत्र—तत्र

जहाँ-तहाँ—प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः (भर्तृ०), प्रायः जहाँ कहीं भाग्यहीन पुरुष जाता है, वहीं आपत्तियां जाती हैं ।

यदि

यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः (हितोप०), यत्न करने पर भी कार्यसिद्धि न हो तो क्या दोष है ? सन्तश्चेदमृतेन किं यदि खलस्तत्काल-कूटेन किम्, यदि सत्पुरुषों का सान्निध्य प्राप्त है तो अमृत से क्या काम? यदि खल-संगति है तो मारक विष से क्या काम ?

वस्तुकथन में—नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् (भर्तृ०), यदि उल्लू दिन में नहीं देखता (जैसी कि वस्तुस्थिति है), तो सूर्य का क्या दोष है ?

संभावना अर्थ में—लक्ष्मणो नाम तस्याहं भ्राता त्ववरजो हितः ।
अनुकूलश्च भक्तश्च यदि ते श्रोत्रमागतः ।। (रा०)

मैं राम का छोटा भाई हूँ, जो उस का हितकारी अनुकूल और भक्त हूँ, हो सकता है आप ने मेरे विषय में सुना हो ।

यदि परम्

'केवल' अर्थ में—किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः (उ० रा० च०), उस (सीता) की कौन सी बात प्यारी नहीं, केवल उसका वियोग विशेष रूप से असह्य (अत्यन्त दुःखदायी) है ।

'शायद' अर्थ में—पुरुषद्वेषिणी सा च विवाहं नाभिवाञ्छति ।
त्वय्युपेते यदि परं भविष्यति तदर्थिनी (कथास०
४२।१६) ॥

वह पुरुषमात्र से द्वेष करती है अतः उसे विवाह की इच्छा नहीं, शायद तेरे समीप आने पर उसे विवाह की इच्छा हो जाय ॥

यद्यपि

यद्यपि का नो हानिः परकीयां चरति रासभो द्राक्षाम् ।
असमञ्जसमिति कृत्वा तथापि खिद्यते नश्चेतः ॥ (उदयनाचार्य)

यद्यपि हमारा कुछ नहीं बिगड़ता (जब) गधा दूसरे की अंगूर की बेल को खा रहा है, तो भी यह अनुचित है ऐसा जान कर हमारा चित्त दुःखी होता है ।

यदा

यदि अर्थ में—पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किम् (भर्तृ०) यदि करीर वृक्ष में पत्ते नहीं आते, तो क्या वसन्त का दोष है ?

जिस समय में, जब—यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ (गीता)

जब-जब धर्म घट जाता है और अधर्म बढ़ जाता है तब हे भारत, मैं शरीर धारण करता हूँ ।

यदा—तदा

यदा किञ्चिज्ज्ञोहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः (भर्तृ०) ॥

जब मैं कुछ ही जानता था मैं हाथी की तरह मस्ती से अन्धा होगया । तब मैं सब कुछ जानता हूँ यह समझ कर मेरा मन घमंड से भर गया । (पर) जब विद्वानों से कुछ-कुछ सीखा तब मैं मूर्ख हूँ यह जानकर मेरी मस्ती ज्वर की तरह उतर गई ॥

तर्हि

'तो' अर्थ में—यद्युपतप्तो ब्रह्मचारी गुरुं नोपास्ते तर्हि न दोषाय, यदि ब्रह्मचारी अस्वस्थ होने से गुरु की सेवा में नहीं जाता, तो कोई दोष नहीं ।

सदा

सब काल में, नित्य—मन्दो प्यविरतोद्योगः सदा विजयभाग्भवेत्, निरन्तर उद्योग करने वाला चाहे धीरे-धीरे कार्य करे नित्य विजयी होता है।

सर्वदा

सदा अर्थ में—शारदा शारदाम्भोजवदना वदनाम्बुजे।
सर्वदा सर्वदाऽस्माकं सन्निधिं सन्निधिं क्रियात्॥ (मल्लि०)

शरदृतु के कमल के सदृश मुखवाली, सब कुछ प्रदान करने वाली भगवती सरस्वती हमारे मुखकमल में सुन्दर निधि-सदृश अपनी सन्निधि (सान्निध्य) करे।

कदा

'कब' अर्थ में—इयं कदा नु गन्ता यैवं पादौ निदधाति, यह कब पहुँचेगी, जो इस तरह पग धरती है!

कदा वाराणस्याममरतटिनीरोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम्।
अये गौरीनाथ त्रिपुरहर शम्भो त्रिनयन
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥(भर्तृ० ३।१२३)

वाराणसी में सुरधुनी (गङ्गा) के तट पर निवास करता हुआ, कौपीन धारण किये हुए, सिर पर अञ्जलि बाँधे हुए कब मैं हे पार्वतीपते, हे त्रिपुरारे, हे शम्भो, हे त्र्यम्बक, कृपा करो—इस प्रकार चिल्लाता हुआ अपने दिनों को आँख की झपक की तरह बिताऊँगा?

कदाचन

'कभी' अर्थ में—तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ (विदुर०)

तृणासन, भूमि, जल और चौथी सत्यप्रिय वाणी—ये (चार) पदार्थ सत्पुरुषों के घर में कभी भी परिसमाप्त (नष्ट) नहीं होते।

कदाचित्

'कभी' अर्थ में—आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन (मनु०२।५४)। ब्रह्म के आनन्द-स्वरूप को जानता हुआ कभी नहीं डरता।

कदाचित्—कदाचित्

'कभी-कभी' अर्थ में—कदाचिदध्ययने व्याप्रियते कदाचित्क्रीडायां रमते,

अहो अस्य चापलम्, कभी पढ़ने में लग जाता है, कभी क्रीड़ा में निरत हो जाता है, कितना चञ्चल है।

कर्हि

'कब' अर्थ में—मन्ये नेतः संनिहितं ते प्रस्थानम्, कर्हि प्रतिष्ठाससे, मैं जानता हूँ आप यहाँ से जल्दी जाने वाले नहीं हैं, कब प्रस्थान करने की इच्छा है?

कर्हिस्वित् तदिन्द्र यज्जरित्रे विश्वप्सु ब्रह्म कृणवः शविष्ठ (ऋ० ६।३५।३)। हे बली इन्द्र, तू कब अपने स्तोता के लिए विपुल अन्न प्रदान करेगा?

कर्हिचित्

'कभी' अर्थ में—अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥

(मनु० २।४)

इस लोक में कामना-रहित पुरुष की कोई चेष्टा नहीं देखी जाती, जो कुछ भी करता है वह (सभी) कामना की प्रेरणा है॥

यर्हि—तर्हि

जब-तब—सुषिरो वै पुरुषः स वै तर्ह्येव सर्वो यर्ह्याशितः (मैत्रायणी सं० ३।६।२), मनुष्य निश्चय ही भीतर से खोखला है, वह तभी पूर्ण हो जाता है (भर जाता है) जब खाकर तृप्त हो जाता है।

कथम्

'कैसे', 'क्योंकर' अर्थ में—सानुबन्धाः कथं न स्युः सम्पदो मे निरापदः (रघु० १।६४)। निरापद मुझ (दिलीप) की सम्पत्ति निरन्तर कैसे न हो। कथमात्मानं निवेदयामि कथं वात्मापहारं करोमि (शाकुन्तल), मैं अपने को प्रकट कैसे करूँ अथवा कैसे छिपाऊँ?

सम्भ्रम अर्थ में—कथं समायाता एव तातपादाः, क्या पूज्य पिता जी आ ही गए हैं। कथं मामेवोद्दिशति (शाकुन्तल), क्या मेरा ही नाम ले रहा?

कथमपि

'कठिनता से' अर्थ में—तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतोः (मेघ० ३), अभिलाषकारक उस मेघ के सामने ज्यों त्यों खड़े होकर।

'कभी ही' अर्थ में—कथमपि भुवनेऽस्मिंस्त्वादृशाः संभवन्ति (मालती०), तेरे जैसे इस लोक में कभी ही उत्पन्न होते हैं।

कथं कथमपि

'ज्यों त्यों' अर्थ में—कथं कथमप्युत्थाय चलितः (पञ्चतन्त्र)। ज्यों-त्यों उठकर चल पड़ा।

कथंचित्, कथंचन

'कठिनाई से'—कथं चिदीशा मनसां बभूवुः (कुमार० ३।३४), बड़ी मुश्किल से अपने मनों पर वश पा सके। न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन (मनु० ४।११), (ब्राह्मण) आजीविका के लिए कैसी भी कठिनाई क्यों न हो, लोकवृत्त (मिथ्याप्रिय बातें कहना आदि) का अनुसरण न करे।

इत्थम्

'इस प्रकार' अर्थ में—इत्थंगते किमस्माभिः करणीयम् (शाकुन्तल), ऐसी स्थिति होने पर हमें क्या करना चाहिए? इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे, जब कमलकोषस्थ भ्रमर इस प्रकार सोच रहा था। 'इत्थम्भूत' इत्यादि शब्दों में इत्थम् का इमं प्रकारम् ऐसा अर्थ होता है। यह वृत्ति की महिमा है। भूत=प्राप्त।

यथा कथा च

यह अव्ययसमुदाय अनादर अर्थ में प्रयुक्त है, पर इसका स्वतन्त्रतया प्रयोग न होकर तद्धितान्त रूप में ही प्रयोग देखा जाता है—यथाकथाच दीयते क्रियते वा याथाकथाचम्।

आरात्

दूर अर्थ में—आराच्छत्रोः सदा वसेत्, शत्रु से नित्य दूर रहे। आरात्संकसुकाच्चर (अथर्व० ८।१।१२), शव-भक्षक अग्नि से परे चल। ग्रामादारादारामः, ग्राम के समीप उपवन है। सम्प्रीतान् स्थापयेदारात्, विश्वस्त लोगों को अपने समीप रखे।

'आरात्'—यह वस्तुतः 'आर' का पञ्चम्यन्त रूप है। वेद में 'आर' प्रायः दूरार्थक है, और इसका सप्तम्यन्त के रूप में बहुल प्रयोग देखा जाता है—आरे देवा द्वेषो अस्मद् युयोतन (ऋ० १०।६३।१२), हे देवो! हमारे से द्वेष को दूर भगाइए। आरे द्वेषांसि सनुतर् दधाम (ऋ०५।४५।५), हम नित्य ही शत्रुओं को दूर रखें। आरात् का भी प्रचुर प्रयोग है—आराच्छत्रुमपबाधस्व दूरम् (ऋ० १०।४२।७), हमारे से शत्रु को दूर भगाइए। आराच्चित्सन्

भयतामस्य शत्रुः (ऋ० १०।४२।६), इसका शत्रु दूर होता हुआ ही (इससे) डरे।

ऋते

बिना अर्थ में—ऋते कृशानोर्नहि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम् (कुमार० १।५५), अग्नि को छोड़ दूसरे तैजस पदार्थ मन्त्रपूत हवि के योग्य नहीं। ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः (माघ० १।३८), सूर्य के बिना रात के तमः संघात(=घने अन्धेरे) से मलिन आकाश को कौन धोकर निर्मल बना सकता है?

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुःष्यन्त इति घुष्यताम्॥ (शाकुन्तल)

ऐसी घोषणा की जाय कि प्रजाओं का जिस-जिस प्रिय बन्धु से वियोग होता है उस-उसके स्थान में उनके लिए दुष्यन्त है, पापात्मा को छोड़कर। शूलं नर्ते (न ऋते)ऽनिलाद्, दाहः पित्ताच्छोफः कफोदयात् (अष्टाङ्ग० सूत्र २६।६), शूल(दर्द) बिना वायु प्रकोप के नहीं होता, जलन पित्त की अधिकता के बिना नहीं होती, शोथ (सूजन) बिना कफ-वृद्धि के नहीं होती। नाहमिन्द्राणि रारण (=रराण) सख्युर्वृषाकपेर्ऋते (ऋ० १०।८६।१२), हे इन्द्राणी, मैं अपने सखा विष्णु के बिना प्रसन्न नहीं हूँ।

विना

को रसो गोरसं विना, गोक्षीर को छोड़कर दूसरा कौन-सा रस है? नास्ति चेष्टा विना हिंसाम्, बिना हिंसा के कोई प्रवृत्ति संभव नहीं। तान् प्रादेशमात्रं विना परिलिखति (श० ब्रा० ३।५।४।५), उनके इर्द-गिर्द प्रादेश-मात्र भूमि को छोड़कर रेखा खींचता है। न होढेन विना चौरं घातयेद् धार्मिको नृपः, जब तक चोर के पास से चोरित द्रव्य (लोप्त्र) न मिल जाय, तब तक चोर को धार्मिक राजा वधदण्ड न दे। विना मलयमन्यत्र चन्दनं न प्ररोहति (पञ्चत० १।४२), मलयपर्वत से अन्यत्र चन्दन नहीं उगता।

न शौरिणा विना पार्थो न शौरिः पाण्डवं बिना (भा० सभा० २०।१४), पार्थ (अर्जुन) कृष्ण के बिना नहीं रह सकता, और कृष्ण अर्जुन के बिना नहीं।

विना वातं विना वर्षं विद्युत्प्रपतनं विना।
विना हस्तिकृतान्दोषान्केनेमौ पातितौ द्रुमौ॥

आँधी नहीं आई, वृष्टि नहीं हुई, विजुली नहीं गिरी, हाथी ने कोई तोड़-फोड़ भी नहीं की, तो ये दो वृक्ष किसने गिरा दिए ?

पङ्कैर्विना सरो भाति सदः खलजनैर्विना ।
कटुवर्णैर्विना काव्यं मानसं विषयैर्विना ॥ (भा० वि० १।११६)

सदः=सभा । शेष स्पष्ट है ।

पाको नास्ति विना वीर्याद् वीर्यं नास्ति विना रसात् ।
रसो नास्ति विना द्रव्याद् द्रव्यं श्रेष्ठमतः स्मृतम् ॥ (सुश्रुत)

अन्तरा

भीतर से—भवद्भिरन्तरा प्रोत्साह्य कोपितो वृषलः (मुद्रा० ३), आपने भीतर से (अन्दरूनी रूप से) वृषल (चन्द्रगुप्त) को प्रोत्साहित करके प्रकुपित कर दिया है ।

मध्य में—त्रिशङ्कुरिवान्तरा तिष्ठ (शाकुन्तल), त्रिशंकु की तरह बीच में (द्युलोक व पृथिवी के बीच में) लटको । मैनमन्तरा प्रतिबधान (शाकुन्तल ६), इसे बीच में मत रोको ।

अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति (मनु० १०।१०), अयोग्य खेत में छोड़ा हुआ (बोया हुआ) बीज उसके अन्दर ही नष्ट हो जाता है । विलम्बेथां च मान्तरा (महावीर० ७।२८), आप दोनों बीच में मत ठहरें ।

तत्र यद्यन्तरा मृत्युर्यदि सेन्द्रा दिवौकसः ।
स्थास्यन्ति तानपि रणे काकुत्स्थो विहनिष्यति ॥ (रा०)

यहाँ अन्तरा स्था का अर्थ 'विरोध करना' है । श्लोकार्थ है—उस युद्ध में यदि अन्तक अथवा इन्द्रनेतृक देवता भी विरोध करेंगे, उन्हें भी काकुत्स्थ राम मौत के घाट उतार देगा ।। अन्तरा चारणेभ्यस्त्वदीयं जयोदाहरणं श्रुत्वा त्वामिहस्थमुपागतः (विक्रम० १), बीच में ही (मार्गमध्य में ही) दिव्य गायकों से तुम्हारे जय-काव्य को सुनकर तुम्हारे पास यहाँ आया हूँ । नाद्याच्चैव तथान्तरा (मनु० २।५६), प्रातः और सायं भोजन के बीच में कुछ न खाये । पञ्चालास्त इमे...कलिन्दतनयां त्रिस्रोतसं चान्तरा(बा०रा०१०।८६), गंगा और यमुना के बीच में यह पञ्चाल देश है । अन्तरा प्रातराशं सायमाशं तथैव च । सदोपवासी भवति यो न भुङ्क्ते कदाचन ।। (बौ० ध० २।७।१४। १२), प्रातः भोजन और सायं भोजन के बीच में जो नहीं खाता वह नित्य उपवासी ही होता है । दिवं च पृथिवीं चान्तरान्तरिक्षम्, द्युलोक और पृथिवी

लोक के बीच में अन्तरिक्ष है। त्वां च मां चान्तरा महदन्तरम्, तेरे और मेरे बीच में बड़ा भेद है। ते (नामरूपे) यदन्तरा तद् ब्रह्म (छां० उ०), वे (नाम-रूप) जिसके बीच में हैं वह ब्रह्म है। अन्तरा कथां न कथके प्रश्नः कार्यः, कथा के बीच में (जब कथा कही जा रही है), कथक से प्रश्न नहीं करना चाहिये। अन्तरा निषधं नीलं च विदेहाः (हैम), निषध तथा नील पर्वतों के बीच में विदेह देश है।

बिना अर्थ में—न च प्रयोजनमन्तरा चाणक्यः स्वप्नेऽपि चेष्टते (मुद्रा० ३), चाणक्य प्रयोजन के बिना स्वप्न में भी चेष्टा नहीं करता।

सदृश अर्थ में—न द्रक्ष्यामः पुनर्जातु धार्मिकं राममन्तरा (रा०), हम राम सदृश धार्मिक पुरुष फिर कभी नहीं देखेंगे।

अन्तराऽन्तरा

बीच-बीच में, कभी-कभी—अन्तरा पितृसक्तमन्तरा मातृसम्बद्धमन्तरा शुकनासमयं कुर्वन्नालापम् (कादम्बरी), कभी पिता के विषय में, कभी माता के विषय में, कभी शुकनास के विषय में बात चीत करते हुए। प्रजानुराग-हेतोश्चान्तराऽन्तरा दर्शनं ददौ (दशकु०) प्रजाओं की भक्ति के कारण वह कभी-कभी उन के सामने उपस्थित हुआ।

अन्तरेण

बिना अर्थ में—प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः (न्यायभाष्य), प्रमाण के बिना अर्थबोध (पदार्थ का ज्ञान) नहीं होता। अथापीदमन्तरेणार्थप्रत्ययो न स्यात् (निरुक्त), और इस (निरुक्तशास्त्र) के बिना मन्त्रार्थबोध नहीं हो सकता। क्रियान्तरान्तरायमन्तरेणार्यं द्रष्टुमिच्छामि (मुद्रा० ३), कार्यान्तर में विघ्न न हो तो मैं आर्य चाणक्य से भेंट करना चाहता हूँ। मार्मिकः को मर-न्दानामन्तरेण मधुव्रतम् (भा० वि० १।११७), भ्रमर को छोड़कर दूसरा कौन पुष्प-रस के मर्म को जानने वाला है?

मध्य में, बीच में, के विषय में—हविर्धानमन्तरेण (भा० द्रोण० १४३। ७१), हव्यगृह के बीच में। अन्तरेण गन्धमादनं माल्यवन्तं चोत्तराः कुरवः (हैम), गन्धमादन और माल्यवान् पर्वतों के बीच में 'उत्तर-कुरु' देश का संनिवेश है। अन्तरेण सुस्निग्धा एषा (मृच्छक०), भीतर से यह मेरे प्रति प्रेमवती है। अथ भवन्तमन्तरेण कीदृशोऽस्या दृष्टिरागः (शाकुन्तल, २) कहिये

आप के प्रति इसका चक्षूराग कैसा था ? किन्तु मामन्तरेण चिन्तयति वैश-म्पायनः (कादम्बरी), मेरे विषय में वैशम्पायन का कैसा विचार है ?

नाना

बिना अर्थ में—नाना नारीं निष्फला लोकयात्रा, बिना स्त्री के लोकयात्रा निष्फल है। नाना विष्णुं मोक्षदो नास्ति देवः, (वोपदेव), विष्णु के बिना दूसरा देव मोक्षदायक नहीं।

पृथक् अर्थ में—विश्वं न नाना शम्भुना (वोपदेव), (यह) जगत् शम्भु से पृथक् नहीं। अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः (कठ उ० १।२।१), श्रेय और है, प्रेय और है, ये दोनों पुरुष को भिन्न-भिन्न अर्थों में बाँधते हैं। नाना हि वां देवहितं सदः कृतम् (वा० सं० १९।७), तुम दोनों के लिये देवताओं से नियत भिन्न-भिन्न स्थान (धिष्ण्य) बनाया है।

नाना हि त्वा हवमाना जना इमे धनानां धर्तरवसा विपन्यवः (ऋ० १। १०२।५), हे धनों के दाता (इन्द्र), भिन्न-भिन्न ये लोग स्तुति करते हुए तुझे रक्षा के निमित्त बुला रहे हैं। अवहतांस्त्रिः फलीकृतान् नाना श्रपयेत् (आश्व० गृ० १।८।९), धान को कूट तीन बार (निस्तुष करके) कण को पृथक् करके जुदा (पात्रों में) पकाये।

ऋधक्

पृथक्, अकेला—किं स ऋधक् कृणवद्यं सहस्रं मासो जभार शरदश्च पूर्वीः (ऋ० ४।१८।४), वह अकेला क्या करेगा (उसके प्रति) जिसको सहस्र मासों तथा अतीत वर्षों ने धारण किया ?

हिरुक्

विना अर्थ में—हिरुक् कर्म न मोक्षः स्यात्, बिना कर्म के मोक्ष दुर्लभ है।

समीप अर्थ में—पर्वतस्य हिरुङ् नदी, पर्वत के समीप नदी है।

तिरोहित अर्थ में—य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् (ऋ० १।१६४।३२), जो इसे बनाता है वह इसे नहीं जानता, (और) जो इसे देखता है उससे वह वस्तुतः छिपा हुआ है।

अभितः

समीप अर्थ में—वाराणसीमभितो भागीरथी, वाराणसी के समीप गङ्गा बहती है। अभितश्चागतं प्रेम्णा प्रत्याख्यातुं न माऽर्हसि (भा० वन० २९५। ११), प्रेमवश पास आए हुए मुझको आप ठुकराइये नहीं। अभितश्चापि

गन्तव्यं मया स्वर्गं द्विजोत्तम (भा० वन० २।६।६), हे द्विजश्रेष्ठ, मुझे अभी-अभी स्वर्ग जाना है। तस्यास्तु खल्विमानि लिंगानि प्रसूतिकालमभितो भवन्ति (चरक, शरीरस्थान ८।३६), उसके प्रसूतिकाल के निकट ये चिह्न प्रकट होते हैं। श्मशानमभितो गत्वा (भा० विराट० ३८।५), श्मशान के समीप जाकर। ततो राजाऽब्रवीद्वाक्यं सुमन्त्रमभितः स्थितम् (रा० १।११।४), तब महाराज दशरथ ने समीपस्थ (अथवा अभिमुख बैठे) सुमन्त्र को कहा। पम्पा नामाभितो वापी (रा० ३।७५।६७), पम्पा नाम की वापी पास में है। मा स्म रोदीः शिशो ! अभित आयाति तेऽम्बा, हे बच्चे मत रो, तेरी माता अभी आ रही है। आभिमुख्य अर्थ में—अभितो हिंसको हन्तुं मामेव परिधावति, वधक मेरी ओर ही मारने को दौड़ा आ रहा है।

दोनों ओर 'उभयतः' अर्थ में—अभितः कुरु चामरौ। 'चामर' प्रायः नपुंसक है। पादपैः पुष्पपत्राणि सृजद्भिरभितो नदीम् (रा०), नदी के दोनों ओर पुष्प पत्र बिखेरते हुऐ वृक्षों से।

'सर्वतः' अर्थ में—परिजनो यथाव्यापारं राजानमभितः स्थितः (मालविका), परिजन (परिचारक लोग) अपने-अपने कार्य में लगे हुए राजा के चारों ओर खड़े हुए।

सर्वतः

'चारों ओर' अर्थ में—सर्वतः सम्पदः सतः, सत्पुरुषों के चारों ओर सम्पत्तियाँ आती हैं।

परितः

'चारों ओर' अर्थ में—परितः पतन्ति दुष्कृतो विपदः, दुष्टों के चारों ओर विपत्तयाँ आती हैं। आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गाः (भा० वि०) पतंगे आकाश के चारों ओर व्याप्त हो गये।

समया

समीप अर्थ में—वि सिन्धवः समया सस्रुरद्रिम् (ऋ० १।७३।६), पर्वत के समीप नदियाँ बहती हैं। समयाऽस्तमयं नभोऽभ्रितमभूत्, सूर्यास्त के समीप आकाश मेघाच्छन्न हो गया। गुणदोषाभिव्यक्तिर्वचसां संजायते सतः समया, विद्वानों के निकट वाणी के गुण दोष प्रकट हो जाते हैं।

निकषा

समीप अर्थ में—निकषा यमुनां राजंस्ततो युद्धमवर्तत (हरिवं० १६०३८),

हे राजन्, तब यमुना नदी के समीप युद्ध हुआ। विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति (शिशु० १।६८), (क्या आप को स्मरण है कि) आपने (समुद्र) पार कर लङ्का के समीप उसे नाश किया ?

सह

'साथ' अर्थ में—शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित् प्रलीयते (कुमार० ४।३३), चाँद के साथ ही चाँदनी चली जाती है, मेघ के साथ ह विजुली तिरोहित हो जाती है। एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वी निवृत्तिः। एक सूत्र में उच्चारित पदों की अनुवृत्ति तथा निवृत्ति एकसाथ होती है (ऐसा नहीं कि कुछ की हो और कुछ की न हो)।

सम्बन्ध, संसर्ग, संगति अर्थ में—

पण्डितैश्च विनीतैश्च धर्मज्ञैर्नयशालिभिः।
तिष्ठेद्धि वन्धनस्थोऽपि न तु राज्ये खलैः सह ॥

चाहे वन्धन (कैद) में भी पड़ा हो, पण्डितों, विनीत, धर्मज्ञ, नीतिमान् लोगों की संगति में रहे, राज्य में भी दुर्जनों की संगति में नहीं।

यौगपद्य में—रघु र्भृशं वक्षसि तेन ताडितः
पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः।

रघु उससे छाती में आहत हुआ भूमि पर गिरा, और उसी समय सैनिकों के आँसू भी गिरे।

विद्यमान अर्थ में—सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी, गधी दस पुत्रों के होते हुए भी बोझा उठाती है।

साकम्

साथ अर्थ में—यान्ती गुरुजनैः साकं स्मयमानाननाम्बुजा (भा० वि० २।१३२), गुरुजनैः साकम्=वड़ों के साथ।

एक साथ, युगपत् अर्थ में—शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः (अथर्व० १६। १३), इन्द्र ने एकसाथ सौ सेनाओं को जीता।

सार्धम्

साथ अर्थ में—उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः (रघु० १४।६३), पहले उपस्थित हुई लक्ष्मी (राज्यश्री) को परे फेंककर तुम

मेरे साथ बन को आये । नाश्नीयाद् भार्यया सार्धम् (मनु० ४।४६), पत्नी के साथ बैठकर भोजन न करे ।

समम्

'साथ' अर्थ में—अत्यन्तमेवं सदृशेक्षणवल्लभाभिर्

आहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः । (शाकुन्तल १।२४), अथवा समाननेत्रवाली (अत एव) प्रिय मृगियों के साथ नित्य वास करेगी !

'एक साथ' अर्थ में—नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्वियोगाश्रु समं विसृष्टम् (रघु० १४।२३), (यह वही स्थान है) जहाँ मेघों ने नव वर्षाजल छोड़ा और मैं ने भी तेरे वियोग के कारण आँसू बहाये ।

'एक बराबर' अर्थ में—यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम्, जिस प्रकार पृथिवी सब भूतों को समभाव से धारण करती है ।

धिक्

धिक्कार अर्थ में—धिक् त्वां जाल्म ! हे असमीक्ष्यकारिन्, तुझे धिक्कार हो । धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम् (रा० १।५६।२३), क्षत्रिय बल को धिक्कार हो, ब्रह्मतेजरूपी बल ही बल है । धिक् तां च मदनं च इमां च मां च (भर्तृ० २।२) ।

नमस्

'नमस्कार' अर्थ में—नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यः (ऋ० १।२७।१३), (देवताओं में) बड़े और छोटे(सभी)देवों को नमस्कार हो । नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु (कठ उ०), हे ब्राह्मण ! तुझे नमस्कार हो और मेरा कल्याण हो । नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मः (बृ०उ० ३।१।२), याज्ञवल्क्य कहता है—हम ब्रह्मिष्ठ (ब्रह्मवेत्ता) को नमस्कार करते हैं । नमः समस्मात्पूर्वस्मा अन्तरस्मा अमेधसाम् (मुग्धबोध), सब के आदिभूत अज्ञानियों से बाह्य (अगम्य) ब्रह्म को नमस्कार हो ।

स्वस्ति

'कल्याण' अर्थ में—स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्योऽस्तु (रा० ३।२३।२८), गौओं और ब्राह्मणों का भला हो ! निवर्त्य मां स्वस्ति गताः स्वयूथ्याः (अमर टीकाकार सर्वानन्द), मुझे लौटाकर मेरे झुंड के साथी सुख पूर्वक चले गये । यहाँ

'स्वस्ति' क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। स्वस्ति स्वप्नोपमेभ्यः कृपणेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्यः (योग सूत्र ३।५१ का भाष्य), स्वप्न सदृश, क्षुद्र तथा क्षुद्रजनों द्वारा अभिलषणीय विषयो तुम्हारा भला हो।

स्वाहा

सुहुत, हवि—अग्नये स्वाहा (अग्निदेव) को हवि। सोमाय स्वाहा, सोम देवता को हवि।

स्वधा

'अन्न' अर्थ में—पितृभ्यः स्वधा, पितरों को अन्न। इसे कव्य भी कहते हैं।

अलम्

भूषण अर्थ में—अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः (विक्रम० १), अभिमान-राहित्य निश्चय ही शौर्य का भूषण है। वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते (भर्तृ०), एक वाणी मनुष्य को शोभायुक्त करती है जो वाणी कि संस्कृत (=परिष्कृत) हो।

पर्याप्ति—तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै (रघु० २।३९), यह (गौ) मुझ भूखे को तृप्त करने के लिए पर्याप्त है। अलमियद्भिः कुसुमैः (=एतावन्ति कुसुमानि पर्याप्स्यन्ति), इतने फूल पर्याप्त होंगे। अलं मल्लो मल्लाय (भाष्य), एक मल्ल दूसरे मल्ल के लिए पर्याप्त है। अलं कुमार्या अयं(=कुमार्यै अयं)कुमारः, यह कुमार इस कुमारी के योग्य है। अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रैः (मेघ०), इसे तू सहस्रों जलधाराओं से पर्याप्त रूप से (पूर्णतया) शान्त कर दे। यहाँ अलम् क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ऐसे ही—त्वमपि विततयज्ञः स्वर्गिणः प्रीणयालम् (शाकुन्तल ७।३४), तू भी निरन्तर यज्ञ-याग द्वारा देवताओं को अत्यन्त प्रसन्न करो। यो गच्छत्यलं विद्विषतः प्रति सोऽभ्यमित्र्यो-ऽभ्यमित्रीयोऽभ्यमित्रीण इत्यपि (अमर), जो शत्रुओं का पूर्ण रूप से सामना करता है, उसे अभ्यमित्र्य, अभ्यमित्रीय तथा अभ्यमित्रीण कहते हैं। यहाँ भी।

शक्ति अर्थ में—त्रयाणामपि लोकानामलमस्मि निवारणे (रा०) मैं तीनों लोकों को नष्ट करने को समर्थ हूँ। अलं भोक्तुम्, खाने में समर्थ। वरेण शमितं लोकानलं दग्धुं हि तत्तपः (कुमार० २।५५) उस (तारक) का तप लोकों को

जलाने में समर्थ था, उसे वर से शांत कर दिया गया। **ग्रन्थानधीत्य व्याख्यातुमिति दुर्मेधसोप्यलम्** (शिशु० २।२६)। ग्रन्थों को पढ़कर इस प्रकार मूर्ख भी व्याख्या कर सकते हैं।

निषेध अर्थ में—**अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्** (रघु० २।३४), हे राजन्, आप श्रम मत कीजिए, मुझ पर फेंका हुआ भी अस्त्र व्यर्थ जाएगा। **अलमन्यथा गृहीत्वा** (मालविका), मेरी बात को अन्यथा मत समझिये। **आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत्स दारानपाहरत्** (शिशु० २।४०), इसे मत कहिये (यह कहने की बात नहीं) कि उसने बभ्रु (यादव-विशेष) की स्त्री का अपहरण किया। **अलं बहु विकत्थ्य** (मालविका), बहुत डींगे मत मारो।

गोत्रेण पुष्करावर्त किं त्वया गर्जितैः कृतम्।
विद्युतालं भवत्वद्भिर्हंसा ऊचुस्त्विदं घनम्॥ पुष्करावर्त के कुल में उत्पन्न हुए तूने गर्जन से क्या किया? विद्युद्विलास बन्द करो, वृष्टि विरत हो, एसा हंसों ने मेघ से कहा।

अन्तर्

मध्य में, भीतर—**अन्तरेव विहरन्दिवानिशं न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः** (रघु० १९।६) अग्निवर्ण दिनरात अन्तःपुर में विहार करता था और उत्सुक प्रजाओं की उपेक्षा करता था। **अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते** (मालविका), जो स्थाणु (शिव) प्राणादि को वश में किए हुए मुमुक्षु जनों से भीतर में (हृदय में) ढूंढा जाता है। **निवसन्नन्तर्दारुणि लङ्घ्यो वह्निः** (पञ्चत०), काष्ठ के अन्दर वास करता हुआ अग्नि लाँघा जा सकता है। **अन्तरादित्ये** (छां० उ०), सूर्य में। **अन्तर्जले विशुध्येत दत्त्वा गां च पयस्विनीम्** (याज्ञ० ३।३०१), जल के मध्य में स्थित होकर और धेनु को देकर शुद्ध होवे। **अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्** (ऋ० १।२३।१९), जल में अमृत है, जल में औषध है। **अन्तर्मही बृहती रोदसीमे** (ऋ० ७।८७।२), इन दोनों विशाल पृथिवी और द्युलोक के बीच में। **अन्तर् देवान्मर्त्यांश्च** (ऋ० ८।२।४), देवताओं और मर्त्यों के बीच में। यहाँ द्वितीया का प्रयोग अवधेय है। **हिरण्मय्योर्हि कुश्योरन्तरवहित आस** (श० ब्रा०) सुवर्णमयी कुशियों के बीच में नीचे रखा हुआ था। **अन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य** (रत्नावली २।३), कञ्चुकी के चोले के भीतर। **त्वमग्ने सर्वभूतानामन्तश्चरसि साक्षिवत्** (याज्ञ० २।१०४), हे अग्ने, तू सर्व

भूतों के अन्दर साक्षी होकर विचर रहा है। यहाँ अन्तर् के योग में षष्ठी का प्रयोग अन्वेय है।

परिग्रह (स्वीकार, पकड़ना) अर्थ में—अन्तर्हत्वा मूषिकां श्येनो गतः, बाज चूही को मारकर पकड़ कर ले गया।

बहिस्

बाहिर, बाहिर से—अन्तः शाक्ता बहिश्शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः, भीतर से शक्ति के उपासक, बाहिर से शिवभक्त और सभा के बीच में विष्णु के भक्त। बहिस्तिष्ठ, मान्तरागाः, बाहिर ठहरो, अन्दर मत आओ। चिरं तस्य गृहाद् बहिर्गतस्य, उसे घर से बाहिर गये हुए चिरकाल हो गया है।

नोत्तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥ (मनु० २।१०३),

जो प्रातः सन्ध्या तथा सायं सन्ध्या समय भगवद्-भजन नहीं करता, उसे द्विजों के सभी कर्मों से बाहिर कर देना चाहिये।

खलु

वाक्यालङ्कार में—अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति (बृहदा० उ० ४।४।५), कहते हैं कि पुरुष काममय है। यहाँ खलु कुछ विशिष्ट अर्थ नहीं रखता, केवल वाक्यशोभा के लिये इसका उपादान किया है।

इसी प्रकार—योषितामतितरां नखलूनं गात्रमुज्ज्वलतया न खलूनम् (शिशु० १०।६०), स्त्रियों का नखक्षत गात्र कान्ति से रहित न था—यहाँ भी।

जिज्ञासा (प्रश्न) अर्थ में—न खलु विदितास्ते तत्र निवसन्तश्चाणक्यहतकेन (मुद्रा० २), क्या वहाँ रहते हुए उन्हें दुष्ट चाणक्य ने नहीं जाना ? न खलूग्ररुषा पिनाकिना गमितः सोपि सुहृद्गतां गतिम् (कुमार०), क्या प्रचण्ड क्रोधयुक्त धन्वी रुद्र ने उसे भी सुहृद् द्वारा प्राप्त गति (गन्तव्य स्थान=मृत्युलोक) को नहीं भेजा ? न खलु तामभिक्रुद्धो गुरुः (विक्रम०), क्या गुरुजी उस पर क्रुद्ध नहीं हुए ? यहां यह स्मर्तव्य है कि प्रश्न अर्थ में 'खलु' का नञ्-पूर्वक प्रयोग देखा जाता है, केवल का नहीं।

निषेध अर्थ में—निर्धारितेर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम् (शिशु० २।७०), लेख द्वारा अर्थ का निर्णय हो जाने पर मुख द्वारा वचन का कोई काम नहीं।

अनुनय (मनाना, अनुकूल करना) अर्थ में—

न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः। (शाकुन्तल)

कृपया इस कोमल मृगशरीर पर बाण न छोड़िए, यह रूई के ढेर पर आग की तरह इसे जलादेगा। न खलु न खलु मुग्धे साहसं कार्यमेतत् (नागानन्द), हे मुग्धे ? प्रसन्न हूजिए, ऐसा मत कीजिए।

निश्चय अर्थ में—अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः (विक्रम०), अभिमान-राहित्य (नम्रता) निश्चय ही वीरता की शोभा है। दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यान-लता वनलताभिः (शाकुन्तल), निश्चित ही बाग की बेलों को वन की बेलों ने मात कर दिया है।

हेत्वर्थ में—न विदीर्ये कठिनाः खलु स्त्रियः (कुमार०), मैं फट नहीं जाती, कारण कि स्त्रियाँ कठोर होती हैं।

नु

प्रश्न अर्थ में—रक्ताशोक कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वाऽनुरक्तं जनम्, हे रक्ताशोक, मुझ अनुरक्त को छोड़कर (वह) तनुमध्या कहाँ गई ?

कोप अर्थ में—शूलं तूलं नु गाढं प्रहर हर ! हे हर ! तेरा त्रिशूल तो रूई की तरह कोमल है, जोर से चोट मारो।

विकल्प में—स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु
क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम्। (शाकुन्तल ६।१०)

क्या यह स्वप्न था, अथवा माया (इन्द्रजाल) अथवा बुद्धि का व्यामोह था अथवा कोई (अल्प) पुण्य जिसका इतने में फल समाप्त हो गया।

सर्वत्र

वितर्क में—क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः, सभी गुण सर्वत्र कहाँ हो सकते हैं।

ननु

अनुज्ञा (अनुमति) अर्थ में—ननु सन्दिशेति सुदृशोदितया त्रपया न किञ्चन किलाभिदधे (शिशु० ९।६१), जब सुन्दरी से दूती द्वारा कहा गया कि हाँ सन्देश कहिए, तो वह लज्जावश कुछ न कह सकी।

आक्षेप (बात को काटना) में—नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेपि वशगाः

(भर्तृ०), देवताओं को नमस्कार हो, पर नमस्कार कैसा ? वे भी निन्द्य विधाता के अधीन हैं।

प्रश्न अर्थ में—ननु समाप्तकृत्यो गौतमः (मालविका), क्या गौतम ने अपना कार्य समाप्त कर लिया है ? जैवातृक (=आयुष्मन्) ! ननु श्रूयते पतिरस्याः (दशकु०)।

अवधारण (निश्चय) अर्थ में—उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु मे (रघु० १।६०), मेरे राज्य के सातों अङ्गों में मङ्गल होना निश्चित रूप से युक्त है। त्रिलोकनाथेन मखद्विषस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा (रघु० ३।४५), तीनों लोकों के नाथ दिव्य चक्षु वाले आपको निश्चय ही यज्ञविध्वंसी दैत्यों को दण्ड देना चाहिए।

अमीभिः संसिक्तैस्तव किमु फलं वारिद घटै-
　　र्यदेते ऽपेक्षन्ते सलिलमवटेभ्यो ऽपि तरवः ।
अयं युक्तो व्यक्तं ननु सुखयितुं चातकशिशु-
　　र्यएव ग्रीष्मेऽपि स्पृहयति न पाथस्त्वदपरात् ॥

हे जलधर, इन घड़ों को वर्षा जल से भरने से क्या लाभ ? क्योंकि ये वृक्ष गढ़ों से भी चाह से पानी ले लेते हैं। निश्चय ही इस पपीहा के बच्चे को तुझे सुख देना चाहिए जो गरमी की रुत में भी तुझे छोड़कर किसी और से जल नहीं चाहता।

राजा—माठव्य ! अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम्। विदूषकः—ननु भवानग्रतो मे वर्तते (शाकुन्तल २), राजा ने कहा—हे माठव्य ! तूने द्रष्टव्य वस्तु नहीं देखी, अतः दृष्टि का फल तुझे प्राप्त नहीं हुआ। माठव्य का उतर—ऐसा क्यों कहते हो आप मेरे सामने उपस्थित हैं।

नूनम्

निश्चय अर्थ में—क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसां सतीव (कुमा०), शरण में आये हुए क्षुद्र के प्रति भी उदार भावना वालों का पक्षपात वैसा ही होता है जैसा सत्पुरुष के प्रति।

संभावना अर्थ में—नूनं त्वया परिभवं च वनं च घोरम् (अवाप्य) (उ० रा० च० ४।२३), संभावना है कि तूने तिरस्कार तथा घोर वन को (प्राप्त कर के)।

तर्क (आशंका) अर्थ में—त्वन्मुखाभेच्छया नूनं पद्मैर्वैरायते शशी। नूनम् =उत्प्रेक्षे।

वेद में नूनम् अव्यय का (१) अब, अभी, आज इस अर्थ में प्रयोग हुआ है—न नूनमस्ति न श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम् (ऋ० १।१७०।१), न आज है, न कल, कौन जानता है जो हुआ नहीं। शिशीते नूनं परशुम् (अथर्व०७।७३।२), अब परसे को तेज कर रहा है। (२) थोड़े समय में, निकट भविष्यत् में, शीघ्र ही—विश्रयन्तामृतावृधो द्वारो देवीरसश्चतः। अद्या नूनं च यष्टवे (ऋ० १।१३।६)॥ यज्ञशाला के यज्ञवर्धक द्योतमान पुरुषप्रवेशरहित द्वार खुल जायें आज तथा आगे को यज्ञ करने के लिए।

या व्यूषुर्याश्च नूनं व्युच्छान् (ऋ० १।११३।१०), जो उषाएँ चमक चुकी हैं और जो आगे चमकेंगी।

आमन्त्रण (सम्बोधन) अर्थ में—ननु मूर्खाः पठितमेव युष्माभिस्तत्काण्डे (उ० रा० ४), अरे मूर्खो तुम ने अश्वमेधकाण्ड में पढ़ा ही है।

अनुनय (मनाना, प्रार्थना करना) अर्थ में—ननु मां प्रापय पत्युरन्तिकम् (कुमार० ४।३२), कृपया मुझे पति के समीप पहुँचा दो।

विरोधोक्ति में—ननु क्षीराद्यपि दध्यादिभावेन परिणममानमपेक्षत एव बाह्यं साधनमौष्ण्यादिकं कथमुच्यते क्षीरवद्धीति (ब्रह्मसूत्र भाष्य २।१।२४), यहाँ यह शङ्का होती है—दधि आदि रूप में परिणत होता हुआ क्षीरादि भी बाह्य साधन उष्णतादि की अपेक्षा रखता है, तो कैसे कहा जाता है क्षीरवत् (ब्रह्म को साधनसामग्री की आकाङ्क्षा नहीं)?

प्रत्युक्ति (पृष्टप्रतिवचन) में—अकार्षीः कटं देवदत्त? ननु करोमि भोः, देवदत्त, तू ने चटाई बना ली? जी हाँ, बना चुका हूँ। तत्त्वं तत्त्वं कथय ननु नः कासि कस्यासि पत्नी, हमें ठीक-ठीक बताओ कि तुम कौन हो और किस की पत्नी हो।

नाम

प्राकाश्य (प्रसिद्धि) अर्थ में—न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम् (भर्तृ० १।४६), यह सभी जानते हैं कि चण्डक्रोध वाले राजाओं का कोई अपना नहीं।

यत्र वृद्धो महामात्रः सिद्धार्थो नाम नामतः। जहाँ सिद्धार्थ नाम से प्रख्यात महामन्त्री था।

अस्त्युत्तरस्यां दिशि हिमालयो नाम नगाधिराजः (कुमार० १।१), उत्तर दिशा में हिमालय नाम से प्रसिद्ध पर्वतराज है।

कुत्सा अर्थ में—स्नानेपि नाम पुण्यम्, स्नान में पुण्यार्जनबुद्धि, यह कुत्सित

बात है। को नाम वह्निनौपम्यं कुर्वीत शशलक्ष्मणः, कौन ऐसा कुत्सित कर्म करेगा कि चाँद को आग से उपमा दे।

उपगम (स्वीकार) अर्थ में—तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः (मृच्छक०), यह मानी हुई बात है कि पुरुष कठोर (निर्दय) होते हैं। विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम (शाकुन्तल १), यह सर्वस्वीकृत है कि तपोवन में विनीतवेष से प्रवेश करना चाहिये। भातु नाम सुदृशां दशनाङ्कः पाटलो धवलगण्ड-तलेषु, हम मानते हैं कि सुन्दरियों के गौर कपोलों पर श्वेतरक्त दन्तक्षत शोभा देता है।

संभाव्य (संभावना) अर्थ में—को नाम राज्ञां प्रियः, राजाओं का कौन प्यारा हो सकता है? को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तुर्द्वाराणि दैवस्य पिधातु-मीष्टे (उ० रा० च० ७।४), संभवतः कौन दैव के द्वार को बन्द कर सकता है जब दैव फल देने को तैयार हो? अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम (शाकु-न्तल ५।८), बढ़ी चढ़ी विभूति होने पर बन्धु बन जायें इसकी तो संभावना है ही। मा नामाकार्यं कुर्यात्(मृच्छक०), वह पाप करेगा, इसकी संभावना नहीं। त्वया नाम मुनि र्विमान्यः। मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवा-सि येन (शाकुन्तल ५।२०), क्या यह संभावना थी कि आप उस मुनिका तिर-स्कार करते, जिसने चोरित धन को चोर को देने के सदृश आप को दान का पात्र बनाया।

अलीक (मिथ्या, बनावटी) अर्थ में—परिश्रमं नाम विनीय च क्षणम् (कुमार० ५।३२), थकावट को दूर करने का बहाना करके। कार्तान्तिको नाम भूत्वा (दशकु०), झूठासूठा ज्योतिषी बनकर। भीतो नामावप्लुत्य (दशकु०), डरा हुआ सा होकर उतर कर। दष्टेऽधरे रोदिति नाम बाला (क्षीरस्वामी), अधर के दन्तक्षत हो जाने पर तरुण सुन्दरी रोने सी लगती है।

क्रोध अर्थ में—ममापि नाम सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः (शाकुन्तल ६), क्रुद्ध होकर कहता है—क्या मेरे महलों पर भी (अदृश्य) भूत आक्रमण करते हैं।

विस्मय अर्थ में—अन्धो नाम पर्वतमारोक्ष्यति, आश्चर्य है अन्धा पर्वत पर चढ़ गया। को नामायमपूर्वनाटकविधिर्यः शिक्षितो दुर्जनैः (भर्तृ०) आश्चर्य है यह कैसी अनूठी नाटक विधि है जो दुर्जनों ने सीखी है।

तत्काल अर्थ में—आश्वासितस्य मम नाम (विक्रम०), मैं अभी आश्वा-सित ही हुआ था कि…।

बत

आमन्त्रण, सम्बोधन अर्थ में—बत वितरत तोयं तोयवाहा नितान्तम् (क्षीर), हे बादलो, खूब पानी बरसाओ । त्यजत मानमलं बत विग्रहै र्न पुनरेति गतं चतुरं वयः (रघु० ८।४७), हे (ललनाओ), मान का त्याग करो, कलह बस करो, बीता सुन्दर उपभोगयोग्य यौवन वापिस नहीं आता । स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषसे, एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते (बृहदा० उ० २।४।४), अयि मैत्रेयि ! तू हमें प्यारी है, प्रिय बोलती है, आओ, बैठो, मैं तुम्हें समझाऊँगा ।

खेद अर्थ में—अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् (गीता), आश्चर्य है, खेद है हम बड़ा पाप करने को उद्यत हुए हैं ।

विस्मय अर्थ में—अहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः (कुमार० ३।२०), आश्चर्य है तुम्हारी कितनी वाञ्छनीय शक्ति है । 'बत' का सन्तोष अर्थ भी हो सकता है—मुझे प्रसन्नता है तुम कितनी स्पृहणीय शक्ति से युक्त हो ।

अनुकम्पा अर्थ में—विरम चातक दैन्यमपास्यतां
बत कियन्ति चटूनि करिष्यसे ।

हे चातक ठहरो, मुझे तुझ पर दया आती है, दीनता छोड़ो, (मेघ को रिझाने के लिये) कितने मीठे वचन कहोगे ? क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते (शाकुन्तल १।१०), हा इन बेचारे मृगों का अतिचञ्चल जीवन कहाँ, वज्र की तरह सख्त तेजधार-वाले तेरे बाण कहाँ ।

किल

वार्ता (ऐतिह्य) अर्थ में—जघान कंसं किल वासुदेवः, कहते हैं भगवान् वासुदेव (कृष्ण) ने कंस को मार डाला । बहु जगद पुरस्तात्तस्य मत्ता किलाहम् (शिशु० ११।३९), कहते हैं मत्त हुई मैंने उसके संमुख बहुत कुछ कहा ।

संभावना अर्थ में—गुरून् किलातिशेते शिष्यः, संभावना है शिष्य गुरुओं से बढ़ जायेगा । पार्थः किल विजेष्यते कुरून्, आशा है अर्जुन कौरवों पर विजय पायेगा ।

हेतु अर्थ में—क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः

(रघु० २।५३), 'घाव से बचाता है' इस अर्थ के कारण उग्र क्षत्रशब्द तीनों लोकों में प्रसिद्ध है ।

अलीक (मिथ्या) अर्थ में—**अयि कठोर, यशः किल ते प्रियम्** (उ० रा० च०), निर्दय ! यह झूठ है कि तुझे यश प्यारा है । **प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष** (रघु० २।२७), सिंह ने हठपूर्वक उस नन्दिनी गौ को खींचने का बहाना किया ।

निश्चय अर्थ में—**अर्हति किल कितव उपद्रवम्** (मालविका), यह धूर्त निश्चय ही उपद्रव के योग्य है । **इन्द्रः किल श्रुत्या अस्य वेद** (ऋ० १०।१११।३), इन्द्र निश्चय ही इस (स्तोत्र) को सुनना जानता है । **स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायम्** (ऋ० (१।४७।१), निश्चय ही यह सोम स्वादु है और मधुर है ।

किङ्किल

अमर्ष (क्रोध) अर्थ में—**किङ्किल तत्र भवाञ् शूद्रान्नं भोक्ष्यसे न मर्षयामः**, आप शूद्रान्न का सेवन करें, यह असह्य है ।

नञ्

यह निपात जब वाक्य में क्रिया के साथ अन्वित होता है तब प्रसज्य-प्रतिषेध का वाचक होता है अर्थात् सत्ता का निषेध करता है और जब समास का आद्य अवयव बनता है तब पर्युदास (तद्भिन्नता, व्यावृत्ति) को कहता है । समास में भी कभी-कभी नञ् प्रसज्य प्रतिषेध (अभावमात्र) को कहता है । भगवान् सूत्रकार का अपना प्रयोग भी है—**आदेच उपदेशेऽशिति** (६।१।४५) । अशिति=शिति तु न (भवति) । **अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः, यः श्राद्धं न भुङ्क्ते । अवचनं वचनं प्रियसंनिधावनवलोकनमेव विलोकनम्**, प्रिय के सन्निकर्ष में कुछ न बोलना ही बोलना है और न देखना ही देखना है । **असूर्यम्पश्या राजदाराः =सूर्यं न पश्यन्ति** (मुखमेचकिमोत्पादभयात्), रानियाँ जो सूर्य को नहीं देखतीं इत्यादि लौकिक प्रयोगों में भी प्रसज्यप्रतिषेध में ही नञ् प्रयुक्त हुआ है । अभाव के अतिरिक्त नञ् के पाँच और अर्थ माने जाते हैं—

तत्सादृश्य—**अब्राह्मणः** । ब्राह्मणभिन्नस्तत्सदृशः क्षत्रियादिर्गृह्यते । **अब्राह्मणमानयेत्युक्ते नहि लोष्टमादाय कृती भवति** (भाष्य), जब किसी से कहा जाय, अब्राह्मण को ले आओ, तो यदि वह मिट्टी का ढेला ले आता है, तो जो उससे करने को कहा गया था वह नहीं करता । लोष्ट ब्राह्मण से भिन्न अवश्य है, पर ब्राह्मण-सदृश नहीं ।

तदन्यत्व—अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् (निरुक्त), जैसे अग्नि से अन्यत्र सूखा ईन्धन नहीं जलता, वैसे गुरुमुख से सुना हुआ (अगृहीतार्थ शास्त्र) नहीं चमकता।

तदल्पता—अनुदरा कन्या=अल्पोदरी, कृशोदरी। अलोमिकैडका, भेड़ जिसके अल्प लोम है।

अप्राशस्त्य (कुत्सा)—अकालः=अप्रशस्तः कालः। अकार्यम्=निन्दितं कार्यम्।

विरोध—अधर्मः=धर्मविरुद्धोऽर्थः।

नो

नञर्थ में—न च तत् प्रेत्य नो इह (भगवद्गीता १७।२८), न वह इस लोक में न पर लोक में। गोप्याधिभोगे नो वृद्धिः सोपकारेऽथ हापिते (याज्ञ० २।५९), गोप्य आधि (धरोहर) के उपभोग होने पर, उपकारकारी होने पर अथवा छिन्न-भिन्न होने पर वृद्धि (सूद) नहीं होती।

पुष्पाणां प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः (अमरु ४०), मुस्कान से फूल बिखेरे हैं, कुन्द व जाति पुष्पों से नहीं।

नो चेत्

अन्यथा, नहीं तो—परीक्षा ते वार्षिकी सन्निहिता, अनारतमधीत्यां व्याप्रियस्व, नो चेत् ते सकामता तत्र दूरे, तेरी वार्षिकी परीक्षा निकट है, निरन्तर पढ़ाई में लग जाओ, नहीं तो उसमें सफलता दुर्लभ है।

नह

प्रत्यारम्भ (कार्य के प्रति प्रेरणा की अवधीरणा होने पर निषेधयुक्त आरम्भ (=वाक्यारम्भ) अर्थ में—नह भोक्ष्यसे, तू नहीं खायेगा। (मत खा)। चोदितस्यावधीरणे उपालिप्सया प्रतिषेधयुक्त आरम्भः प्रत्यारम्भः (काशिका)। निषेध मात्र में भी प्रयुक्त होता है—नह वै तस्मिंश्च लोके दक्षिणमिच्छन्ति। दिप्सन्त इद् रिपवो नह देभुः (ऋ० १।१४७।३), शत्रु हानि पहुँचाना चाहते हुए बिल्कुल हानि न पहुँचा सके।

नहि

निश्चत निषेध में—नहि भीरु गतं निवर्तते, हे भीरु, जो यौवन आदि व्यतीत हो जाता है वह लौटता नहीं। न हि तरणिरुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः।

(उदयन), निश्चय ही सूर्य दिशा के अधीन होकर नहीं उदय होता। आशंसा नहि नः प्रेते जीवेम दशमूर्धनि (भट्टि० १९।५), हमें विल्कुल आशा नहीं कि दशवदन (रावण) के मरने पर हम जी सकें। स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्जते, (बृ० उ० ४।४।२२), यह आत्मा यह नहीं, यह नहीं, यह अग्राह्य है, इसे ग्रहण नहीं किया जा सकता, यह अशीर्य (अहिंसितव्य) है, शीर्ण नहीं होता, यह असंग है, कहीं भी आसक्त नहीं होता। अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं नहि गोमायुरुतानि केसरी (शिशु०), सिंह मेघगर्जन को सुनकर हुंकार करता है, गीदड़ के शब्द को सुनकर कदापि नहीं। नहि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया, समुद्र के जल को निश्चित ही तृणों की उल्का से गरम नहीं किया जा सकता। नहि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली (रघु०) निश्चय ही आम वृक्ष को प्राप्त कर भ्रमर पङ्क्ति दूसरे वृक्ष की चाह नहीं करती।

ह

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या जाययोषस्ति र्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास (छां० उ० १।१०।१), कहते हैं ओले पड़ने से नष्ट हुए कुरुदेश में अल्पवयस्का पत्नी के साथ चक्र का गोत्रापत्य उषस्ति महावतों के ग्राम में दुर्गत अवस्था में रहता था।

अहह

खेदातिशय अर्थ में—

वरं प्राणोच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिश—
प्रहारैरुद्गच्छद्बहलदहनोद्गारगुरुभिः।
तुषाराद्रेः सूनोरहह पितरि क्लेशविवशे
न चासौ सम्पातः पयसि पयसां पत्युरुचितः॥ (भर्तृ० १।२८)

मत्त इन्द्र से छोड़े हुए वज्र के प्रहार, जो निकली हुई अग्नि की निरन्तर लपटों से अत्युग्र हो गये हैं, उनसे प्राण नाश अच्छा था, पिता हिमालय के क्लेशविवश होने पर उसके पुत्र (मैनाक)का समुद्र में डुवकी लगाना उचित न था।

मुदा यत्र प्राणांस्तृणमिव परार्थप्रणयिन-
स्त्यजन्तो लज्जन्ते कियदिति धिया तद्युगमगात्।
तृणं प्राणप्रायं त्यजति न जनो यत्र समये
वयं जातास्तत्रेत्यहह कृपणं जीवितमिदम्॥

जब परोपकारप्रिय लोग प्राणों को तृण की भाँति छोड़ते हुए लज्जाते थे यह सोच कर कि हम ने कितना थोड़ा छोड़ा, वह युग चला गया। अब हम उस समय में उत्पन्न हुए हैं जब लोग तिनके को भी प्राण-तुल्य मान कर नहीं छोड़ते हैं, खेद है यह शोच्य जीवन है।

कमठपृष्ठकठोरमिदं धनुर्मधुरमूर्त्तिरसौ रघुनन्दनः।
कथमधिज्यमनेन विधीयतामहह तात पणस्तव दारुणः॥ (हनुमन्नाटक १।६)

कछुए की पीठ की तरह यह कठोर धनु, और यह कोमल मूर्त्ति रघुनन्दन, इससे इस पर चिल्ला कैसे चढ़ाया जाएगा। हे पिता, आप का पण अत्यन्त उग्र है, यह खेद की बात है।

अद्भुत अर्थ में

वहति भुवनश्रेणिं शेषः फणाफलकस्थितां
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स च धार्यते।
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोनिधिरनादराद्
अहह महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः॥ (भर्तृ० २।२७)

शेष नाग अपने फणरूपी फलक पर स्थित लोक-लोकान्तरों को धारण कर रहा है, उसे (शेषनाग को) कूर्मराज अपनी पीठ पर धारण कर रहा है, और उसे (कूर्मराज को) समुद्र अनायास गोद में लिये हुए है, आश्चर्य है महात्माओं के चरित के माहात्म्य की कोई सीमा नहीं।

अचिन्त्याः पन्थानः किमपि महतामन्धकरिपो-
र्यदक्ष्णोऽभूत्तेजस्तदकृत कथामप्यमदनाम्।
मुनेरत्रेर्नेत्रादजनि च पुनर् ज्योतिरहह
प्रतेने तेनेदं मदनमयमेव त्रिभुवनम्॥

महात्माओं का मार्ग चिन्तन से परे है—अन्धकरिपु भगवान् रुद्र के (तृतीय) नेत्र से जो तेज निकला उसने मदन (कामदेव) का नाम तक मिटा दिया, पर आश्चर्य है अत्रि ऋषि के नेत्र से जो ज्योति(चाँद)उत्पन्न हुई उसने सारे जगत् को मदनमय बना दिया।

अहो

आश्चर्य अर्थ में—अहो मधुरमासां दर्शनम् (शाकुन्तल), इन कन्याओं की

आकृति कितनी मधुर है। अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता (किरात० १।२३), बलवान् के साथ विरोध कितना दुष्परिणामवाला होता है।

अहो रूपमहो वीर्यमहो सत्त्वमहो द्युतिः।
अहो दीप्तिरहो कान्तिरहो शीलमहो बलम्।
अहो शक्तिरहो भक्तिरहो प्रज्ञा हनूमतः॥ (रामचरित १।५२)

अहो बकुलावलिका ! क्या यह बकुलावलिका है? (मुझे तो उसके यहाँ आने की संभावना नहीं थी)।

खेद अर्थ में—अहो दुःष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः (शाकुन्तल), बड़े दुःख की बात है कि दुष्यन्त के पितर प्राणसंकट में पड़ गये हैं।

अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् (गीता), दुःख है हम कितना बड़ा पाप करने को उद्यत हुए हैं।

सम्बोधन अर्थ में—अहो हिरण्यक श्लाघ्योऽसि (हितोप०), हे हिरण्यक, तू श्लाघ्य है।

च

इतरेतरयोग में—तयोर्जगृहतुः पादौ राजा राज्ञी च मागधी (रघु०), वसिष्ठ और अरुन्धती के चरणों को राजा दिलीप तथा रानी सुदक्षिणा ने छुआ। यहाँ व्यक्तिभेदकी उद्भूतता के कारण 'जगृहतुः' में द्विवचन हुआ।

समाहार अर्थ में—

अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च
कामस्य वित्तं च वपुर्वयश्च।
धर्मस्य दानं च दया दमश्च
मोक्षस्य सर्वार्थनिवृत्तिरेव॥

अर्थ (धन) का मूल शाठ्य और क्षमा है, काम का धन, शरीर, यौवन मूल है, धर्म का दान, दया तथा दम मूल है और मोक्ष का एकमात्र वैराग्य मूल है। यहाँ व्यक्तिभेद के अनुद्भूत होने से 'मूलम्' में एकवचन हुआ है।

समुच्चय अर्थ में—विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते (उत्तर रा० च०), कोई विकार मानस जड़ता और सन्ताप को उत्पन्न कर रहा है। पचति च पठति च चैत्रः। गार्ग्यो वात्स्यायनश्चागतौ।

अन्वाचय—भिक्षामट गां चानय, भिक्षा के लिये घूमो और गौ को (यदि गौ मार्ग में मिले तो उसे) भी लेते आओ।

हेत्वर्थ में—गुरोर्नियोगाच्च नगेन्द्रकन्या स्थाणुम्...अन्वास्त (कुमार० ३।१७)। ग्रामश्च गन्तव्यः शीतं च, ग्राम को जाना है, पर शीत के कारण कैसे जाया जाय।

पक्षान्तर अर्थ में—

कैकेय्याः क्व वरो वरेण विपिनस्थानस्य याच्ञा क्व च
क्वायं वंशशिरोविकर्तनविधिः सीतापहारः क्व च।
सुग्रीवानुमतिः क्व च क्व च वधस्तस्यापि लङ्कापते-
रेकैकं चरिताद्भुतं समभवत्पुण्यैः कवीनामदः॥

कहाँ कैकेयी का (दशरथ से दिया हुआ) वर, दूसरी ओर उस वर से वनगमन की माँग कहाँ। कुल के मूलपुरुष के विनाश की यह विधि कहाँ, दूसरी ओर सीताहरण कहाँ। सुग्रीव की (सहायता की) अनुमति कहाँ, दूसरी ओर लङ्कापति रावण का वध कहाँ। यह एक-एक अद्भुत कर्म कवियों (वाल्मीकि आदि) के पुण्य से सम्पन्न हुआ॥

तुल्ययोगिता (क्रियायौगपद्य) में—

ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः (रघु० १०।६), ज्यों ही वे देवता क्षीरसमुद्र पर पहुंचे त्यों ही भगवान् आदिपुरुष जाग उठे।

सृष्टश्च मया बाणो निरस्तश्च रिपुस्तव (रा० ४।८।४४), मेरे बाण छोड़ते ही तेरा शत्रु नष्ट हो गया। ध्यातश्चोपस्थितश्च, ज्यों ही उसका ध्यान किया त्यों ही वह आगया।

अवधारण अर्थ में—कर्मक्षयाच्च निर्वाणम्, कर्म के क्षय से ही मोक्ष होता है।

चित्, चन

इन निपातों का प्रायः 'किम्' के साथ प्रयोग होता है। तब किम् प्रश्न अर्थ को छोड़कर 'अल्पत्व' को कहता है—यत्किञ्चिदेतत्, यह कुछ नहीं। यदा किञ्चिज्ज्ञोहम् (भर्तृ०), जब मैं कुछ ही जानता था।

प्राचीमङ्कुरयन्ति किंचन रुचो राजीवजीवातवः, कमलों की प्राणभूत किरणें पूर्वदिशा को कुछ अंकुरित कर रही हैं। सीमन्तिनीनां कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात् किञ्चिदूनः (मेघ०), मित्र द्वारा प्राप्त हुआ प्रिय का समाचार स्त्रियों के लिये समागम से कुछ ही कम होता है।

केवल 'चित्' और 'चन' का भी प्राचीन साहित्य में प्रयोग मिलता है— आचार्यश्चिद् इदं ब्रूयात् (निरुक्त), पूज्य आचार्य यह कहते हैं। महान्ति चित् संविव्याच रजांसि (ऋ० १०।१११।२), बड़े लोकों को भी व्याप्त किया।

न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापुः (ऋ० १।१००।१५), जिसके बल का अन्त न देव, न देवता, न मर्त्य और न जल पाते हैं।

चेत्

यदि अर्थ में—कृष्णं चेन्नंस्यसि स्वर्गं यास्यसि। विद्यासद्मविनिर्गलत्कण-मुषो वल्गन्ति चेत् पामराः (भा० वि०), सारस्वतधाम से टपकते हुए कणों को चुराने वाले नीच लोग यदि डींगें मारें। देवश्चेद् वृष्टः सम्पन्नाः शालयः, यदि वर्षा हुई, तो समझो धान हुआ। सन्तश्चेदमृतेन किम्, यदि सज्जन मिल जायें तो अमृत से क्या काम ? 'चेत्' वाक्य के आदि में कभी भी प्रयुक्त नहीं होता। चेत्कृष्णं नंस्यसि ऐसा नहीं कह सकते।

नेत्

'ऐसा न हो कि'—इस अर्थ में—नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम (ऋग्वेद १०।१०६।१ खिलपाठ), ऐसा न हो कि हम कुटिल आचरण करती हुईं नरक में पड़ जायें। नेच्छत्रुः प्राशं जयाति (अथर्व० २।२७।१), ऐसा न हो कि शत्रु (हमारे) भोजन को छीने।

हा

खेद, शोक अर्थ में—हा प्रिये जानकि। हा हा देवि स्फुटति हृदयं स्रंसते देहबन्धः (उ० रा० च०), शोक है, हे देवी, मेरा हृदय फट रहा है, मेरा शरीर गिरता जारहा है।

आश्चर्य अर्थ में—हा कथं महाराजदशरथस्य धर्मदाराः प्रियसखी मे कौसल्या (उ० रा० च०), आश्चर्य है क्या यह महाराज दशरथ की धर्मपत्नी मेरी प्रियसखी कौसल्या है ? हा कृष्णाभक्तम्, जो कृष्ण का भक्त नहीं वह शोच्य है।

हि

हेत्वर्थ में—अग्निरिहास्ति, धूमो हि दृश्यते, यहाँ अग्नि है, क्योंकि धूआँ दीख रहा है।

अवधारण अर्थ में—देव प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम् (मालविका), महाराज, निश्चय ही नाट्य शास्त्र प्रयोग-प्रधान है

न हि कमलिनीं दृष्ट्वा ग्राहमवेक्षते मतङ्गजः (मालविका), निश्चय ही मस्त हाथी कमल के पौधे को देख कर (सरोवर) में ग्राह (मगरमच्छ) भी हो सकता है इस बात की परवाह नहीं करता। यदि सृष्टिर्हि लोकानां रक्षा युष्मास्ववस्थिता (कुमार०), लोक लोकान्तरों का निर्माण ही मेरे अधीन है और रक्षण आपके। मूढो हि मदनेनायास्यते न प्राज्ञः, मूढ ही काम से पीड़ित होता है, बुद्धिमान् नहीं।

ही

विस्मय अर्थ में—

कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डं
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
उदयमहिमरोचिर्याति शीतांशुरस्तं
हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः॥ (शिशु० ११।६४)

कुमुद समूह शोभारहित हो रहा है, कमल-समूह शोभा को प्राप्त हो रहा है। उल्लू विषाद को प्राप्त हो रहा है और चकवा प्रसन्न हो रहा है, सूर्य उदय हो रहा है, चाँद अस्त हो रहा है, आश्चर्य है हताश (अभागे) विधाता की चेष्टाओं का विचित्र फल है।

तु

विशेष (अधिक) अर्थ में—किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः। (उ०रा०च०), इस सीता की कौनसी चीज प्यारी नहीं, केवल इस का वियोग विशेषरूपेण असह्य है। मृष्टं पयो मृष्टतरं तु दुग्धम् (गणरत्न०), जल मीठा है, पर दूध उससे अधिक मीठा है।

अवधारण (नियम) अर्थ में—न तु खण्डेन्दुजूटस्य प्रियाविरहजं तमः, केवल भगवान् चन्द्रशेखर को प्रिया-वियोग-जनित अन्धकार नहीं होता। बालानां तु शुभं वाक्यं ग्राह्यं लक्ष्मणपूर्वज (रा० ७।८३।२०) ग्राह्यं तु= ग्राह्यमेव।

विरोध, वैपरीत्य अर्थ में—विरला एव त्वादृशा जगति जायन्ते येषां परार्थ एव स्वार्थः, स्वार्थमात्रपरा आत्मंभरयस्तु भूरयः, आप जैसे विरले ही इस जगत् में जन्म लेते हैं जिनके लिये परप्रयोजनसाधना ही स्वार्थसाधना है, स्वार्थमात्रपरायण अपना पेट भरने वाले तो बहुत हैं। 'तु' का वाक्य के आदि में प्रयोग नहीं होता।

विरोध अर्थ में किन्तु, परन्तु—अव्ययसमुदायों का भी प्रयोग होता है। इनका वाक्य के आदि में निर्यन्त्रण प्रयोग होता है—अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान्मतो मे (रघु० १४।४०), मैं जानता हूँ कि यह सीता निष्पापा है, पर लोकनिन्दा का मुझे अधिक आदर है।

किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः (भर्तृ०), पर मैं बलवान् लोगों के समक्ष बड़े जोर से कहता हूँ—कामदेव के घमंड को चूर्ण करने वाले मनुष्य विरले हैं।

इति

स्वरूप अर्थ में—क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः (शिशु०), कृष्ण ने धीरे-धीरे जाना कि वह नारद है। नारद इति=नारदस्वरूपः।

विवक्षा-नियम में—तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (५।२।९४), वह उसका है अथवा उसमें है ऐसी विवक्षा होने पर ही प्रथमान्त से मतुप् होता है।

ब्रह्माभिन्ननिमित्तोपादानकारणं जगत इति भगवच्छङ्करपादाः, ब्रह्म इस जगत् का एकसाथ निमित्त तथा उपादान कारण है ऐसा भगवान् शङ्कराचार्य का मत है। उरस्यौ हविसर्गौ तु सम्प्राहुः पाणिनेरिति, भगवान् पाणिनि के मत से 'ह' और विसर्ग का उच्चारणस्थान उरः (छाती) है।

हेत्वर्थ में—हन्तीति पलायते, मारता है इस लिये भागता है। वैदेशिकोऽस्मीति पृच्छामि (उ० रा० च०), मैं बाहिर से आया हूँ इस कारण मुझे जिज्ञासा है।

अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति।
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः॥

तृष्णा (प्यास, चाह) से वेगित मन वाले हम लोगों ने समुद्र का—यह (पेय) जलों का आधार है इस कारण, यह रत्नों का आकर है इस कारण आश्रयण किया।

प्रकार अर्थ में—सख्यशिश्वीति भाषायाम् (४।१।६२), लोक में स्त्रीत्व-विवक्षामें सखी, अशिश्वी (शिशुरहिता स्त्री) इस प्रकार का शब्दरूप होता है।

प्रत्यक्ष, सन्निहित अर्थ में—कियदिति दितिसूनोस्तेन जिग्ये यदिन्द्रः, यह (इति=इदम्) दैत्य के लिये क्या बड़ी बात थी जो उसने इन्द्र को जीत लिया।

समाप्ति अर्थ में—इति कथितकथः सन्सोऽथ हंसो व्यरंसीत् (नैषध), अपने कथन को समाप्त करके वह हंस ठहर गया। इति रघुवंशे प्रथमः सर्गः=रघुवंशे प्रथमः सर्गः समाप्तः।

के रूप में—स विद्वानिति पूज्यः कृपण इति निन्द्यः, वह विद्वान् के रूप में पूज्य है, कृपण के रूप में निन्द्य है।

'के सम्बन्ध में'—शीघ्रमिति सुकरं निभृतमिति चिन्तनीयं भवेत् (शाकुन्तल ३), जहाँ तक शीघ्रता से करने का सम्बन्ध है, यह कार्य आसान है, जहाँ तक गुप्त रूप से करने का सम्बन्ध है, इसे सोचना होगा।

एव

अवधारण अर्थ में—सत्यमेव जयते (=जयति) नानृतम् (मुं० उ० ३।१।६)। सच की ही जीत होती है झूठ की नहीं। कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः (गीता), जनक आदि कर्म के ही द्वारा मोक्ष को प्राप्त हुए। मा संशयिष्ठाः, भवितव्यमेव तेन व्यतिकरेण मुनिनाऽऽदिष्टेन, मुनि से पहले ही बतलाई गई वह घटना होकर रहेगी, सन्देह मत करो।

अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव, धन की गरमी से रहित पुरुष भी वही है (जो पहले था)। क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः, वही रमणीय (सुन्दर) है जो क्षण-क्षण में नया-नया प्रतीत हो। तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्, उसके लिये वही सुन्दर है जिसका मन जिसमें लगा हुआ है।

एवम्

'इस प्रकार' अर्थ में—एवमाचरन्धर्मं नित्यं वर्धिष्यसे किल, इस प्रकार नित्य धर्माचरण करते हुए तुम निश्चित बढ़ोगे। एवं ब्रूया मे सखायं पुराणम्, इस प्रकार मेरे चिरन्तन मित्र को कहना।

सीता—अहो जाने तस्मिन्नेव काले वर्ते। रामः—एवम्। सीता—मुझे ऐसा लगता है, मैं उसी समय में (पुनः) विद्यमान हूँ। राम—हाँ ऐसा ही है।

रोलम्बगवल-व्याल-तमालमलिन-त्विषः।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः॥

यहाँ भ्रमर, महिष, साँप, तमाल वृक्ष की तरह काले बादल बरसने में नहीं चूकते हैं।

प्रत्युत

'उल्टा'—कृतमपि महोपकारं पय इव पीत्वा निरातङ्कः ।
प्रत्युत हन्तुं यतते काकोदरः खलो जगति ।।
(भा० वि० १।७६)

किये हुए बड़े उपकार को दूध की तरह पीकर निःशङ्क हुआ दुर्जन उल्टा साँप की तरह मारने को दौड़ता है ।

वत्

वत् तद्धित प्रत्यय है । वत्प्रत्ययान्त अव्यय होता है ।

क्रिया की तुल्यता में—रामादिवद् वर्तितव्यं न रावणादिवत्, राम आदि की तरह व्यवहार करना चाहिये, रावण आदि की तरह नहीं । आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः, जो अपने को जैसे देखता है वैसे सब प्राणियों को, वह पण्डित है ।

अर्हता (योग्यता) अर्थ में—तदिदं राजवदस्य कर्म, यह इसका राजा के योग्य कर्म है (राजानमर्हतीति राजवत्) । ऋषिवच्चेष्टते कण्वो दुःष्यन्ताय सन्दिशन्, दुष्यन्त को सन्देश भेजते हुए कण्व, ऋषि के योग्य व्यवहार करते हैं । पाण्डोर्विदुर सर्वाणि प्रेतकार्याणि कारय । राजवद्राजसिंहस्य (भा० आ० १२७।१), हे विदुर राजश्रेष्ठ पाण्डु की अन्त्येष्टि आदि कराओ, जो राजा के योग्य है । विधिवद् विहिताध्वराय, जिसने विधि (=शास्त्र-विधान) के अनुसार यज्ञ सम्पादन किया है, उसके लिये (विधिमर्हतीति विधिवत्) ।

षष्ठ्यन्त तथा सप्तम्यन्त से सादृश्य अर्थ में—देवदत्तवद् यज्ञदत्तस्य शोभना दन्ताः । मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः, जैसे मथुरा नगर में प्राकार है वैसे स्रुघ्न में भी ।

यथावत्

यहाँ वृत्ति में 'यथा' शब्द सत्त्वाची होगया है । यथा=विधि । यथा=विधिमर्हतीति यथावत् । लिपे र्यथावद् ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् (रघु० ३।२८), रघु ने लिपि को ठीक-ठीक ग्रहण करके शब्दराशि (साहित्य) में ऐसे प्रवेश किया जैसे नदी द्वारा (मकरादि) समुद्र में प्रवेश करता है । ततो यथावद् विहिताध्वराय...स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे (रघु० ५।१९), तब कुशल ब्रह्मचारी ने (महाराज रघु को) जिसने विधिवत् यज्ञ सम्पन्न कर लिया है, प्रकृत बात कही ।

किम्

प्रश्न अर्थ में—न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः (भर्तृ०), मैं नहीं जानता क्या संसार अमृतमय है, क्या यह विषमय है।

किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे जायामदोषामुत सन्त्यजामि (रघु० १४।३४), क्या मैं अपनी निन्दा (लोकापवाद) की उपेक्षा करूँ अथवा निरपराध पत्नी का त्याग करूँ।

किमपैति रजोभिरौर्वरैरवकीर्णस्य मणेर्महार्घता, क्या पृथिवी (उर्वरा) की धूलि से लथपथ हुए मणि की महामूल्यता चली जाती है? किं ते भूय उपकरोमि, इससे अधिक मैं तेरी क्या सेवा करूँ?

क्यों अर्थ में—किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे (ऋ० ७।१०४।१४), हे अग्ने, तू हम पर क्यों क्रोध करता है?

किं बद्धः सरितां नाथः क्लेशिताः किं वनौकसः।
त्यक्तव्या यदि वैदेही किं हतो दशकन्धरः॥

(रामचरित ४०।६३)

यदि मुझे सीता का त्याग करना था तो समुद्र को क्यों बाँधा? वनवासी वानरों को क्यों क्लेश दिया, रावण को क्यों मारा? किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते (कुमार० ४।७)। विना कारण क्यों विलाप करती हुई रति को दर्शन नहीं देते हो?

कुत्सा अर्थ में—स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपम् (किरात १।५), वह कुत्सित मित्र है जो राजा को ठीक-ठीक परामर्श नहीं देता।

किमुत

प्रश्न अर्थ में—प्रहरविरतौ मध्ये चाह्नस्ततोऽपि परेण वा।
किमुत सकले याते चाह्नि त्वमद्य समेष्यसि॥
क्या तुम पहर बीतने पर, मध्याह्न में अथवा पराह्ण में अथवा सारा दिन बीतने पर आज मिलोगी? 'किमुत' का यह अर्थ हैम कोष के अनुसार है।

अधिक, भृश, बिल्कुल—ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः (रघु० २।६२), ऋषि के दिव्य तेज के कारण मुझ पर यम भी प्रहार नहीं कर सकता (प्रहार करने में असमर्थ है), दूसरे घातक जीवों का तो क्या कहना (वे तो अत्यन्त असमर्थ हैं)। सर्वाविनयानामेकैकमप्येषामायतनं

किमुत समवायः (कादम्बरी), इनमें हरेक अविनय (अनियन्त्रित आचरण) का स्थान है, समवाय (समूह=एक साथ विद्यमान इन यौवनादि का) तो कितना और अधिक।

किमु

सन्देहगर्भ प्रश्न—किमु विषविसर्पः किमु मदः (उ० रा० च०), क्या (यह) विष फैल रहा है, क्या यह मद है ?

किमुत अर्थ में—यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥ (हितोप०)

यौवन, धनबाहुल्य, प्रभुता और विवेकराहित्य—यह एक-एक अनर्थ (अनिष्ट)के लिये पर्याप्त है, जहाँ चारों ही हों, वहाँ क्या कहना।

क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतोर्लीलाभिः किमु सति कारणे रमण्यः। सुन्दरियाँ विना कारण ही विलास मात्र से हठात् क्रुद्ध हो जाती हैं, कारण होने पर तो क्या कहना।

केवल प्रश्न अर्थ में—

किमु चोदिताः प्रियहितार्थकृतः कृतिनो भवन्ति सुहृदां सुहृदः (शिशु०), क्या भाग्यवान् (पुण्यात्मा) मित्रजन मित्रों के प्रिय हित कार्य को प्रेरणा किये जाने पर करते हैं ?

किमङ्ग

किमुत अर्थ में—

तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां किमङ्ग वाग्घस्तवता नरेण (हितोप०),

बड़े लोगों का तिनके से भी कार्य सिद्ध होता है, वाणी तथा कर-युक्त पुरुष से कितना अधिक। यहाँ कवि छन्दोवशात् 'अपि' शब्द छोड़ गया है। यह कवि का असामर्थ्य है।

किंपुनर्

किमुत के अर्थ में—मेघालोके भवति सुखिनोप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किम्पुनर्दूरसंस्थे। (मेघ०)

मेघ को देखकर (शान्त) सुखी पुरुष का भी चित्त विकार को प्राप्त हो जाता है, जब कण्ठालिङ्गनाभिलाषी प्रियजन दूरस्थित हो तो और अधिक।

केवलोपि सुभगो नवाम्बुदः किम्पुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः। (रघु०)
अकेला वर्षा ऋतु का नया-नया बादल भी सुहावना होता है, इन्द्रधनुष् से अलंकृत का तो क्या कहना।

किमिति

प्रश्न अर्थ में—तत् किमित्युदासते भरताः (मालती०), तो नटवर्ग क्यों उदासीन है ? किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम् (कुमार० ५।४४), तू ने भूषणों को त्यागकर यौवन में वार्धक (वृद्धावस्था) को शोभा देने वाला वक्कल क्यों पहन लिया ?

किम् इव

किम् का अर्थ है, इव वाक्यालंकार में है—

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् (शाकुन्तल), मनोहर आकृतियों के लिये कौनसी वस्तु अलंकार नहीं बन जाती । किमिवावसादकरमात्मवताम्, (किरात०) संयमी लोगों के लिये कौनसी बात धैर्यविलोपक हो सकती है? किमिव यन्न सुकरं मनस्विभिः, महामना लोगों के लिये कौन सा कर्म आसानी से साध्य नहीं होता ?

न भविष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत् प्रहरिष्यतो विधेः । (रघु०८।४४), प्रहार करना चाहते हुए दैव के पास क्या कोई और साधन न था ?

किमपि

किञ्चित् अर्थ में—जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः (मालती०), वे कुछ (थोड़ा ही) जानते हैं, उनके लिये यह यत्न नहीं किया जा रहा है ।

अनिर्वाच्य रूप से—किमपि कमनीयं वपुरिदम् (शाकुन्तल), यह शरीर इतना सुन्दर है कि कहा नहीं जा सकता । किमपि भीषणम् । किमपि करालम् ।

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगाद्
इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति । (मेघ०)

कहते हैं स्नेह विरह में क्षीण हो जाता है पर न जाने क्यों, वह तो उपभोग के अभाव में प्रिय वस्तु के प्रति चाह के बढ़ जाने से प्रेमराशि में परिणत हो जाता है ।

किं स्वित्

किम् के साथ स्वित् का प्रयोग प्रायिक है, केवल का भी प्रयोग देखा जाता है । किम् यहाँ अव्यय नहीं । भिन्न-भिन्न विभक्तियों में इसका प्रयोग होता है । अर्थ 'क्या, कौन' ही है । समुदाय का वितर्क रूप प्रश्न अर्थ है—

कः स्विदेकाकी चरति कः स्विदाप्यायते पुनः । (वा० सं० २३।६)
कौन अकेला घूमता है, कौन दोबारा बढ़ जाता है ।
किं स्विदावपनं महत् (वा० सं० २।३६), कौन सी बड़ी गोण है ?
का स्विदियमवगुण्ठनवती, यह घुंघट वाली कौन हो सकती है ?
किं स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति (कठ उ० १।१।५, यमराज कौन सा कार्य करना रहता जो वह आज मेरे द्वारा करेगा ।
वैदिक साहित्य में 'स्वित्' का प्रयोग पूर्व-व्यवहित भी देखा जाता है—

यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुन. ।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ।।
(वृहदा० उ० ३।६।२८)

वृक्ष जब कट जाता है तो मूल(जड़) से फिर उग जाता है । मर्त्य (मनुष्य आदि) जब मृत्यु से कट जाता है तो किस मूल से पुनः अङ्कुरित होता है ?

स्वित्

वितर्क अर्थ में—अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् (ऋ० १०।१२६।५) । क्या नीचे था अथवा ऊपर ।

स्वित्

परिप्रश्न अर्थ में—द्विपं स्विदश्वः समरेऽभ्युपैति, क्या घोड़ा युद्ध में हाथी का सामना करता है ? न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति (छां० उ०१।१०।४), क्या ये (कुल्माष) उच्छिष्ट नहीं हैं ?
वितर्क अर्थ में—देवी स्विदेषा नरसंभवा वा, क्या यह सुराङ्गना हो सकती है अथवा मानुषी ।

अथ

मङ्गल अर्थ में—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (ब्रह्म सूत्र १।१) । यहाँ 'अथ' का 'अनन्तर' अर्थ है । कर्ममीमांसा के पीछे ब्रह्मजिज्ञासा प्रारम्भ होती है । अथ शब्द अपने अनन्तर आदि अर्थों में वर्तमान होता हुआ ही श्रवणमात्र से माङ्गलिक होता है जैसे दधि दर्शन ।
अनन्तर अर्थ में (बिना मङ्गल के)—स्नातोऽथ भुङ्क्ते, स्नान कर चुका है, इसके अनन्तर भोजन करता है ।

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
······धेनुमृषेर्मुमोच ।। (रघु०)

इसके अनन्तर प्रजेश दिलीप ने ऋषि की गौ को जिसे उसकी धर्मपत्नी ने गन्ध और माला ग्रहण कराई थी, (बन को जाने लिये) छोड़ दिया ।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।। (बृहदा० उ० ४।४।७)

जब इसकी हृदय-स्थित सारी कामनायें दूर हो जाती हैं, तब मर्त्य (मरणधर्मा मनुष्य) अमर हो जाता है और यहीं (इसी जन्म में) ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ।

'साकल्य' अर्थ में—

श्रुतं माहाभाग्यं यदिह जनतो यच्च गुणतः ।
प्रसङ्गाद् वत्सस्येत्यथ खलु विधेयः परिचयः ।।

अथ=सम्पूर्ण रूप से । शेष स्पष्ट है ।

आरम्भ—अथ शब्दानुशासनम्, शब्दों का अनुशासन (अन्वाख्यान) प्रारंभ होता है ।

प्रश्न अर्थ में—न चेन्मुनिकुमारोऽयम् अथ कोऽस्य व्यपदेशः (शाकुन्तल), यदि यह मुनि कुमार नहीं, तो इसका कुल क्या है ?

कात्स्न्र्य अर्थ में—अथ धर्मं व्याख्यास्यामः (गण० महो०), धर्म का सर्वाङ्ग व्याख्यान करेंगे ।

चार्थ में—गणितमथ कलां वैशिकीम् (मृच्छक० २।३), गणित और वेश (वेश्याजनगृह) सम्बन्धी कला को । निष्प्रज्ञो नाशयत्येव प्रभोरर्थमथात्मनः (कथास०), मूर्ख स्वामी के कार्य तथा अपने कार्य को विगाड़ देता है ।

आयुषो राजचित्तस्य वित्तस्य पिशुनस्य च ।
अथ स्नेहस्य देहस्य नास्ति कालो विकुर्वतः ।।

आयु (जीवनकाल), राजा का चित्त, धन, सूचक, स्नेह और देह—इनके बिगड़ने का कोई नियत काल नहीं । 'विकुर्वतः' के स्थान में 'विकुर्वाणस्य' शुद्ध होगा ।

विकल्प अर्थ में—शब्दो नित्योऽथानित्यः (गणरत्न०), शब्द नित्य है अथवा अनित्य।

पूर्ववाक्य में यदि अथवा चेत् होने पर उत्तरवाक्य में तदा, तर्हि के अर्थ में—मुहूर्त्तादुपरि उपाध्यायश्चेदागच्छेदथ त्वं छन्दोऽधीष्व, यदि गुरु जी एक मुहूर्त के पीछे आजायें तो तूने छन्द पढ़ना। न चेन्मुनिकुमारकोऽयमथ कोऽस्य व्यपदेशः (शाकुन्तल), यदि यह मुनिकुमार नहीं, तो इस क्या कुल है।

यदि अर्थ में—अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः किमिति यशो मुधा मलिनी कुरुध्वे (वेणी०), यदि मृत्यु अनिवार्य है (अवश्यम्भावी है), तो व्यर्थ में अपने यश को क्यों कलङ्कित करते हो?

संशय अर्थ में—किमलम्बताम्बरविलग्नमधः
किमवर्धतोर्ध्वमवनीतलतः।
विससार तिर्यगथ दिग्भ्य इति
प्रचुरीभवन्न निरधारि तमः॥

क्या बढ़ता हुआ अन्धेरा आकाश में लगा हुआ नीचे उतरा, क्या भूतल से ऊपर की ओर बढ़ा है, अथवा दायें बायें दिशाओं से फैला है, इसका निर्धारण (निर्णय) न हो सका।

अथो

'अथ' के अर्थों में ही 'अथो' का प्रयोग होता है।

चार्थ में—स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥
(मनु० २।२४०)

समादेयानि=प्रतिग्रहीतव्यानि। शेषं स्पष्टम्।

अनन्तर अर्थ में—अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्तिनीं
विवर्तितानञ्जननेत्रमैक्षत। (कुमार० ५।५१)

तब अञ्जनशून्य नेत्रों से पास में खड़ी सखी को पार्वती ने देखा।

वा

समुच्चय (चार्थ) में—अस्ति ते माता स्मरसि वा तातम् (उ० रा० च०), क्या तेरी मां है और क्या तू पिता को याद करता है।

उपमान अर्थ में—

अशीविषो वा संक्रुद्धः सूर्यो वाभ्रविनिर्गतः ।
भीमोऽन्तको वा समरे गदापाणिरदृश्यत ।।

युद्धभूमि में गदाधारी भीम प्रकुपित साँप की भान्ति, मेघ-विनिर्मुक्त सूर्य की भान्ति, और यम की भान्ति दीखता था ।

जातां मन्ये तुहिनमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्, (मेघ० ८४), मैं जानता हूँ कि (मेरी प्रिया) हिममर्दित कमलिनी की तरह विकृत रूप को प्राप्त हो गई है ।

स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्त्रोर्णं वोपयुज्यते(मालविका ५।१२), स्नानार्थ वस्त्र के काम में रेशम का जैसे कोई उपयोग करे वैसे मैं ने मालविका का किया है ।

विकल्प में—एको देवः केशवो वा शिवो वा
एका नारी सुन्दरी वा दरी वा ।
एको वासः पत्तने वा वने वा

पत्तन=नगर । दरी=गुफा । शेष स्पष्ट है ।

निर्धार्यतां वा विनिवार्यतां वा निर्भर्त्स्यतां वा रजनीचरेन्द्र ।
पृष्टेन पथ्यं भवतस्तथापि वक्तव्यमेवाद्य विभीषणेन ।। (राम-

चरित) हे राक्षसराज, चाहे आप मुझे बाहिर निकाल दें, रोक दें अथवा झिड़क दें, पूछा जाने पर विभीषण आज आप को हित वचन अवश्य कहेगा ।

'वा' का कभी-कभी अनर्थक भी प्रयोग होता है—परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते (=को वा न मृतः, को वा न जायते), इस परिवर्तनशील संसार में कौन नहीं मरा और नहीं जन्मा ?

यद्वा

'अथवा' अर्थ में—कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः(गीता), इन दो में से हमारे लिए कौन सी अधिक अच्छी बात है, हम उन्हें जीतें अथवा वे हमें जीतें ।

यदि वा

अथवा अर्थ में—निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु (भर्तृ०), नीतिज्ञ लोग हमारी निन्दा करें अथवा स्तुति करें ।

अथवा

'वा' अर्थ में—व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्योऽथवा भवेत् (हितोप०

३।५८)।

पूर्वोक्त का संशोधन करते हुए यूँ कहिए, ऐसा कहना उचिततर होगा, ऐसी विवक्षा में—दीर्ये किं न सहस्रधाहमथवा रामेण किं दुष्करम् (उ० रा० च०), मैं हजारों टुकड़े क्यों नहीं हो जाता, यूँ कहना चाहिए—राम से कौन सा (क्रूर) कर्म दुष्कर है। अथवा कृतं सन्देहेन, सन्देह क्यों किया जाय।

शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।
अथो गङ्गा सेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥ (भर्तृ० १।९)

यह गङ्गा स्वर्ग से शिव के सिर पर गिरी, शिव के सिर से हिमालय पर, ऊँचे हिमालय से पृथिवी पर, पृथिवी से समुद्र में, इस प्रकार यह स्तोक (अल्प, परिमित) स्थान को प्राप्त हो गई। कहना न होगा कि विवेक-रहित पदार्थों का नाना प्रकार से पतन होता है।

नैवात्मनीनमथवा क्रियते मदान्धैः (शिशु०) क्या कहा जाय मदान्ध लोग अपने हित का कार्य कभी नहीं करते।

यदि वा

'यदि वा' का 'अथवा' के अर्थ में प्रयोग देखा जाता है—यदि वाऽत्यन्त-मृदुता न कस्य परिभूतये (कथास०) कहना न होगा कि अतिकोमलता किसके परिभव (तिरस्कार) का कारण नहीं होती?

अथ किम्

और क्या, 'हाँ' के अर्थ में—अपि वृषलमनुरक्ताः प्रकृतयः। अथ किम् (मुद्रा०), क्या चन्द्रगुप्त के प्रति प्रजाओं का अनुराग है? हाँ।

किं वा

किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता
तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत्। (शाकुन्तल ७।४)

'वा' का यहाँ कुछ विशेष अर्थ नहीं। श्लोकार्थ है—क्या अरुण अन्धकार को दूर करने वाला होता यदि सूर्य उसे अपने रथ के आगे न बिठाता।

अपि वा

इस निपात-समुदाय में 'अपि' का कुछ अर्थविशेष नहीं—

हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा (रघु० १।१०)। स्वर्ण की शुद्धता अथवा खोटापन अग्नि में जाना जाता है।

उत

प्रश्न अर्थ में—उत तमादेशमप्राक्ष्यः, येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम् (छां० उ० ३।१।२–३), क्या तूने उस उपदेश को पूछा जिससे (सब) न सुना हुआ सुना हुआ हो जाता है, न विचारा हुआ, विचारा हुआ और न जाना हुआ जाना हुआ हो जाता है। स्मरसि स्मर। मेखलागुणैरुत गोत्रस्खलितेषु बन्धनम् (कुमार० ४।८)—क्या हे काम, तुझे याद है कि नामोच्चारण में स्खलन के निमित्त मैंने तुझे करधनी की रस्सी से बाँधा ?

'अपि' अर्थ में—स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं
तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं
न कश्चन सहत आहवेषु ॥ (ऋ० ६।४७।१)

यह (सोम) निश्चय ही स्वादु है, और मधुर है। यह निश्चय ही उत्तेजक और रसवान् (सरस) है। इसे पीए हुए इन्द्र का युद्धों में कौन अभिभव कर सकता है ? उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम् (ऋ० १०।७१।४), कोईएक वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता। प्रियं मा कृणु देवेषूत शूद्र उतार्ये (अथर्व० १९।६२।१), मुझे देवताओं का प्यारा बनाओ, शूद्र और आर्य का भी।

विकल्प में, 'वा' के अर्थ में—उत पर्वतं भिन्द्या उत त्रुटघेद् वज्रः (स्वामी), या तू पर्वत को तोड़ देगा, या वज्र टूट जायगा। एकमेव परं पुंसामुत राज्यमुताश्रमः, पुरुषों के लिए एक ही उत्तम पदार्थ है, राज्य अथवा तपोवन।

'वितर्क' अर्थ में—

किं देवी स्वयमागता मुररिपोर्देवस्य वक्षःस्थलात्
कूपात् पत्युरुतावतारमकरोद् देवी भवानी स्वयम्।

क्या ऐसा हो सकता है कि मुरारि (विष्णु) की स्त्री (लक्ष्मी) उसके वक्षःस्थल को छोड़ स्वयं आ गई है अथवा पति की गुफा से भवानी स्वयं उतर आई है।

कभी-कभी 'उत' का विशेष अर्थ कुछ नहीं होता, तब इसका वाक्य के अन्त में प्रयोग होता है—धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत (गीता १।४०)।

आहो

'वा' के अर्थ में—वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्
व्यापाररोधी मदनस्य निषेवितव्यम्।
...आहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः (शाकुन्तल)

क्या इसने विवाहपर्यन्त कामव्यापार के नियमन करने वाले व्रत (=ब्रह्मचर्य) का सेवन करना है अथवा (सदा के लिए) तपोवन की मृगियों के साथ वास करेगी? दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः (शाकुन्तल), (आप ही कहिए) क्या मैं पत्नी का परित्याग करूँ अथवा परस्त्री स्पर्श से दूषित होऊँ।

उताहो

'वा' के अर्थ में—कच्चित्त्वमसि मानुषी उताहो सुराङ्गना, क्या तुम मानुषी हो अथवा दिव्यस्त्री हो।

आहोस्वित्

'वा' के अर्थ में—प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधाम् (शाकुन्तल ५।९), अथवा मेरे पापों के कारण वेलों में पुष्पफल का आना रुक गया है।

उताहोस्वित्

'वा' के अर्थ में—शालिहोत्रः किन्नु स्यादुताहोस्विद् राजा नलः, क्या यह सलोत्री हो सकता है अथवा राजा नल।

मा

'मत' अर्थ में—अयि निरनुक्रोशस्य पुत्त्रौ, मा चापलम् (कुन्दमाला), हे निष्ठुर (पिता) के पुत्रो, चञ्चलता मत करो। मा मूमुहत् खलु भवन्तमनन्यजन्मा, मा ते मलीमसविकारघना मतिर्भूत् (मालती० १।३२), काम तुझे विचित्त न करे, तेरी बुद्धि में तामस विकार न हो।

'ऐसा न हो' अर्थ में—लघु एनां परित्रायस्व मा इङ्गुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य कस्यापि तपस्विनो हस्ते पतिष्यति (शाकुन्तल २), शीघ्र ही इसे बचाइये, ऐसा न हो, यह इंगुदी वृक्ष के तेल से चीकने सिर वाले किसी तपस्वी के हाथ लग जाय।

आक्रोश (निन्दा) के गम्यमान होने पर—मा जीवन्यः परावज्ञादुःख-दग्धोपि जीवति (शिशु० २।४५), धिक्कार है उसके जीवन को, जो परतिर-स्कार-रूप दुःख से दग्ध हुआ भी जीता है ।

मा स्म

मा के अर्थ में—भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः (शाकुन्तल ४,१७), भर्ता के दुर्व्यवहार के कारण क्रुद्ध हुई भी तू इसके प्रतिकूल आचरण मत करना ।

मा कीम्

'मत कोई' अर्थ में—माकीं संशारि केवटे (ऋ० ६।५४।७), कूएँ में गिरकर मत कोई (गौ) नष्ट हो ।

मा किर्

ऊपर निर्दिष्ट अर्थ में ही—मा किर्देवानामपभूरिह स्याः (ऋ०१०।११।१६), तू परे दूर मत हो, यहाँ रहो । मा किस्तोकस्य नो रिषत् (ऋ० ८।६७।११), हमारी सन्तान को कोई नष्ट न करे ।

न किर्

'न कोई' अर्थ में—नकिरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि (ऋ० १६।१०।५), इसके नियमों का कोई भी उल्लंघन नहीं करते ।

न किर् वक्ता ना दादिति (ऋ० ८।३२।१५), कोई यह कहने वाला नहीं हो कि इन्द्र अदाता है । नकिस्तं घ्नन्त्यन्तितो न दूरात् (ऋ० ८।७८।५), उसे कोई लोग भी न तो समीप से मार सकते हैं और न दूर से ।

नकीम्

न कोई अर्थ में—नकीमिन्द्रो निकर्तवे (ऋ० ८।७८।५), कोई इन्द्र का निकार (तिरस्कार) नहीं कर सकता ।

कम्

वेद में पादपूरण के रूप में—अजीजन ओषधीर्भोजनाय कम् (ऋ० (५।८३।१०), तू ने भोजन के लिये ओषधियों को उत्पन्न किया ।

'कं शिरः सुखवारिषु'—ऐसा विश्वप्रकाश का पाठ है । 'सिर' के अर्थ में इसका कपाट, कबन्ध आदि शब्दों में प्रयोग दीखता है । 'सुख' अर्थ में 'नाक' शब्द में । न किंचन अकं दुःखमत्रेति नाकः । 'जल' अर्थ में 'कमल' कञ्ज, आदि शब्दों में इसका प्रयोग देखा जाता है । कं जलमलङ्करोतीति कमलम् । कं जले जायत इति कञ्जं कमलम् ।

कु

'कुत्सित' अर्थ में—अकुत्सितमनल्पं पारमस्येत्यकूपारः समुद्रः। पृषोदरादि होने से 'कु' को दीर्घ। कुत्सिता आपोऽत्रेति कूपः (नदी, नद, समुद्र की अपेक्षा थोड़े जल वाला) कूआँ। पृषोदरादि। कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति, पुत्र कुपुत्र हो सकता है, माता कभी कुमाता नहीं होती। वेदार्थखण्डनाय यो भवति स कुतर्कः। सति विभवे कुचैलो न स्यात्, सामर्थ्य होने पर कुत्सित वस्त्र धारण न करे। स्मरण रहे 'कु' का वाक्य में स्वतन्त्रतया प्रयोग नहीं होता, समास के आद्यावयव के रूप में ही होता है।

पृथिवी-वाची 'कु' अव्यय नहीं। कुजः=भौम=मङ्गल ग्रह। कौ पृथिव्यां मोदत इति कुमुदम्।

अमा

सहार्थ में—अमावस्या (अमावास्या)। अमा सह वसतः सूर्याचन्द्रमसावस्याम् इति। अमात्यः=राज्ञा सह वर्तत इति। 'अमा' का 'घर', 'घर पर' भी अर्थ है—विश्वेषां कामश्चरतानमाऽभूत् (ऋ० ७।१५३।), सभी बाहिर घूमने वालों को (सूर्यास्तमय काल में) घर जाने की इच्छा होती है। स नो वेदो अमात्यमग्नी रक्षतु विश्वतः (ऋ० ७।१५।३)। अग्नि हमारे घर पर पड़े धन की सब ओर से रक्षा करे। स नो अमा सो अरणे निपातु( )। वह हमारी घर में और अरण्य में रक्षा करे। 'अमात्य' का वेद में समानगृहवासी समानगृहसम्बद्ध भी अर्थ है—यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखान (वा० स० ५।२३), जिसे बाहिर के किसी पुरुष ने गाड़ा और जिसे मेरे घर वालों ने गाड़ा।

अपि

कामचारानुज्ञा अर्थ में—अपि याहि अपि तिष्ठ, तुम्हारी इच्छा है, चाहे जाओ, चाहे ठहरो।

इष्ट प्रश्न में—अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशम् (कुमार० ५।३३) नित्यकर्म करने के लिये समिधाएँ तथा कुशा तो सुप्राप हैं न?

अपि मां व्यसनाद् घोरादुद्धरिष्यति (रा० ५।३३।३४), क्या राम मुझे इस घोर विपत्ति से निकालेंगे?

संभावना अर्थ में—अपि शिरसा पर्वतं भिन्द्यात्, संभावना है वह सिर से पर्वत को फोड़ दे।

अपि स दिवसः किं स्याद् यस्मिन्प्रियमुखपङ्कजे ।
मधु मधुकरीवास्मद्-दृष्टि विकासिनि पास्यति ॥

क्या संभावना करूँ कि वह दिन आयगा जब भ्रमरी जैसे कमल के मधु को पीती है वैसे प्रिया के खिले हुए मुखकमल में स्थित मधु को मेरी आँखें पान करेंगी ।

अपि नः कुले जायाद्यो नो दद्यात् त्रयोदशीम्, क्या हम आशा करें कि हमारे कुल में कोई जन्मेगा जो हमें त्रयोदशी तिथि में श्राद्ध भोजन देगा ।

अपि मे देवताः कुर्युरिमं सत्यं मनोरथम् (रा०२।८८।२६), क्या मैं आशा करूँ कि देवता मेरे इस मनोरथ को पूरा करेंगे ।

स्ताक, मात्रा, बिन्दु आदि अर्थ में—सर्पिषोऽपि स्यात्, थोड़ा सा घृत होगा ।

अति

अतिक्रमण, अतिशयन अर्थ में—श्रिया समानानति सर्वान्त्स्याम् (अथर्व० ११।१।२१), मैं श्री में समान सब लोगों से आगे बढ़ जाऊँ ।

अति वा एषा (ऋक्) अन्यानि च्छन्दांसि यदतिच्छन्दाः (ता० ब्रा० ५।२।११), अतिच्छन्दा नाम की ऋक् दूसरे छन्दों से उत्कृष्ट है ।

इयं रूपेणाप्सरसोऽति, यह रूप में अप्सराओं से आगे निकल गई है । अति देवांस्ते मनुजा ये परार्थे तनुत्यजः, वे मनुष्य देवताओं से आगे निकल गये हैं जो दूसरों के लिये अपने प्राण दे देते हैं ।

अतिशय अर्थ में—अतिदानाद् बलि र्बद्धो नष्टो मानात्सुयोधनः ।
विनष्टो रावणो लौल्यादति सर्वत्र वर्जयेत् ॥

यहाँ द्वितीयदि श्लोकचरणों में भी 'अति' का अन्वय अभिप्रेत है, अतिमानात्, अतिलौल्यात् । लौल्य=चापल ।

अनु

लक्षण अर्थ में—वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्=वृक्षेण लक्षिता विद्युत् प्रकाशते, वृक्ष पर जो प्रकाश पड़ा, उससे यहाँ क्षणिक विद्युत् चमकी यह जाना जाता है, अतः वृक्ष विद्युत्-विलास का लक्षण हुआ । धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते नो चेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति (आप०ध० १।२०।३-४), धर्माचरण के होने पर लौकिक अर्थ स्वयम् उत्पन्न होते हैं । धर्माचरण से अर्थोत्पत्ति लक्षित होती है), यदि नहीं उत्पन्न होते तो भी धर्म की हानि (नाश)

नहीं होती। राजानमुत्तिष्ठमानमनूत्तिष्ठन्ते भृत्याः (कौ० अर्थ० १।१६।१६), राजा के उद्योगी होने पर भृत्य भी उद्योग करते हैं (राजोद्योगेन भृत्योद्योगो लक्ष्यते)। क्रमेण सुप्तामनु संविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् (रघु०२।२४), (महाराज दिलीप) नन्दिनी गौ के सोने पर सोता और उसके सोकर उठने पर प्रातः उठता।

वीप्सा अर्थ में—स्फुरत्यनुवनं चमरीचयः, वन-वन में चमरियोंके झुंड मंद-मंद चलते हैं।

इत्थम्भूत लक्षण में—तमनुप्रसक्तहृदयेयमेति, यह उसके प्रति प्रसक्त (अनुरक्त) हृदयवाली जा रही है।

सन्निधि (सामीप्य) अर्थ में—अनुनदि शुश्रुविरे रुतानि, नदी के निकट शब्द सुने गये।

सादृश्य अर्थ में—दासाः स्वामिनमनुकुर्युरिति किं चित्रम्, दास स्वामी का अनुकरण करें इसमें क्या आश्चर्य है?

आयाम (लम्बाई) अर्थ में—अनुगङ्गं वाराणसी, बनारस गङ्गा के साथ-साथ लम्बाई में वसा हुआ है। अनुयमुनं मथुरा। अनुनदि पुराऽऽर्याणां वसतयो बभूवुः, नदियों के साथ-साथ फैली हुई आर्यों की वसतियां हुआ करती थीं।

'हीन' अर्थ में—अन्वर्जुनं धानुष्काः, दूसरे धन्वी (धनुर्धारी)अर्जुन से नीचे है। अनु पाणिनिमन्ये वैयाकरणाः, दूसरे वैयाकरण पाणिनि से उतर कर हैं।

सहार्थ में—दिवसोऽनुमित्रमगमद् विलयम्, दिन सूर्य के साथ ही विलीन होगया। 'मित्र' का 'सूर्य' अर्थ लोक में अप्रसिद्ध है।

पश्चात् अर्थ में—स्वामिनमनुयान्ति परिचारकाः सेवक स्वामी के पीछे जाते हैं। विश्राम्य तावत्कालमपि कालकलाम्, तदनु गृहं यास्यसि, कुछ समय विश्राम कीजिये, पीछे घर जाना।

प्रति

'लक्षण' अर्थ में—किं चिन्मां प्रति भेदकारि हसितं नोक्तं वचो निष्ठुरम्, मेरे प्रति(मां लक्षयित्वा), कुछ भेदकारी हंसी तो की, (पर) कठोर वचन नहीं कहा।

इत्थम्भूताख्यान में—साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति, तेनेमं प्रशंसति जनः, देवदत्त का माता के प्रति अच्छा व्यवहार है, अतः लोग इसकी प्रशंसा करते हैं।

यदत्र मां प्रति स्यात्तन्मे दीयताम्, नातोऽधिकं मार्गामि, जो यहाँ मेरा भाग है वह मुझे दिया जाय, मैं उससे अधिक नहीं चाहता। हरं प्रति हलाहलमभवत्, (समुद्रमथन में) भगवान् शिव के भाग में विष आया।

वीप्सा अर्थ में—वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति।

प्रतिनिधि अर्थ में—अभिमन्युरर्जुनतः प्रति, अभिमन्यु अर्जुन का प्रतिनिधि है। प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रति। प्रद्युम्न वासुदेव का प्रतिनिधि है।

प्रति द्विपमदामोदाद् गन्धं सप्तच्छदान्यधुः, सप्तच्छद वृक्षों ने गजमद के सुगन्ध के प्रतिनिधि रूप में गन्ध को धारण किया।

प्रतिदान (वदले में देना)—तिलेभ्यः प्रति यच्छति माषान्, तिलों के वदले माष देता है। धनात्प्रति मानं प्रयच्छत्यधन्यः, अभागा धन के वदले में मान (आत्ममान) देता है। उक्षाणं पक्त्वा सह ओदनेन अस्मात्कपोतात् प्रति ते नयन्तु (भा० वन० १९७।१५), बैल को ओदन के साथ पकाकर इस कपोत के वदले में ले जायें। शेफालीभ्यो दद्युर्लास्यं प्रति गन्धांच्च मारुताः, शेफालिकाओं से गन्ध लेकर वायु ने उसके वदले उन्हें लास्य (नृत्य) दे दिया।

अभिमुखता अर्थ में—प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति, पतंगे अग्नि के अभिमुख होकर गिरते हैं।

अभि

अभिमुखता अर्थ में—अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति, पतंगे अग्नि के अभिमुख होकर गिरते हैं।

भाग अर्थ में—यन्नमाभिष्यात् तन्मे देहि, जो मेरा भाग है वह मुझे दो।

आङ्

मर्यादा अर्थ में—आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः, पाटलिपुत्र तक वृष्टि हुई (पाटलिपुत्र में नहीं हुई)।

> अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
> र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः। (शाकुन्तल)

ओदकान्तादा वनान्तात् प्रियं प्रोष्यमनुव्रजेत्, तालाब तथा बन के अन्त तक प्रवास करते हुए प्यारे बन्धु के साथ जाये।

आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्। (शाकुन्तल), जब तक विद्वानों को परितोष नहीं होता तब तक मैं अपने नाटक खेलने की कला को निर्दोष नहीं मानता

अभिविधि अर्थ में—आ कुमाराद् यशः पाणिनेः, पाणिनि का यश बच्चों तक फैला हुआ है (बच्चों को भी अभिव्याप्त कर रहा है)।

आ काश्मीरेभ्य आ च कन्यान्तरीपाद् अयं लोको भारतं वर्षमुच्यते, काश्मीर से कन्याकुमारी तक (दोनों को व्याप्त करके) यह देश भारतवर्ष कहलाता है। आ मूलाच्छ्रोतुमिच्छामि, मैं प्रारम्भ से सुनना चाहता हूँ। आमूलचूलं सर्वं वृत्तमाचष्ट, प्रारम्भ से लेकर अन्त तक सारा वृत्त कह दिया। मूलं च चूडा च=मूलचूलम्। समाहारद्वन्द्वः। डलयोरभेदाल्लकारः। तदभिव्याप्य।

आ लौहित्योपकण्ठात्तलवनगहनोपत्यकादा महेन्द्रा-
दा गङ्गाश्लिष्टसानोस्तुहिनशिखरिणः पश्चिमादा पयोधेः।
सामन्तैर्यस्य बाहुद्रविणहृतमदैः पादयोरानमद्भि-
श्चूडारत्नांशुराजिव्यतिकरशबला भूमिभागाः क्रियन्ते॥

(यशोधर्मा का शिलालेख)

ब्रह्मपुत्र-समीपवर्तिभूमि तक के, तालीवन-घन-उपत्यका वाले महेन्द्र पर्वत तक के, जाह्नवी से आलिङ्गित ऊपरी तल वाले हिमालय तक के, पश्चिम समुद्र तक के सामन्तों, जिनके बाहुबल-गर्व का हरण हो चुका है, जो (यशोधर्मा) के चरणों में नमस्कार कर रहे हैं, से जिस (यशोधर्मा) के भूमिभाग शिरोरत्नों की परम्परा के सम्पर्क से चित्र विचित्र बनाये जा रहे हैं।

आ

'स्मरण' अर्थ में—आ एवं किल तदासीत्, मुझे स्मरण आ गया है, वह ऐसा ही था।

अधि

'उपरि' अर्थ में—यं दन्तमधिजायते नाडी तं दन्तमुद्धरेत् (सुश्रुत), जिस दाँत के ऊपर नाडी आ जाय, उसे निकाल दे। यही अर्थ 'अधिदन्त' शब्द में है और यही अधिकर्मन् (अवेक्षा, प्रत्यवेक्षा) में। दन्तस्योपर्यारूढो दन्तोऽधिदन्तः।

स्वामित्व, अधिकार अर्थ में—अधि भुवि रामः। अधि रामे भूः, राम पृथिवी का ईश्वर (स्वामी) है

'पश्चात्' अर्थ में—ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसो अध्यजायत (ऋ० १०।१९०।१)। उसके पीछे देदीप्यमान तप से ऋत तथा सत्य उत्पन्न हुए।

उपरि

ऊपर अर्थ में—अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात (रघु० २।६०)॥ अवाङ्मुखस्य=नीचैर्मुखस्य। शेष स्पष्ट है।

उपर्युपरि

जरा ऊपर अर्थ में—उपर्युपरि ते शिरो भ्रमति भ्रमरः, तेरे सिर के कुछ ही ऊपर भँवरा मंडरा रहा है।

अधः

'नीचे' अर्थ में—वृक्षस्याधश्छायायामुपविष्टः श्रान्तः श्रमी। अध आसने तिष्ठ, निचले आसन पर बैठो।

अधोऽधः

नीचे और नीचे, नरक भूमि—

व्यसन्यधोऽधो याति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः (मनु०७।५६), व्यसनी मर कर नरक को प्राप्त होता है और व्यसनरहित स्वर्ग को।

जरा नीचे—अधोऽधोऽधरं तिलकालकः, निचले होंठ के ज़रा नीचे काला तिल है।

अधस्तात्

नीचे अर्थ में—धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण (सां० का०), धर्माचरण से ऊर्ध्व गति को प्राप्त होता है और अधर्माचरण से नीच गति (नरक) को। अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत् (मनु० ४।५४), (इसे) अग्नि को (अङ्गारशकटी आदि में खट्वादि के) नीचे न रखे और इसे लांघ कर न जाये। तस्याधस्ताद् वयमपि रतास्तेषु पर्णोटजेषु (उ०रा०च० २। २५), उसके नीचे हम भी पर्णशालाओं में सुखपूर्वक रहते थे।

पुरस्

आगे, सामने अर्थ में—अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम् (रघु० २।३६), तुम सामने उस देवदारु को देख रहे हो।

विशेषविदुषः शास्त्रं यत्तवोद्ग्राह्यते पुरः ।
हेतुः परिचयस्थैर्ये वक्तुर्गुणनिकैव सा ॥ (शिशु० २।७५)

विशिष्ट विद्वान् आप के संमुख जो शास्त्र को उद्धृत किया जाता है, वह अपने ज्ञान की स्थिरता के लिये है। वह वक्ता का अभ्यासमात्र है।

'पहले' अर्थ में—पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासितरसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते ।

(उ० रा० च०)

पहले अथवा पीछे जिसका स्वभाव नहीं बदलता, ऐसा सज्जनों का निश्छल शुद्ध चरित-रहस्य सर्वोत्कृष्ट है। तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः (शाकुन्तल ७।३०)।

पुरस्तात्

सामने, आगे अर्थ में—रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ताद्
वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य ।

(मेघ० १५)

यह सामने रत्नकान्तियों के सम्मिश्रण के सदृश, देखने योग्य इन्द्रधनुष् बाँवी के ऊपर से प्रकट हो रहा है। पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन्बाधन्ते नोत्तरान्, विधि से पूर्व पठित अपवाद-शास्त्र अनन्तर आने वाले विधि शास्त्र को बाधते हैं, उससे पीछे आने वाले को नहीं।

आगे, बढ़कर अर्थ में—कान्तासम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः पुरस्ताद्यतीनाम् (मालविका १।१)

जो शिव अपनी प्रिया के साथ नित्य युक्त होने पर भी निर्विषय मन वाले योगियों से भी बढ़कर (अग्रिय) हैं।

'पूर्व दिशा में' इस अर्थ में—आदित्यः पुरस्तादुदेति पश्चादस्तमेति, सूर्य पूर्व दिशा में उदय होता है और पश्चिम दिशा में अस्त होता है।

परस्तात्

'परे' अर्थ में—परस्ताद् गम्यत एव, आगे समझ में आगया (कहने की अपेक्षा नहीं)। वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् (ऋ० वा० सं० ३१।१८), मैं उस आदित्य की तरह भास्वर महापुरुष को जानता हूँ जो अन्धकार से परे है।

पश्चात्

पीछे, पीछे से, पृष्ठ से—पश्चाद्बद्धपुरुषमादाय (पीछे से बाँधे हुए पुरुष को लाकर)। पश्चादुच्चैर्भवति हरिणः स्वाङ्गमायच्छमानः (शाकुन्तल), हिरण अकड़ाई लेते हुए पिछले भाग से ऊँचा उठता है।

पुरो वा पश्चाद्वा वयमुपविशामः क्षितिभुजां
ततः किं नश्छिन्नं वचनरचनाक्रीतजगताम्।
अगारे कान्तारे कुचकलशभारे मृगदृशां
मणेस्तुल्यं मूल्यं सहजसुभगस्य द्युतिमतः॥

हम राजाओं के आगे बैठें अथवा पीछे, सुभाषित निर्माण द्वारा त्रिलोकी को खरीदने वाले हम लोगों का क्या बिगड़ता है। घर में, महारण्य में, मृगनयनियों के गुरु स्तनकलश में स्थित स्वभावसुन्दर भास्वर मणि का मूल्य एकसमान रहता है।

पीछे, कालान्तर में—पश्चाद् गमिष्यसि सरः प्रति मानसं तत्, पीछे तु उस मानस सरोवर के प्रति जाना।

पश्चिम दिशा में—आदित्यः पुरस्तादुदेति पश्चादस्तमेति।

अन्वक्

'पश्चात्' अर्थ में—तामन्वगयौ मध्यमलोकपालः (रघु० २।१६), पृथिवी का पालक (महाराज दिलीप) उसके पीछे गया।—तमन्वगिन्द्रप्रमुखाश्च देवाः सप्तर्षिपूर्वाः परमर्षयश्च। गणाश्च गिर्यालयम् अभ्यगच्छन् (कुमार० ७।७१), उस के (शिव के) पीछे इन्द्रादि देवता तथा सप्तर्षि-पुरःसर परमर्षि लोग तथा शिव के गण हिमवान् के गृह की ओर चले।

'पीछे से' अर्थ में—पिदधानमन्वगुपगम्य दृशौ
ब्रुवते जनाय वा कोऽयमिति। (शिशु० ६।७६)

पीछे से आकर आँखें बन्द करते हुए प्रिय को 'कहो यह कौन है' यह पूछते हुए को।

अभी (बिना विलम्ब) अर्थ में—अन्वगेवाहमिच्छामि वनं गन्तुमितः पुरः (रा० २।२२।११)।

अनुपदम्

पाओं में—अनुपदं बद्धा उपानदनुपदीनोच्यते, पाओं के नाप का जूता

पदप्रमाणोपानद् इति काशिका । वैजयन्तीकार तो 'अनुपदीना' को पादुका का पर्याय समझता है—पादुकानुपदीना स्यात् ।

अभी-अभी—एतदनुपदमेव व्याख्यास्यामः, इसकी अभी व्याख्या करेंगे ।

पीछे-पीछे—गच्छतां पुरो भवन्तौ अहमप्यनुपदमागत एव, आप दोनों आगे चलिये, मैं पीछे-पीछे आ रहा हूँ ।

अयि

कोमल आमन्त्रण (सम्बोधन) जैसे मित्र को बुलाना, अथवा सम्बोधन-मात्र अर्थ में—अयि विवेकविश्रान्तमभिहितम् (मालविका), अरी, तू ने विचारशून्य बात कही है । अयि विद्युत् प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि (मृच्छक० ५।३२), हे विद्युत् तू भी युवतियों के दुःख को नहीं जानती । अयि कठोर यशः किल ते प्रियम् (उ० रा० च०), हे निर्दय ! यह झूठ है कि तुझे यश प्यारा है ।

'कोमल प्रश्न' अर्थ में—अयि जीवितनाथ जीवसि (अयि=कच्चित्) (कुमार० ४।३), हे प्राणनाथ, आप जीते तो हैं ?

अये

'अयि' के अर्थ में—अये गौरीनाथ त्रिपुरहर शम्भो त्रिनयन ।
(भर्तृ० ३।१२३) ।

आश्चर्य अर्थ में—अये मातलिः, अहो मातलि (इन्द्रसारथि) आए हैं । अये कुमार लक्ष्मणः प्राप्तः (उ० रा० च०) ।

भोः

सम्बोधन अर्थ में—अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः । भोस्तपोधनाः चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि (शाकुन्तल ५), हे तपस्वियो, बहुत चिन्तन करने पर भी मुझे स्मरण नहीं आता कि मैं ने इस आदरणीया के साथ विवाह किया ।

'हे'

सम्बोधन अर्थ में—तां द्रष्टुं जनकात्मजां हृदय हे नेत्राणि मित्रीकुरु, हे हृदय, यदि तू जनकात्मजा को देखना चाहता है तो, नेत्रों को अपना सहाय बना ।

हंहो

'हे' अर्थ में—हंहो तिष्ठ सखे विवेक ! बहुभिः प्राप्तोसि पुण्यैर्मया ।

हे मित्र विवेक, ठहरो (मेरे पास चिरतक रहो), तुझे मैंने बहुत पुण्यों द्वारा प्राप्त किया है ।

अङ्ग

सम्बोधनमात्र में—अङ्ग कच्चित् कुशली तातः, हे (प्रिय), पिताजी प्रसन्न तो हैं ? अङ्ग कूज वृषल, इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म । कभी-कभी 'भोः' के साथ भी प्रयुक्त होता है—प्रभुरपि जनकानामङ्ग भो याचकस्ते ।

(महावीर० ३।५) ।

पुरा

चिरातीत काल में—पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः, पिछले समय में कवियों की गिनती के अवसर पर कालिदास ने कनिष्ठिका पर प्रथम स्थान प्राप्त किया । पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरिताम् (उ० रा० च०), जहाँ पहले पानी बहता था, वहाँ अब जलसे बाहिर निकले हुए नदियों के किनारे हैं ।

पूर्वमात्र अर्थ में—न पुराऽऽयुषः स्वःकामी प्रेयात्, पूर्ण भोग्य आयु से पहले स्वर्ग चाहने वाला न मरे (स्वेच्छा से देहत्याग न करे) । गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनं स्पन्दनात्पुरा (याज्ञ० १।११), गर्भाधान संस्कार ऋतु काल में करना चाहिये और पुंसवन संस्कार स्पन्दन (गर्भ का हिलना जुलना) से पूर्व । अहं सो अस्मि यः पुरा सुते वदामि कानि चित् (ऋ० १।१०५।७), मैं वही हूँ जिसने पूर्वकाल में कुछ स्तोत्र कहे थे ।

निकटागामी काल में—गच्छ पुरा वर्षति देवः, जाओ, बादल बरसने को है । आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा (मेघ०), वह बलिकर्म में व्यापृत हुई शीघ्र ही तेरी दृष्टि में आयगी । आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा (ऋ० १०।९७।११), यक्ष्मा (क्षय) रोग का स्वरूप अभी नष्ट हो जायगा । पुरानुशेते तव चञ्चलं मनः (किरात० ८।८), तेरा चञ्चल मन थोड़ी देर में अनुतप्त होगा । प्रत्यासीदति मुक्तिस्त्वां पुरा मा भूरुदायुधः (किरात० ११।३६), मुक्ति तुझे प्राप्त होने को है, शस्त्र मत उठाओ । पुराऽधर्मो वर्तते नेह यावत् तावद् गच्छामः सुरलोकं चिराय (भा० अनु० ४५।५६), जब तक इस लोक में अचिरकाल में अधर्म नहीं फैल जाता हम चिराकल के लिये देवलोक चले जायें । एकाग्रां पृथिवीं सर्वां पुरा राजन्करोति सः (भा० वन० ५२।२६), हे राजन् ! वह आसन्न भविष्यत् में सारी पृथिवी को एकसूत्र में बाँध देगा ।

पुरा शिलाशितैर्बाणैर्मा त्वां विध्वंसयाम्यहम् (रा०३।६८।४४), ऐसा न हो कि मैं शिलाओं पर तीक्ष्णीकृत बाणों से तुझे अभी नष्ट कर दूं। तदस्मिन्क्रियतां यत्नः क्षिप्रं पुरुषपुङ्गव। पुरा वानरसैन्यानि क्षयं नयति सायकैः (रा० ७१। ३६)॥ हे पुरुषश्रेष्ठ इस (रावणसुत अतिकाय) के विषय में शीघ्र यत्न कीजिये, यह वानर-सेनाओं को अचिर काल में नष्ट कर देगा।

प्रबन्ध=क्रियासातत्य अर्थ में—उपाध्यायेन स्म पुराऽधीयते, उपाध्याय ने निरन्तर पाठ किया।

समास में 'पुरा' पुरावृत्त अर्थ में भी प्रयुक्त होता है—वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः (कुमार० ५।२८)।

प्राक्

'पूर्व' अर्थ में—प्राङ् नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते (मनु०) नाभिनाल काटने से पूर्व जात-कर्म संस्कार किया जाता है। प्रागजीयत घृणा ततो मही, पहले घृणा (जुगुप्सा) को जीता, पीछे पृथिवी को।

'प्रभात' अर्थ में—प्रागुत्थानं च युद्धं च संविभागं च बन्धुषु।
स्त्रियमाक्रम्य भुञ्जीत शिक्षेच्चत्वारि कुक्कुटात्॥

प्रागुत्थानम्=प्रभाते प्रबोधः। संविभागः=स्वभोज्यैकदेशस्य बन्धुभ्यो दानम्। शेषं स्पष्टम्। यहाँ 'शिक्षेत' शुद्ध होगा। कवि ने छन्दोवशात् ऐसा पढ़ा है।

'पूर्व दिशा' अर्थ में—दर्भपवित्रपाणिः प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म, तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किम्पुनरियता सूत्रेण (भाष्य)। प्राङ्मुखः=पूर्वाभिमुखः। प्राङ्मुखोन्नानि भुञ्जीत, पूर्व दिशा की ओर मुंह करके भोजन करे। प्राक्कूलान् पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः (मनु० २।७५), पूर्वदिशा की ओर अग्र (नुकीले प्रान्त भाग) वाली कुशा के ऊपर बैठा हुआ और कुशापीडों से पवित्र हुआ हुआ। यदिन्द्र प्रागपागुदङ्न्यग्वा हूयसे नृभिः (ऋ० ८।४।१), हे इन्द्र तू लोगों से पूर्व में, पश्चिम में, उत्तर में तथा नीचे की दिशा में बुलाया जाता है।

'अनन्तर' अर्थ में—स्नातः पुरा प्राग् विलिलेप देहम् (हैम), पहले स्नान किया, तदनन्तर चन्दन-लेप किया।

'आगे' अर्थ में—प्राग्गामि पुण्यं नृणाम् (हैम), मनुष्यों का पुण्य आगे चलता है।

'एक बार' अर्थ में—सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥
(मनु० ६।४७)

दाय का विभाग एक बार ही होता है, कन्या एक बार ही विवाह में किसी एक को दी जाती है, (ऐसे ही) मैं (तुम्हें) दूँगा—यह एक बार कहता है, अर्थात् ऐसा कहकर दूसरे को नहीं देता। यह तीनों बातें एक बार ही होती हैं। सकृत्प्रजः=कौआ। सकृद्गर्भा=खच्चर।

'किसी एक समय में'—सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः (शाकुन्तल ५), कभी इसके साथ हमने प्रेम किया था।

'सह' अर्थ में—सकृद् यान्ति (हैम), एक साथ जाते हैं। अनुभवन्ति सकृत् सकलेन्द्रियाण्यभिमुखागतमिष्टजनं बत, प्यारे बन्धु को सामने आने पर सभी इन्द्रियाँ एक साथ अनुभव करती हैं।

प्रायः

'बहुत बार' अर्थ में—कल्पवृक्षोऽप्यभव्यानां प्रायो याति पलाशताम् (कथा स०), प्रायः कल्प वृक्ष भी भाग्य-रहित जनों के लिये पलाश (=किंशुक, ढाक का वृक्ष) बन जाता है (जिसमें फल नहीं आता, फूल ही आता है और वह भी निर्गन्ध)।

प्रायः समानविद्याः परस्परयशःपुरोभागाः (मालविका), प्रायः बराबर-विद्यावाले एक-दूसरे के यश के प्रति असहिष्णु होते हैं। कवि ने 'पुरोभाग' शब्द का पौरोभाग्य अर्थ में प्रयोग किया है। 'पुरोभागिन् का अर्थ 'केवल दोषों को देखने वाला' है—दोषैकदृक् पुरोभागी (अमर)। पुरोभागिनो भावः पौरोभाग्यम्। प्रायः प्रत्ययमाधत्ते स्वगुणेषूत्तमादरः (कुमार० ६।२०), उत्तम जनों का आदर प्रायः अपने गुणों में विश्वास उत्पन्न करता है।

प्रायः प्रकाशतां याति मलिनः साधुबाधया ।
नाग्रसिष्यत चेदर्कं कोऽज्ञास्यत् सिंहिकासुतम् ॥

प्रायः मलिनात्मा सज्जनों को पीड़ा देने से प्रसिद्ध होता है। यदि राहु सूर्य को न ग्रसता तो उसे कौन जानता।

'संभवतः' अर्थ में—तव प्राज्ञ प्रसादाद्धि प्रायः प्राप्स्यामि जीवितम् (भा० १२।४६३६), हे प्राज्ञ ! संभवतः तेरी कृपा से मैं जीवन प्राप्त कर सकूँ।

जातु

'कदाचित्' अर्थ में—न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति (मनु० २।९४), इच्छा इष्टपदार्थों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती। किं तेन जातु जातेन मातुर्यौवनहारिणा (पञ्चत० १।२८), मातृयौवन के हरण करने वाले उसके जन्म से कभी भी क्या फल? न जातु बाला लभते स्म निर्वृतिं तुषारसङ्घातशिलातलेष्वपि (कुमार० ५।५५), कुमारी पार्वती जमी हुई बर्फ की शिलाओं के ऊपर भी कभी (हरगिज़) चैन नहीं पाती थी।

अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति (विक्रमाङ्क०), सान पर उत्कषण (घर्षण) को अप्राप्त हुए रत्न कभी राजाओं के मुकुटों पर स्थान नहीं पाते।

कभी-कभी—गौरवाद्यदपि मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकाङ्क्षितं ददौ (रघु० १९।७), यद्यपि (अग्निवर्ण) मन्त्रियों के वचनका आदर करते हुए कभी-कभी प्रजाओं से अभिलषित दर्शन देता था।

अमर्ष, अनवक्लृप्ति=(असंभावना) अर्थ में लिङ् प्रयोग के साथ—जातु भवान्वृषलं याजयेत्। न मर्षयामः। नावकल्पयामः। आप शूद्र का यज्ञ करायें, यह हम नहीं सह सकते, इसकी हमें संभावना नहीं थी।

गर्हा अर्थ में लट्प्रयोग के साथ—जातु भवान् वृषलं याजयति। अहो गर्ह्यमेतत्। इन दो अर्थों में जातु शब्द का वाक्य के आदि में प्रयोग हो सकता है, अर्थान्तर में भी कहीं-कहीं। इसमें जात्वपूर्वम् (८।१।४७) सूत्र प्रमाण है।

अभीक्ष्णम्

वार-वार अर्थ में—क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णम्, घाव पर वार-वार चोट लगती है।

अजस्रम्

'लगातार' अर्थ में—अद्य त्रीणि वासराणि वर्षति वारिवाहोऽजस्रम्, आज तीन दिन से लगातार वृष्टि हो रही है। पश्चात्पुच्छं वहति विपुलं तच्च धूनोत्यजस्रम् (उ० रा० च० ४।२६), पीछे पूंछ को धारण किये हुए है और उसे लगातार हिला रहा है।

शश्वत्

'नित्य' अर्थ में—जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि (रघु०२।४८), हे प्रजानाथ, जीते रहोगे तो पिता की तरह प्रजाओं की उपद्रवों

से नित्य रक्षा करोगे। शश्वच्छान्ति निगच्छति (गीता), नित्यशान्ति को प्राप्त करता है।

'पुनः पुनः' अर्थ में—उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोसलेश्वरम् (रघु० ४।७०), कोसलेश्वर रघु को बार-बार उपहार प्राप्त हुए, पर उस में गर्व नहीं आया।

'एक साथ' अर्थ में—शश्वत्ते मुनयस्तत्र तमसेवन्त योगिनम्। शश्वत् का यह अर्थ हेमचन्द्रार्य ने दिया है।

सनात्

'नित्य' अर्थ में—अशत्रुर्जनुषा सनादसि (ऋ० १।१०२।८), (हे इन्द्र) तू जन्म से नित्य शत्रु-रहित है। सनाद् युवानमवसे हवामहे (ऋ० २।१६।१), नित्य युवा तुझे हम पुकारते हैं। सनाद्धि वो रत्नधेयानि सन्ति (ऋ० १०।७८।८), आप नित्य अमूल्य धन दान करते हैं।

सना

'नित्य' अर्थ में—सना नवा च चुच्युव (ऋ० ८।४५।२५), इन्द्र ने (जिन) नये और पुराने धनों को भेजा।

सना पुराणमध्येम्यारात् (ऋ० ३।५४।९), मैं अब उस पुराण (=पूर्व-क्रमागत), नित्य सम्बन्ध (जामि=जामित्व) को याद करता हूँ।

सना भूवन्द्युम्नानि मोत जारिषुः (ऋ० १।१३९।८), धन नित्य रहें, नष्ट मत हों।

सनत्

'नित्य' अर्थ में—सनत्कुमारः, नित्य ब्रह्मचारी ब्रह्मपुत्र। इसे सनाकुमार, सनात्कुमार नामों से भी पुकारते हैं।

पुनर्

'तु' अर्थ में—धनिनामितरः सतां पुनर्गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधिः (शिशु०), धनियों के लिये निधि और है, पर सत्पुरुषों के लिये गुणवानों का सान्निध्य ही उत्तम निधि है। पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः, (कुमार०), सुकुमार शिरीष-पुष्प भौंरे के चरण-न्यास को सह सकता है, पर पक्षी के पद-न्यास को नहीं।

'कालान्तर' अर्थ में—

बृहन्नले गायनो वा नर्तनो वा पुनर्भव।
क्षिप्रं मे रथमास्थाय निगृह्णीष्व रथोत्तमान्॥ (भा० वि० ३७।

२२), हे बृहन्नले ! गाने तथा, नाचने वाला तू पीछे होना, पहले शीघ्र मेरे रथ में बैठ कर घोड़ों को हाँको ।

क्षणात्प्रबोधमायाति लङ्घ्यते तमसा पुनः ।
निर्वास्यतः प्रदीपस्य शिखेव जरतो मतिः ॥

वृद्ध पुरुष की बुद्धि बुझते हुए दीए की शिखा की तरह क्षण भर के लिए प्रबुद्ध (प्रदीप्त) हो जाती है और फिर अन्धकार से आच्छादित हो जाती है ।

'वापिस' अर्थ में—पुनरेतु पराजिता (अथर्व० ३।१६) । पुनरेतु=प्रतिनिवर्तताम् ।

'दोबारा' अर्थ में—न पुनरेवं प्रवर्तितव्यम् (शाकुन्तल ६), फिर (दोबारा) ऐसा न करना ।

पुनः पुनः=बार-बार अर्थ में—स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्श देवं नरदेवसंभवः । पुनः पुनः सूत निषिद्धचापलम्.........॥ (रघु० ३।४२), रघु ने पूर्व दिशा में इन्द्र को देखा जिसकी चपलता को सूत (मातलि) बार-बार मना कर रहा था ।

वाक्यालङ्कार में—कुतः पुनरसौ लघुः पूर्वः (काशिका ५।१।१३१) । यहाँ 'पुनर्' का कुछ विशेष अर्थ नहीं ।

मुहुस्

बार-बार अर्थ में—विघ्नैः र्मुहुर्मुहुरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति (भर्तृ० १।७२) विघ्नों से बार-बार रोके जाने पर भी उत्तम गुणों वाले प्रारम्भ किये हुए कर्म का परित्याग नहीं करते ।

गुरूणां सन्निधानेऽपि कः कूजति मुहुर्मुहुः, गुरु की सन्निधि में भी कौन बार-बार कूँ कूँ कर रहा है ?

मुहुरुत्पतते बाला मुहुः पतति विह्वला ।
मुहुरालीयते भीता मुहुः क्रोशति रोदिति ॥

बाला बार-बार उठती है, बार-बार व्याकुल हुई गिरती है, डरी हुई बार बार छिप जाती है, बार-बार चिल्लाती और रोती है । यहाँ 'उत्पतति' शुद्ध रूप होगा ।

प्राध्वम्

'अनुकूलता से' अर्थ में—सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते (रघु० १३।४३), ऊर्ध्वबाहु (यह सुतीक्ष्ण) मेरे स्वागत के अनुकूल

इधर (मेरी ओर) दाईं बाँह को उठाता है। अजपच्च जप्यं सुचरितः प्रत्युषसि मध्यन्दिने दिनान्ते चापत्यहेतोः प्राध्वं प्रयतेन मनसा जञ्जपूको मन्त्रमादित्य-हृदयम् (हर्ष चरित ४)। प्राध्वं=विध्यनुकूलम्।

निःषमम्

'गर्ह्य' अर्थ में—निःषमं वक्ति मूर्खः (क्षीरस्वामी), मूर्ख अकालोचित बात कहता है।

सत्यम्

'प्रश्न' अर्थ में—सत्यं गमिष्यसि ग्रामम्, क्या तू गाँव जायगा? सत्यं भोक्ष्यसे, क्या भोजन करोगे? इस अर्थ में 'सत्यं प्रश्ने' ८।१।३२) सूत्र प्रमाण है।

कामम्

'माना कि' अर्थ में—कामं धीरस्वभावेयं स्त्रीस्वभावस्तु कातरः (स्व-प्न०), माना कि यह पद्मावती स्वभाव से धीर है, पर स्त्रियाँ स्वभाव से कातर होती हैं।

भले ही, गत्यन्तर के अभाव में—कामं तु पीडामपि काञ्चिदिच्छेन्न विग्रहं तत्प्रभवा हि दोषाः (का० नी० सा० ९।७४), कुछ कष्ट को भी भले ही चाहे, युद्ध की चाह न करे, युद्ध से (अनेक) हानियाँ होती हैं।

कामममरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हि चित्॥ (मनु० ९।८९)

भले ही ऋतुमती (रजस्वला) होने पर भी कन्या घर में (पितृगृह में) ठहरे पर उसे गुणहीन को कभी न दे।

निश्चय, अवधारण में—यादृशास्तन्तवः कामं तादृशो जायते पटः (कथास०)। संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः (रघु० २।४३), हे सिंह! मेरी चेष्टा रुकी हुई है, इस अवस्था में मैं जो कहना चाहता हूँ वह निश्चय हंसी के योग्य होगा। कामं न श्रेयसे कस्य संगमः पुण्यकर्मभिः (कथास०)। कामं व्यसनवृक्षस्य मूलं दुर्जनसंगतिः (कथास०)। कामम्= निश्चय ही।

'इच्छा के अनुसार' अर्थ में—कामंगामी।

सन्तोषपूर्वक, पूरी तरह से—सेकः शीकरिणा करेण विहितः कामम् (उ० रा० च० ३।१६), (हाथी ने) जल बूँदें टपकाते हुए अपने सूंड से सन्तोष पूर्वक (खूब) हथिनी को न्हलाया है।

कच्चित्

कामप्रवेदन, इष्टाख्यान में—कच्चित्कुशली तातः, कुशलिनी वाऽम्बा, क्या पिता जी स्वस्थ हैं और क्या माता जी स्वस्तिमती हैं ?

कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पङ्गून् व्यङ्गानबान्धवान् ।
पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि ॥(भा०सभा० २।५।१२५),

हे धर्मज्ञ ! क्या मैं यह आशा करूँ कि आप अन्धों...की पिता की तरह रक्षा करते हैं । व्यङ्गाः=गात्रभङ्ग को प्राप्त हुए । प्रव्रजिताः=संन्यासी लोग ।

आम्

स्वीकार अर्थ में—किमिदं करिष्यस्युत नेति । आं करिष्याम्यहम्, हाँ श्रीमन् मैं करूँगा ।

आः

कोप के द्योतन में—आः पापकारिणि, दुर्गृहीतविद्यालवावलेपदुर्विदग्धे, मामुपहससि (हर्ष० १) । लव=लेश । अवलेप=गर्व । दुर्विदग्ध=उत्सिक्त ।

ओम्

'स्वीकार' अर्थ में—ओमित्युच्यताममात्यः (मालविका), मन्त्री से कहिये, हमें स्वीकार है । यद्युच्यते द्योतका उपसर्गाः, तत्रोमिति ब्रूमः, यदि उपसर्ग धात्वन्तर्लीन अर्थों के द्योतक होते हैं, ऐसा कहते हो, तो हमें स्वीकार है ।

'प्रणव' अर्थ में—समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम्, ओङ्कार शब्द तेरी संक्षेप तथा विस्तार से स्तुति करता है ।

परमम्

'ओम्' अर्थ में—किं तत्रावात्सीः । परमम् । क्या तुम वहाँ रहे? जी हाँ ।

अपि तुष्यति ते पुत्रि ब्राह्मणः परिचर्यया ।
तं सा परमम् इत्येव प्रत्युवाच...... ॥ (भा० ३।१७०५६)

उपांशु

'एकान्त में'—परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् (रघु० ८।१८), रघु ने वृद्धावस्था को प्राप्त होकर एकान्त में धारणा का अभ्यास करने के लिये कुशा-पवित्र आसन को ग्रहण किया ।

'उपांशु' अनव्यय भी है—

जिह्वौष्ठौ चालयेत् किंचिद् देवतागतमानसः ।
निजश्रवणयोग्यः स्यादुपांशुः स जपः स्मृतः ॥

रहस्

एकान्त में—अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः (शाकुन्तल ५।२४)। रहस् अनव्यय भी है—स्वहस्तोल्लिखितः रहस्युपालप्स्यत चन्द्रशेखरः (कुमार० ५।५८)।

प्रातर्

प्रातः, सुबह अर्थ में—क्रमेण सुप्तामनु संविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूद-तिष्ठत्) रघु० २।२४)। प्रातराशः=सुबह का भोजन।

प्रगे

'सुबह' अर्थ में—सायं स्नायात् प्रगे तथा (मनु० ६।६), प्रातः तथा सायं स्नान करे। प्रगेतनानि मङ्गलानि। प्रातस्तनानीत्यर्थः।

दोषा

'रात के समय'—दोषा शिवः सहसः सूनो अग्ने (ऋ० ४।११।६), हे बल के पुत्र (बल के व्यापार से अरणियों द्वारा उत्पन्न होने से) अग्नि देव, तू रात के समय कल्याणकारी (हो)। दोषाऽपि नूनमहिमांशुरसौ किलेति (शिशु० ४।६), रात्रि के समय भी वह (इन्दु) सूर्य है ऐसा समझ कर। दोषामन्यमहः (भाष्य), दिन जो अपनेको रात मानता है, अर्थात् तमसाच्छन्न दिवस। 'दोषा' अनव्यय भी है—घर्मकालदिवस इव क्षपितदोषः (कादम्बरी)।

नक्तम्, दिवा

नक्तम् (रात के समय), दिवा (दिन में)—

नक्तं ददृशिरे कुहचिद् दिवेयुः (ऋ० १।२४।१०)। दिवा काकरवाद् भीता नक्तं तरति जाह्नवीम्।

उषा

उदिते भगवति भास्वति बलमो नो भविष्यतीत्युषा प्रास्थिष्महि, सूर्य के उदय होने पर हमें थकावट होगी, अतः हम प्रभात समय चल पड़े।

कुवित्

'बहुत' अर्थ में—कुवित्सोमस्यापामिति (ऋ० १०।११९।१)। मैंने बहुत सोम पीया है। 'कुवित्' का वेद में ही प्रयोग देखा गया है, लोक में नहीं।

बलवत्

बहुत, पूरी तरह से—बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः (शाकुन्तल), पूरी तरह से शिक्षा प्राप्त हुए विद्वानों का भी मन अपने विषय में अविश्वासी होता है।

सुष्ठु

अच्छा, शोभन—सुष्ठु खल्विदमुच्यते ।

अधिक, बहुत —सुष्ठु शोभसे आर्यपुत्र एतेन विनयमाहात्म्येन (उ० रा० च० १), हे पतिदेव, आप इस विनयविशेष से खूब शोभा पाते हैं ।

अतीव

बहुत अधिक—अतीव सुन्दरं रूपं कस्य नाम न हरेन्मानसम् ।

स्वयम्

आत्मना, अपने आप—इन्द्रोपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः, इन्द्र भी यदि अपने गुणों को आप कहे तो (लोक में) लाघव को प्राप्त हो ।

जोषम्

'चुप चाप' अर्थ में—भो राजन् किमिति जोषमास्यते, हे राजन् चुप क्यों बैठे हो ?

सुखपूर्वक—जोषमासीत वर्षासु, वरसात में सुखपूर्वक (एकस्थान में) बैठे ।

उपजोषम्, समुपजोषम्

अपनी इच्छा के अनुसार—गह्वरेषु गिरीणामुपह्वरे वा नदीनां समुपजोषं वसन्ति यतयः, पर्वतों की गुफाओं में नदियों के सान्निध्य में यति लोग स्वेच्छा से रहते हैं ।

सम्प्रति

'अब' अर्थ में—सम्प्रत्यवतीर्णा रजनीति नेतः प्रस्थेयं नः, अब रात उतर आई हैं, अतः हमें यहाँ से प्रस्थान नहीं करना है । अयि सम्प्रति देहि दर्शनम् (कुमार० ४।२८) ।

साम्प्रतम्

सम्प्रति अर्थ में—हन्त स्थानं क्रोधस्य साम्प्रतं देव्याः (वेणी० १) रानी के क्रोध का अवसर है ।

'युक्त' अर्थ में—साम्प्रतं कीदृशं संस्कृतं साम्प्रतम् इति विमर्शस्य नो विषयः, इस समय कैसी संस्कृत वाणी युक्त (समीचीन) है, यह हमारे विचार का विषय हैं । विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् (कुमार० ३), विषैले पौधे को भी पालन-पोषण करके स्वयं काटना युक्त नहीं ।

अद्य

'आज' अर्थ में—अद्य त्वां त्वरयति दारुणः कृतान्त, (मालती० ५।२५)। आज तुम्हें निर्दय अन्तक प्रेरित कर रहा है।

'आज कल' अर्थ में—नरो लोकेऽद्य दुर्बलः, आज कल लोग दुर्बल हैं। अस्मिन्नहन्यद्य। वर्तमानतामात्रेऽप्याहुः (क्षीरस्वामी)। अद्य=अद्यत्वे।

अद्यापि

'आज भी'—अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटम् (भर्तृ०)। गुरु खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु (वेणी० १।११)।

इदानीम्

'अब' अर्थ में—इदानीं किं करणीयम्, अब क्या करना चाहिए। इदानीं विरतं वर्षेणेति शक्यं स्वैरं विहर्तुम्, अब वृष्टि बन्द हो गई है, अतः स्वेच्छा से घूम सकते हैं।

इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जनजुषां
समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म मनुते। (भर्तृ०)

अब समर्थतर विवेकरूपी अञ्जन का सेवन करने वाले हम लोगों की दृष्टि समता को प्राप्त हुई त्रिलोकीमात्र को ब्रह्माभिन्न समझती है।

'वाक्यालङ्कार' में—क इदानीमुष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति (शाकुन्तल)। नवमालिका पर गरम पानी कौन छिड़कता है। यहाँ 'इदानीम्' का कुछ विशेष अर्थ नहीं, केवल वाक्यशोभा के लिये इसका उपादान किया है।

अधुना

'अब' अर्थ में—पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरिताम्(उ० रा० च०)।

द्राक्

'शीघ्र' अर्थ में—द्राग् विद्रुतं कातरैः, कायर एकदम भाग गये।

स्राक्

'जल्दी' अर्थ में—स्राक् सरन्त्यभिसारिकाः।

अरम्

'जल्दी' अर्थ में—अरं याति तुरङ्गमः।

झटिति

'झटपट' अर्थ में—झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञाः (नैषध), प्राज्ञ लोग दूसरे के अभिप्राय को झटपट जान लेते हैं।

युगपत्

'एक साथ', एक ही समय में—युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् (न्याय सूत्र १।१।१६) । ज्ञान की एकसाथ उत्पत्ति न होना मन का लक्षण है ।

'शीघ्र' अर्थ में—मङ्क्षूदपाति परितः पटलैरलीनाम् (शिशु० ५।३७), भौंरों के दल चारों ओर झटपट उड़ गये ।

सपदि

'सद्यः', एकदम,—(ते) सारुन्धतीकाः सपदि प्रादुरासन्पुरः प्रभोः (कुमार० ६।४), (वे सप्तर्षि) अरुन्धतीसहित एकदम प्रभु (भगवान् शिव) के सामने प्रकट हो गये ।

सद्यः

'एकदम' अर्थ में—नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव (मनु० ४।१७२) । गौः=पृथिवी । सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम् (रघु० ११।५०), पुण्यात्माओं का मनोरथ कल्पवृक्ष के फल के सदृश एकदम पक जाता है (पूर्ण हो जाता है) ।

सद्यः प्रक्षालको वा स्यात् (मनु० ६।१८), । यहाँ सद्यः=समानमहः= एकाहमात्रम् । (वानप्रस्थ को) एक दिनमात्र के लिये पर्याप्त नीवारादि का संचय करना चाहिये ।

उच्चैः

ऊँचे स्वर से—किमित्यश्राव्यमुच्चैर्वदसि । उच्चैर्विहसति=सशब्दं हसति ।

ऊँचा अर्थ में—पश्चादुच्चैर्भवति हरिणः, हिरन पीछे से ऊँचा उठता है । विपद्युच्चैः स्थेयम् (भर्तृ०), विपत्ति में ऊँचा सिर करके रहना चाहिये ।

अधिक अर्थ में—विदधति भयमुच्चैर्वीक्ष्यमाणा वनान्ताः (ऋतु० १।२२), बन के प्रदेश दृष्टिगोचर होते हुए बड़ा भय उत्पन्न करते हैं । आश्लेषमर्पय मदर्पितपूर्वमुच्चैः (अमरु० ९४), पहले मुझ से दिये हुए आलिङ्गन को प्रत्यर्पित करो । अविज्ञावज्ञेयं परितपति नोच्चैरपि बुधम्, मूर्खों से किया हुआ तिरस्कार बुद्धिमान् को बहुत दुःख नहीं देता । विपश्चिदेष दुःशीलो दुर्वृत्तश्चेत्युच्चैर्दुनोति नश्चेतः, यह विद्वान् दुष्ट स्वभाव वाला तथा दुष्ट व्यवहार वाला है, इससे हमारे चित्त को बहुत ठेस पहुँचती है ।

प्रसिद्धोऽहं त्वयैवोच्चैर्नाथ न प्रतिकर्मणा (रामचरित २४।१००), हे नाथ, आप से ही मैं खूब अलंकृत हूँ, प्रसाधन से नहीं।

नीचैः

निचले (धीमे) स्वर से—नीचैः शंस, हृदिस्थितो ननु स मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति (अमरु० ६७), धीरे से कहो, हृदय-स्थित वह मेरा प्राणनाथ सुन लेगा।

'नीचे की ओर' अर्थ में—

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥ (मेघ०)

किसे एकान्त (नियम से, लगातार परिवर्तनरहित) सुख प्राप्त होता है और किसे एकान्त दुःख। चक्र की परिधि की भाँति (प्राणियों की)दशा ऊपर नीचे होती रहती है।

मन्द गति से, धीरे-धीरे—नीचैर्वाति समीरणः।

नम्र, विनीत, झुका हुआ—प्रवेश्य चैनं पुरमग्रयायी नीचैस्तथोपाचरत् (रघु० ५।६२), भोज ने अज को आगे होकर पुर में प्रवेश करा नम्र होकर ऐसे सेवा की…। तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत (रघु० ३।३४), रघु (पिता से उन्नततर, प्रांशुतर होते हुए भी) विनय के कारण कद में छोटा मालूम पड़ता था।

शनैः शनकैः

'धीरे' अर्थ में—शनैर्याति पिपीलिका, च्योंटी धीरे चलती है। कुरु पदानि घनोरु शनैः शनैः, हे वरारोहे! धीरे-धीरे पग धरो।

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥ (मनु० ४।१७२)।

इस लोक में अधर्म किया हुआ निष्फल नहीं जाता, किन्तु धीरे-धीरे कर्ता की ओर लौटता हुआ उसकी जड़ों को काटता है।

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणानामदर्शनात्॥

अर्थ स्पष्ट है। (मनु० १०।४३) में 'ब्राह्मणादर्शनेन च' ऐसा पाठ सम्प्रति उपलब्ध होता है। महाभारत में 'ब्राह्मणानामदर्शनात्' ऐसा पाठ

मिलता है। यही बढ़िया पाठ है। क्षत्रियों के उपनयनादि-क्रियालोप का कारण उनके मध्य में ब्राह्मणों का असान्निध्य है।

शनैरिव शनकैरिवेन्द्रायेन्दो परिस्रव (ऋ० ८।९१।३), हे सोम, इन्द्र के लिये धीरे-धीरे बहो।

वृथा

अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् (रघु० २।३४), हे महीपाल, आप के श्रम से कुछ नहीं बनेगा, इधर (मुझ पर) छोड़ा हुआ भी तुम्हारा अस्त्र वृथा जायगा। दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः (कुमार० ५।४५)। वृथामांसम्, मांस जो केवल अपने लिये पकाया जाता है, पितरों अथवा देवताओं को नहीं दिया जाता।

मुधा

'वृथा' अर्थ में—अम्लानपङ्कजा माला कण्ठे रामस्य सीतया।
मुधा बुधा भ्रमन्त्यत्र प्रत्यक्षेपि क्रियापदे॥

यहाँ प्रत्यक्षेपि (कर्मणि लुङ्) यह गुप्त क्रियापद है। सीता ने प्रत्यग्र (अभिनवोद्भिन्न) कमलों की माला राम के गले डाल दी।

अद्धा

सत्य, ठीक-ठीक—को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् (ऋ० ३।५४।५)। कोऽद्धा वेद यच्छ्वो भविता, कौन ठीक-ठीक जानता है जो कल होगा?

एष ह वा अनद्धापुरुषो यो न देवानर्चति न पितॄन् न मनुष्यान् (श० ब्रा० ३।३।१।१४)। वह यथार्थ में पुरुष नहीं जो देवताओ, पितरों तथा मनुष्यों की पूजा नहीं करता।

मिथः

'परस्पर' अर्थ में—कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः। (मनु० २।१४७)। एष तैर्मिथः समयः कृतः, यह उन्हों ने आपस में समझौता किया।

रहसि, एकान्त में, गुप्त रूप से—भर्तुः प्रसादं प्रतिनन्द्य मूर्ध्ना
वक्तुं मिथः प्राक्रमतैवमेनम्
(कुमार० ३।२)।

भर्ता (स्वामी इन्द्र) के प्रसाद का सिर झुका कर अभिनन्दन करके कामदेव ने एकान्त में उसे इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया।

अवश्यम्

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषयाः (भर्तृ० ३।१२), ये इन्द्रियों के विषय रूप रस आदि चिर तक ठहर कर भी अवश्य जायेंगे।

साक्षात्

'प्रत्यक्ष' अर्थ में—साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् (५।२।९१)। आसीदियं दशरथस्य गृहे यथा श्रीः। श्रीरेव साक्षात् किमुपमानपदेन...(उ० रा० च० ४।३)। मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम् (शाकुन्तल १।६), मृग का पीछा करते हुए प्रत्यक्ष पिनाकधारी रुद्र को मानो देख रहा हूँ। साक्षाद् दृष्टोऽसि न पुनर्विद्मस्त्वां वयमञ्जसा (कुमार० ६।२२)।

सामि

'आधा' अर्थ में—सामि कृतमकल्याणकारि भवति, आधा किया हुआ कार्य कल्याण के लिये नहीं होता। अभिवीक्ष्य सामिकृतमण्डनं यतीः...स्त्रियः (शिशु० १३।३१), प्रसाधन (शरीरसंस्कार) को आधा करके जाती हुई स्त्रियों को देख कर।

आविस्

'प्रकट' अर्थ में—तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति (शाकुन्तल ५।१४), सूर्य के चमकते हुए अन्धेरा कैसे प्रकट होगा? तेषामाविरभूद् ब्रह्मा परिम्लानमुखश्रियाम् (कुमार० २।२), मुर्झाई हुई मुखश्री वाले उन देवताओं के सामने ब्रह्मा प्रकट हुए।

प्रादुस्

'प्रकट' अर्थ में—ज्यानिनादमथ गृह्णती तयोः प्रादुरास बहुलक्षपाच्छविः। (रघु० ११।१५), उन दोनों के धनुर्गुण के टंकार को सुनती हुई कृष्णपक्ष की रात्रि के सदृश वर्णवाली ताडका प्रकट हुई।

तिरस्

'टेढ़ा' अर्थ में—स तिर्यङ् यस्तिरोऽञ्चति (अमर)। तिरः कृत्वा शाखां निर्गतः, शाखा को एक ओर करके निकल गया। स्त्रियस्तिर इव वै पुंसो जिघत्सन्ति (श० ब्रा० १।९।२।१२)। तिरः=एक ओर से छिपकर।

अन्तर्धि, ओट अर्थ में—तिरोभूतः, तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यः (श०ब्रा० ३।३।४।६)। तिरः=छिपे हुए। एष वै पुरोहितो य एवं वेद। अथ स तिरोहितो य एवं न वेद (ऐ०ब्रा० ८।५।४)। तिरोहितः=पौरोहित्यादन्तर्हितः

(सायण)। तरुतिरस्कृतः=वृक्ष के पीछे छिपा हुआ। तिरस्करणी=पर्दा। तिरोभूते शशिनि, चाँद के छिप जाने पर।

साचि

'टेढ़ा', तिर्यक्—साचि लोचनयुगं नमयन्ती (किरा० ९।४४)। 'साचि' 'ऋजु' (सीधा) का प्रतियोगी है। साचि वक्रं यथा स्यात् तथा। सविनयमपराऽभिसृत्य साचि (किरात० १०।५७), दूसरी एक ओर से (सामने से नहीं) निकट आकर।

साचि-विलोकितम्=तिर्यग् वीक्षितम्=कटाक्ष।

परुत्, ऐषमः

१. 'गतवर्ष में' २. इस वर्ष में—परुद्भवान्पटुरासीद् ऐषमस्तु पटुतरः। पिछले वर्ष आप चतुर थे, इस वर्ष और अधिक चतुर हो गए हैं।

परारि

गत वर्ष से अव्यवहित-पूर्व वर्ष—परारि वयं काश्मीरानगाम तत्र च मासमस्थाम।

चिरम्

'चिर तक' अर्थ में—न चिरं पर्वते वसेत् (मनु० ४।६०)। ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वीं लघयिष्यता धुरम्।...नृपेण (रघु० ३।३५), तत्र महाराज दिलीप ने अपने से देर तक उठाये हुए प्रजापालन-रूप महान् भार को हल्का करने की इच्छा से।

चिरेण

चिरकाल के पीछे—वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः (कुमार० ५।२४), उदर-वलियों में अटकी हुई नव वर्षाजल की बूंदें देर से नाभि को प्राप्त हुईं। योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति (गीता ५।६)। नचिरेण=अचिरेण। यह 'न' शब्द का 'चिरेण' के साथ सुप्सुपा समास है, नञ्-तत्पुरुष नहीं।

चिराय

'चिर तक' अर्थ में—काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते, कौआ भी देर तक जीता है और बलि खाता है। चिराय निर्धनो भूत्वा भवत्यह्ना महाधनः, चिर तक दरिद्र रह कर एक दिन में धनी हो जाता है। प्रीताऽस्मि ते सौम्य

चिराय जीव (रघु० १४।५९), हे सोम्य ! मैं तुझसे प्रसन्न हूँ, तुम चिर तक जीओ ।

चिर काल के लिए—तेषु मे तात गन्तव्यमह्नाय च चिराय च (भा० अनु०), हे प्यारे वहाँ मुझे अभी जाना है और चिरकाल के लिए जाना है ।

चिरात्

चिर काल के पीछे—चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ (रघु० ३।२६), चिरकाल के पीछे महाराज दिलीप ने पुत्रस्पर्श के सुख को अनुभव किया ।

'चिर तक' अर्थ में—तदक्षयं महद् दुःखं नोत्सहे सहितुं चिरात् (रा० २।२०।४६), मैं उस अक्षय महान् दुःख को चिर तक नहीं सह सकती ।

चिरस्य

चिरकाल के पीछे—समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः (शाकुन्तल ५।१५), तुल्यगुणों वाले वधू और वर का जोड़ा बनाने से (आज) चिर के पीछे प्रजापति निन्दा को प्राप्त नहीं हुआ है । दिष्ट्या चिरस्य प्रत्युज्जीवितास्मि (मालती० अंक १०) ।

'चिरकाल तक' अर्थ में—

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं
सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकव्रतफलम् ।
मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरस्यापि विमृशन्
न जाने कस्यैषा परिणतिरुदारस्य तपसः ।। (भर्तृ०३।८२)

स्वेच्छापूर्वक विहार, दीनतारहित भोजन, सज्जनों की संगति, शास्त्र-श्रवण जिसका उपशम (मनः शान्ति) एक=मुख्य व्रत फल है, बाह्य विषयों में लगभग निश्चेष्ट मन—चिर तक चिन्तन करता हुआ भी मैं नहीं जानता यह सब किस बड़ी तपश्चर्या का फल है ।

चिररात्राय

'चिरकाल के लिए'—प्रयाते तु महारण्यं चिररात्राय राघवे (रा० २।४०।१८) । महाभारत ३।१०५६८ में भी 'चिररात्राय' प्रयुक्त हुआ है ।

हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्पते ।
पितृभ्यो विधिवद् दत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ।। (मनु० ३।२६६)

जो पितरों को विधिवत् दिया हुआ हव्य चिरकाल तक तृप्ति के लिए तथा अनन्ततृप्ति के लिए होता है, उसे मैं पूर्णरूप से कहूँगा ।

येन

'जिस कारण' अर्थ में—वितर गिरमुदारां येन मूकाः पिकाः स्युः, ऐसी वाणी बोलो जिससे कोयलें चुप हो जायें।

तेन

'इस कारण'—अपराद्धोऽहमत्रभवत्सु, न च मर्षितः, तेन तप्ये नितान्तम्।

यस्मात्

जिस कारण—अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति।
······प्रजेति त्वां शशाप सा॥ (रघु० १।७७)

क्योंकि तूने मेरी अवज्ञा (अवहेलना) की है, अतः तेरे सन्तान नहीं होगी ऐसा उसने (कामधेनु ने) तुझे शाप दिया।

तस्मात्

'इसलिए' अर्थ में—अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥
(गीता २।१८)

इस नित्य अविनाशी अपरिच्छिन्न आत्मा के देह (ही) विनाशी हैं, अतः हे भारत युद्ध करो। तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति (बृहदा० उ० ४।४।२३), इसलिए ऐसा जानने वाला शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा समाधान को प्राप्त कर आत्मा में ही आत्मा को देखता है, सबको आत्मरूप में देखता है।

कस्मात्

'किस कारण'—अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेन्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया (शाकुन्तल ६।१३), अचेतन (अङ्गुलीयक) गुण की पहचान न कर सके, यह हो सकता है, (पर) मैंने क्योंकर प्रिया का निराकरण किया।

अकस्मात्

'बिना कारण' अर्थ में—न ह्यकस्मात्स एव शब्दः पुनरभ्यस्यते (य इषवान् मन्म रेजति रक्षोहा मन्म रेजति ऋ० १।१२९।६ पर दुर्गभाष्य)। धर्म्यं हरेत्पाण्डवानामकस्मात् (भा० उद्योग० २९।३२), जो धर्म से पाण्डवों का भाग है उसे बिना कारण छीने। नाकस्माच्छ्मश्रुलः स्यात् (ब्रह्मचारी) बिना कारण (रोगादि के न होने पर) श्मश्रु (दाढ़ी मूंछ) न रखे।

अचानक, एकदम—विजने वने गच्छतस्तस्याभिमुखेऽकस्माद् व्यात्ताननः पञ्चास्य उपस्थितः। पञ्चास्यः=सिंहः। अकस्माद् भवः=आकस्मिक आस्कन्दः (आक्रमः)।

समन्तात्

चारों ओर—दुर्गं समन्तात्परिखया परिगतम्, किला चारों ओर खाई से घिरा हुआ है।

सहसा

अचानक, बिना सोचे समझे—सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् (किरात० २।३०), एकदम बिना सोचे समझे कार्य न करे, कारण कि अविवेक आपत्तियों का परम स्थान है। मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भिर्भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान् (रघु० १३।११), एकदम ऊपर निकलते हुए मातङ्गाकार ग्राहों से दो भागों में विभक्त समुद्र के फेन को देखो।

अकाण्डे

'अचानक' अर्थ में—दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा (शाकुन्तल २।१२), कुछ कदम चलकर वह सुन्दरी कुशाग्र से पाओं छिल गया है इसका बहाना कर अचानक ठहर गई।

अद्य सायमकाण्डेऽम्बुदैः स्थगितमम्बरमभूत्, आज सायं आकाश अचानक बादलों से घिर गया।

अञ्जसा

'शीघ्र' अर्थ में—स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् (मनु० २।२४), वह ब्राह्मण तुरन्त ही ब्रह्म के नित्य धाम को प्राप्त हो जाता है। यज्वाऽञ्जसा जयति ब्रह्मलोकम्। वेद में 'अञ्जस्' का भी इसी अर्थ में प्रयोग मिलता है—अञ्जः समुद्रमवजग्मुरापः (ऋ० १।३२।२)।

यथार्थ रूप से—साक्षाद् दृष्टोसि न पुनर्विद्मस्त्वां वयमञ्जसा (कुमार० ६।२२)।

दिष्ट्या

'आनन्द' अर्थ में—दिष्ट्या प्रतिहतममङ्गलम् (मालती० ४), हर्ष की बात है कि अनिष्ट टल गया। दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान् वर्धते (शाकुन्तल ७)। दिष्ट्या सोऽयं महाबाहुरञ्जनानन्दवर्धनः (उ० रा० च० १।३२)।

तां तु दिष्ट्या च धृत्या च दाक्षिण्येन निपात्य सः (रा० ५।१।१७६), यहाँ 'दिष्ट्या' दिष्टि का तृतीयान्त रूप है, सुबन्तप्रतिरूपक अव्यय नहीं, कारण कि कोषकार आनन्द अर्थ में 'दिष्ट्या' को अव्यय मानते हैं। प्रकृत में दिष्ट्या =दैवानुग्रहेण। दाक्षिण्येन=चातुर्येण, कौशलेन।

'आनन्द' अर्थ में दिष्ट्या का प्रयोग वाक्य के आदि में ही होता है।

स्थाने

'युक्त' अर्थ में—स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च (गीता ११।३५), हे हृषीकेश (इन्द्रियों के स्वामिन्) यह युक्त ही है कि तेरे (नाम और प्रभाव के) कीर्तन से जगत् हर्ष तथा अनुराग को प्राप्त होता है। स्थाने सा देवीशब्देनोपचर्यते (मालविका)। उपचर्यते=सत्क्रियते।

एकपदे

अचानक, एकदम—निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव (शिशु० २।९५), जो चेदिभूपाल शत्रुओं को एकदम ऐसे विध्वस्त कर देता है जैसे एकपद (सुप्तिङन्त-लक्षण) में उदात्त (शेष) स्वरों का निघात कर देता है। कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे (रघु० ८।४८), इस निरपराध व्यक्ति को अचानक ही क्योंकर सम्बोधन के योग्य नहीं मानते हो।

अस्तु

'पीडा' अर्थ में—अस्तु नाम विधुरेण वेधसा साधुरप्यलमुपाधिभिर्ध्रुवम्।
बाध्यते किमधिकैरथाधिभिर्दैवमेव शरणं विधीयताम्॥

दुःख का विषय है प्रतिकूल दैव सज्जन को भी नाना छलों से अत्यन्त बाधा (पीड़ा) देता है, अतः अधिक मानस दुःख से क्या? दैव की शरण में जाना चाहिए।

'निषेध' अर्थ में—अस्तु सामप्रयोगः, शान्त्युपाय के प्रयोग से कुछ नहीं होगा। अस्तु=अलम्।

असूया (क्रोध)—अस्तु ज्ञास्यति कालेन सोऽल्पेनैव न भूयसा।

अस्मि

'अहम्' के अर्थ में—नृमांसमस्मि विक्रीणे गृह्यतामित्युवाच सः (कथा-स० २५।१८)। मैं नरमांस बेच रहा हूँ, लीजिए उसने ऐसा कहा।

दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां पादप्रहार इति सुन्दरि नास्मि दूये,

हे सुन्दरी ! अपराधी दास पर प्रभु पैर की ठोकर मारें यह उचित ही है, अतः मुझे दुःख नहीं।

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति (साहित्यदर्पण)।

अन्यत्र यूयं पुष्पावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः (काव्यप्रकाश), हे सखियो, आप अन्यत्र फूल चुनो, मैं यहाँ चुनता हूँ।

अहम् का सुबन्तप्रतिरूपक अव्यय के रूप में **अहंयु** (अभिमानी), **अहंकार**, **अहमहमिका** (परस्पर अहंकार), **अहंपूर्विका** (मैं पहले मैं पहले) आदि शब्दों में प्रयोग देखा जाता है। **अहमहमिका तु सा स्यात्परस्परं यो भवत्यहंकारः** (अमर)।

आशु, शीघ्र, क्षिप्र, सत्वर, प्रसभ, प्रसव्य, अपसव्य, प्रतीप, अपष्ठु (मिथ्या, अन्याय्य)—ये अव्यय नहीं हैं (**दृष्टव्यया एत आश्वादयः**)। **आशुरयमश्वः। शीघ्रोऽयं तुरङ्गः।** क्रियाविशेषण के रूप में इनका नपुंसक एकवचन में प्रयोग होता है। 'बलात्कार' में 'बलात्' निपात है ऐसा क्षीरस्वामी का मत है।

'मनाक्प्रिय' (अपेक्षाकृत कुछ अच्छा) अर्थ में 'वर' शब्द भी नियम से नपुंसक एकवचन में प्रयुक्त होता है—**याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा** (मेघ०)। **समुन्नयन्भूतिमनार्यसंगमाद् वरं विरोधोपि समं महात्मभिः** (किरात०), दुर्जन की संगति से महात्माओं के साथ विरोध कुछ अच्छा है, यदि इससे अपनी उन्नति होती हो।

निःश्वासोद्गीर्णहुतभुग्धूमधूम्रीकृताननैः।
वरमाशीविषैः सङ्गं कुर्यान्न त्वेव दुर्जनैः॥ (का० नी० सा० ३।१८)

भले ही सांस द्वारा उगली हुई आग के धूएँ से धूसरे हुए मुँह वाले विषैले साँपों के संग में रहे, दुर्जनों के संग में कभी नहीं।

शम्

कल्याण अर्थ में—**शन्नो भवत्वर्यमा। शम् भावयतीति शम्भुः।** इति शम्॥

इत्यव्ययार्थनिरूपणमपवृक्तम्।

इति श्रीचारुदेवशास्त्रिणः कृतिषु व्याकरणचन्द्रोदये
स्त्रीप्रत्यय-सुबन्ताव्यय-निरूपणश्चतुर्थः खण्डः पूर्तिमगात्।
शुभं भूयादध्यायकानामध्यापकानां च।

एतत्खण्डोपात्तसूत्रवार्तिकादीनां सूची

एतत्खण्डोपात्ताव्ययानां सूची

अशुद्धशोधन

शुद्ध	अशुद्ध
पृ० ८१, पं० ४—इकोऽचि विभक्तौ	इकोऽचि नुम् विभक्तौ
,, ११२, पं० ७—आगम होता है सर्वनाम-स्थान विभक्ति परे होने पर जब	आगम होता है जब
,, १३५, पं० २५—न पदान्तद्विर्वचनवरे-यलोप-दीर्घ	न पदान्तवरेयलोप-दीर्घ
,, १५५, पं० ७—आदेशप्रत्यययोः(८।३।५९)	शासिवसिघसीनां च (८।३।६०)

परिबृंहण

पृ० १०२ 'पुनर्भू' का व्युत्पत्त्यर्थ ऐसे पढ़ें—अन्यस्य भूत्वाऽन्यस्य पुनर् भवति।
पृ० १३८ 'स्वस्ति' (अव्यय) का क्रियाविशेषण के रूप में यह—'सो अस्नातॄन-पारयत् स्वस्ति' (ऋ० २।१५।५) वैदिक उदाहरण अधिक पढ़िये।
पृ० १५५, पं० ११ के अन्त में—

अर्चिष् (ज्वाला, किरण, स्त्री०)। अर्चिष् नपुं० भी है।

प्र०	अर्चिः	अर्चिषौ	अर्चिषः
द्वि०	अर्चिषम्	,,	,,
तृ०	अर्चिषा	अर्चिर्भ्याम्	अर्चिर्भिः इत्यादि।

अर्चिष् आदि में औणादिक प्रत्यय 'इस्' है। इण् (इ) से परे इस प्रत्यय के 'स्' को ष् हो जाता है। पर सान्तमहतः (६।४।१०) के लिए यह षत्व असिद्ध है, अतः नुम् आने पर सान्त संयोग होने से सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर उपधा-दीर्घ होता है (अर्चींषि)। षत्व के असिद्ध होने से ही रुत्व होता है। सु, भ्याम् आदि परे होने पर रेफान्त धातुरूप पद न होने से (१२०) से उपधा इक् को दीर्घ नहीं होता। आशिस् में इस् (इर्) के धात्ववयव होने से निर्बाध होता है।

व्याकरणचन्द्रोदय

पं० चारुदेव शास्त्री

व्याकरणचन्द्रोदय के अब तक चार खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथमखण्ड कारक-निरूपणात्मक है। द्वितीय कृत्तद्धित-विषयक है। तृतीय तिङ-व्याख्यान-परक है और चतुर्थ स्त्रीप्रत्यय-सुप्-अव्ययार्थ-निदर्शक है। प्रक्रिया-ग्रंथ होते हुए भी यह कृति व्याक्रियाप्रधान है। लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्—यह सर्वसम्मत व्याकरण का स्वरूप माना जाता है। तो भी पूर्व विद्यमान व्याकृतिग्रंथों में लक्ष्य का अत्यल्प उपादान है। पुरानी शैली से लिखे गये वृत्ति आदि ग्रंथों में एक-दो लक्ष्यों में लक्षण (सूत्र) की प्रवृत्ति को दिखाने से वृत्तिकारादि अपने को कृतार्थ मानते हैं। नूतन रीति से लिखे गये व्याकरणग्रंथों में प्रयोगों के उदाहरण देने का प्रयत्न तो है, पर वे उदाहरण या तो स्वयं-घटित होते हैं, या भट्टिकाव्यादि से उठाये जाते हैं, जहाँ व्याकरण सिखाने के लिये वे घड़े गये हैं और जिनमें अनेकानेक ऐसे हैं जो साहित्य में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुए, अतः अव्यवहार्य हैं। इस वर्ग के विद्वान् भूल जाते हैं कि व्याकरण अन्वाख्यान-स्मृति है—व्याक्रियन्ते पदानीह क्रियन्ते नूतनानि न।

इस कृति का वाग्व्यवहार सिखाना प्रधान लक्ष्य है। प्रक्रिया इस साध्य में साधनमात्र है। व्यवहार उपकार्य है, प्रक्रिया उपकारक। अतः इस कृति में जहाँ सूत्रादि की विशद व्याख्या की गई है, सूत्रादि की प्रवृत्ति द्वारा सरल, शङ्कासमाधान सहित, क्रम-बद्ध रूपसिद्धि दी गई है, वहां वैदिक-लौकिक उभय-विध वाङ्मय से शतशः वाक्य उद्धृत किये हैं जो व्याकरण-व्युत्पादित उस-उस लक्ष्य को प्रयोगावतीर्ण दिखाते हुए उसकी साधुता को यथेष्ट रूप से प्रमाणित करते हैं और व्यवहार सिखाने में अत्यन्तोपकारक हैं।

स्थान-स्थान पर अपेक्षित नूतनार्थोपन्यास, पूर्वमतसमीक्षा, संक्षिप्त वैयाकरणोक्तिविशदीकरण, यथासंभव अष्टाध्यायीगतसूत्रक्रमाश्रयण, आदि असामान्य धर्म इस कृति को अन्य कृतियों से पृथक् करते हैं और इसकी मौलिकता की ओर संकेत करते हैं।

इस कृति का पांचवां खण्ड इस वर्ष (१९७२) प्रकाशित हो जाएगा।

प्रथम खण्ड (कारक व समास)	(Ed. 1969)	8.00
द्वितीय खण्ड (कृत् व तद्धित)	(Ed. 1970)	22.50
तृतीय खण्ड (क्रिया)	(Ed. 1971)	40.00
चतुर्थ खण्ड (स्त्री प्रत्यय-सुप्-अव्ययार्थ–निदर्शक)	(Ed. 1972)	20.00
पंचम खण्ड (संज्ञा–परिभाषा–सन्धि–लिङ्गानुशासन–विषयक)		प्रेस में

आकार : डिमाई :: पृष्ठ २,००० लगभग :: कपड़े की जिल्द सहित

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: पटना :: वाराणसी